BHANDARKAR ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE Post-graduate and Research Department Series No. 1.

NITIKALPATARU

ascribed to

VYÄSADÄSA KSEMENDRA

02917.

Critically edited for the first time

BY

V. P. Mahajan, M.A., Ph.D.

Bhandarkar Oriental Research Institute

POONA

1956

वरिक्रम्स नंब्या 02917ही भान्तराक्षत ग्रंभालय तिब्बती संस्थान मारनाष

Price Rs. 5 20.00

Printed and published by Dr. R. N. Dandekar, M.A., Ph. D., at the

Bhandarkar Institute Press, Bhandarkar Oriental

Research Institute, Poona 4.

FOREWORD

The Post-graduate and Research Department of the Bhandarkar Oriental Research Institute was started in 1927 with a view to preparing candidates for post-graduate degrees in Sanskrit and Ancient Indian Culture of the Bombay University and training young scholars in scientific methods of research. When, in 1948, the University of Poona came into existence, this Department of the Institute was completely reorganised and a full-time Director and some additional staff was appointed. Soon the University recognised the Department as one of its Constituent Post-graduate Institutions. Since then the members of the staff of the Department have been actively participating in the work of post-graduate instruction and guidance in Sanskrit and Ancient Indian Culture organised by the University.

Apart from this normal work, the Department has undertaken various other academic projects in the field of Sanskrit research, such as, collection of manuscripts, critical editions of unpublished Sanskrit and Prakrit texts, new editions of texts which have become unavailable, and preparation of original monographs on Indological subjects. As this work began to show some progress, the authorities of the Institute thought it fit to start a new series of publications called the 'Bhandarkar Oriental Research Institute Post-graduate and Research Department Series', in which mainly the works written and edited by teachers and students in the Department were to be published. Accordingly, this edition of the Nitikalpataru prepared by Dr. V. P. Mahajan is now being issued as the first Volume in that Series.

From 1952 to 1954, Dr. Mahajan worked in the Post-graduate and Research Department for his Doctorate on "Ksemendra: Author-Study". In the course of his work, he came across

certain works which were traditionally ascribed to Kşemendra but which were not published. One such work of particular interest was the Nitikalpataru, a treatise on polity, governmental administration, and worldly wisdom. Fortunately, the only known manuscript of this work was available in the Government Manuscripts Collection deposited at the Bhandarkar Oriental Research Institute. So Dr. Mahajan's teacher and guide, Prof. R. D. Karmarkar, advised him to undertake to edit that work critically. In view of the fact that he had to rely on a single manuscript, Dr. Mahajan's task was by no means an easy one. It was also his first excursion in the field of critical editing of Sanskrit texts. Inspite of all this Dr. Mahajan worked on his job industriously and may be said to have accomplished it fairly satisfactorily.

Several other works, big and small, are at present under active preparation in the Post-graduate and Research Department of the Institute and it is hoped that the next Volume in this Series will be issued before long.

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4 15th August, 1956

R. N. Dandekar

PREFACE

The present edition of the Nitikalpataru ascribed to Vyāsadāsa Kṣemendra has been prepared from a single manuscript, which was available in the Bhandarkar O. R. Institute. This being so, in many places, the readings given by me had to be conjectural. However, I have tried to keep myself as faithful to the original as possible. I am grateful to the authorities of the B. O. R. I. for having agreed to publish this edition of the Nītikalpataru as the first Volume in their newly started Post-graduate and Research Department Series.

A pleasant task of thanks-giving has to be done. At the outset I must express my sincerest thanks to my Revered Guru, Prin. R. D. Karmarkar, Director, Post-graduate and Research Department, B. O. R. I., but for whose encouragement and help I would not have been able to undertake and finish this work. I have also to thank Dr. R. N. Dandekar, Hon. Secretary, and Dr. P. K. Gode, Curator, of the B. O. R. I., for the help they rendered to me. I am also conscious of the help given by my friends in the Institute and I thank them all. I also thank the authorities of the University of Poona for the grant which they have sanctioned for the publication of this work.

I now offer this work to scholars with the following words:

गच्छतः स्वलनं कापि मवत्येव प्रमादतः । ममेवा प्रणतिस्तरमात् क्षन्तन्योऽयं जनो बुधैः॥

B. O. R. I. Poona 4 10th August, 1956

V. P. Mahajan

नीतिकल्पतरुः।

| (i) | Foreward | |
|---------|--|------------|
| (ii) | Preface | |
| (iii) | Introduction | i- xix |
| (1) | नीतिमाहात्म्यवर्णनं कुसमम् | 1 |
| (2) | अहप्रबलव स्वकथनम् | 7 |
| (3) | दैवबलेऽपि नीत्यपरित्यागाभिधानम् | 8 |
| (4) | नीतिस्वस्हपकथनम् | 10 |
| (5) | नीतिगोपनाभिधम् | 15 |
| (6) | समेत्यकारणाभिवस् | 16 |
| (7) | म कराख्यानस | 18 |
| (8) | संभ्रतविचारपालाामेधम् | 31 |
| (9) | स्या ब हारिकपण्डितसाक्षाल्लक्षणामिध म् | 23 |
| (9A) | संकीर्णयणकथने आर्थिकपणि र तलक्षणम् | 25 |
| (10) | सर्वार्थपरिज्ञाने भयनिस्तपणाभिधम् | 46 |
| (II) | षस्यज्ञयोः पज्ञैव रसीयसीति कथनम् | 47 |
| (12) | प्रज्ञापराक्रमयोः प्रज्ञाबलाभिधम् | 48 |
| (13) | दुष्ट संगतित्यागकथनम् | 49 |
| (14) | क्षुद्रपरिवारराजपरिवर्जनाभिधम् | 5 r |
| (15) | अस्पशक्तिना परोपदेशों न हेय इति कथानम् | 52 |
| (16) | प्रखों पदेशोऽनर्थकदिति वर्णनम् | 53 |
| (17) | दुष्टबुद्धिसुबुद्धिफलकथनम् | 53 |
| (18) | स्वयमञ् काबन्याश्रयकथनम् | 54 |
| (19) | इन्दि विलासाभिध म् | 5 5 |
| (20) | राजचरित्रे बुद्धिवर्णनम् | 56 |
| (21) | राजबुद्धिसूक्ष्मताकथनम् | 58 |
| (22) | राजनुद्धिनलकथनम् | 61 |
| (23) | राजधैर्यकथनम् | 62 |
| (24) | जीरक्षाप्रकारकथनम् | 64 |
| | स्रीदुर्श्वारत्रकथनम् | 66 |
| (26) | | 70 |
| (27) | महाचारपालनास्यम | 71 |

| (28) धूर्तचरित्रं नाम | 72 |
|--|-----|
| (29) मित्रविशेषनाम | 76 |
| (३०) बुद्धिपरीक्षाभिधम् | 78 |
| (३ ।) स्वामिभृत्यानुकुल्यप्राज्ञधीकथनम् | 82 |
| (32) न्यायधीपरीक्षामिधानम् | 88 |
| (33) स्क्ष्मधीवर्णनाभिधम् | 90 |
| (34) सत्यपतिज्ञाफलकथनम् | 93 |
| (३९) मन्त्रिनैपुण्यकथनाभिधानम् | 96 |
| (35A) प्रजासर्गराजसर्गकथनाभिधम् | 98 |
| (36) अस्थानोपदेशकथनाभिधम् | 102 |
| (37) धर्मविचाराभिधम् | 107 |
| (38) विधिवक्रतायां ग्रणार्जनवेफल्पकथनम् | 112 |
| (39) सूक्ष्मधर्मविचारणाख्यम् | 115 |
| (40) साक्षाम्म्र्वंकुद्धमम् | 122 |
| (41) आर्थिकमुर्त्तलक्षणाभिधम् | 124 |
| (42) अगुरुदाहकास्यमूर्खकथनाभिधम् | 126 |
| (43) तिलका। पैकाल्यमूर्वकृष्ठमम् | 126 |
| (44) नासारोपकास्व्यमूर्वकुसमम् | 127 |
| (45) त्रालिकास्यम्स्योभिधम् | 127 |
| (46) मन्त्रिम्खाभिधानम् | 128 |
| (47) लवणाशिम्रसाभिधम् | 128 |
| (48) गोदोहिमुर्खाभिधम् | 129 |
| (49) ग्राम्यमुर्काभिधम् | 129 |
| (50) धनमूर्वाभिधम् | 130 |
| (51) अर्थमृख्िभधम् | 130 |
| (52) दायभागिनासमूर्खाभिधम् | 132 |
| 53) व्याचातिस्रकाभिधस् | |
| (54) धनलोभसूर्वाभिधम् | 132 |
| . 55) साहसिस्रकोभिषम् | 133 |
| 56) राजसूर्याभिधम् | 133 |
| 57) धनसर्वामिधम | 134 |
| 58) द्यलंजन्मसाफल्याभिषम् | 135 |
| 59) बढ्पशुकथनाभिधम् | 135 |
| The state of the s | 126 |

| | नीतिकल्पतरुः । | ş |
|--------------------|---|-------------|
| (60) | संख्याविश्वमराजमूर्खाभिधम् | 136 |
| (6r) | स्वयञ्चकसूर्वाभिधम् | 137 |
| (62 ⁻) | उच्छिष्टक्षन्मूर्खाभिधम् | 138 |
| (63) | विलासिम्रस्वाभिधम् | 139 |
| (64) | हृदयस्कोटिमुखांभिषम् | 139 |
| (65) | मूर्ख है। खराभिधम् | 140 |
| (66) | क् दर्यस् रकाभिधम् | 140 |
| (67) | जलरोधकमुर्खाभिधम् | 142 |
| (68) | सामिकारिम्र्यामिधम् | r 4 4 |
| (69) | असंतोषिमुर्खाभिधम् | 144 |
| (70) | अपूर्वाभिधम् | 145 |
| (71) | पतियन्त्ररक्षकमूर्खाभिधम् | 146 |
| (72) | चक्राह्मसूर्वाभिधम् | 146 |
| (73) | पणपूर्वछन्मूर्खाभिधम् | 147 |
| (74) | कीनाजम्बर्गाभिधम् | 147 |
| (75) | अन्योन्यदेषिमुर्खाभिधम् | 148 |
| (76) | अविशेषज्ञमूर्खाभिधम् | 149 |
| (77) | तण्डुलभक्षकमूर्वाभिधम् | 150 |
| (78) | केवलोचिमिमुर्खाभिधम् | 150 |
| (79) | केवलतर्किमुखाभिधम् | 151 |
| (80) | साहसिकम्खाभिधम | 152 |
| (18) | स्यस्वीयपातककारिम्रजाभिधम् | 153 |
| (82) | सुजनतानिस्दपर्णाभधम् | 154 |
| (83) | सच्छाखोदेशाभिषम् | 1 56 |
| (84) | धुर्तवर्जन।भिधम् | 158 |
| (85) | सच्छास्त्रार्थवर्णनाभिषो जीवब्रह्मेक्यवर्णनाभिषक्र्य खच्छकः | 161 |
| (86) | प्रासिङ्गककथनाभिधम | 166 |
| (87) | एकादिदशपर्यन्तज्ञानं नाम कुछमम | 168 |
| (88) | एक:दिसप्तकान्तज्ञानाभिधम् | 173 |
| (89) | धीमाहात्म्यकथनाभिधम् | 174 |
| (90) | राजलक्षणाभिषम् | 174 |
| (91) | मन्त्रिलक्षणस् | 177 |
| (92) | परोटिन लक्ष्याचित्रम | 178 |

| (93) दैवज्ञलक्षणम् | 178 |
|---|-----------------------|
| (94) राज्ञीलक्षणम् | 179 |
| (95) नारीरागविरागकथनम | 179 |
| (96) महाराजलक्षणाभिधम् | 181 |
| (97) राज्ञीलक्षणाभिषम् | 183 |
| (97A) हस्तिलक्षणशाखा | 183 |
| (98) अश्वस्रभणशासा | 188 |
| (99) छत्रलक्षणम् | 197 |
| (100) चामरलक्षणम् | 198 |
| (101) आसनलक्षणाभिधम् | 199 |
| (102) वस्त्रासनलक्षणम् | 200 |
| (103) शरलक्षणम् | 200 |
| (104) धनुर्रुक्षणम् | 201 |
| (105) हीरमणिनिरूपणास्यम् | 202 |
| (106) मौक्तिकलक्षणशासा | 205 |
| (107) मरकतल्रक्षणाभिषम् | 208 |
| (108) पद्मरागास्यक्षोणमणिलक्षणमूल्यकथनाभिधम् | 218 |
| (109) खड्गलक्षणम् | 210 |
| (110) सेनानीलक्षणम् | 212 |
| (।।।) पुंस्रीलक्षणशासायां दैवपौरुषकालानुस्पृतताभिधःस्तबकः | 212 |
| (112) सामुद्रिकशासायां पुरुषलक्षणशास्त्रा | 215 |
| (I) सामध्ये (2) रोम (3) छलाट (4) जिसे (5) भू (| - |
| (7) ओष्ट (8) कर्ण (9) नासा (10) श्रीवा (11) आस्य (1 | 2) 2027 |
| (13) दन्त (14) स्वर (15) स्कन्ध (16) अंस (17) कपोल (18 | -) दिस्सा ो विकास |
| (19) तालु (20) स्तन (21) वक्षस् (22) कुक्षि (23) पृष्ठ (24 |) arrûr |
| (25) कटि (26) हस्ताधिकार (27) लिङ्ग (28) शुक्र (29) |) गाम जन्म |
| (30) गांत and (31) पाद | जस्या |
| (2) स्रालक्षणज्ञासा | |
| (ा)पाद (2) जङ्घा (3) जानु (4) ऊक (5) कांट (6) |) नित्रक |
| (7) स्पिन् (8) भग (9) जघन (10) बस्ति (11) गन्ध (12 |) ராகர் |
| (13) हृदय (14) स्तन (15) जञ्च (16) स्कन्ध (17) कश्या (18 | R) ==== |
| पृष्ठनेस्त (19) ब्रावा (20) चिंचुक (21) कपोल (22) आस्य (23 |) अध्य |
| (24) दन्त (25) जिह्वा (26) तालु (27) स्मिन (28) नामा (29) |) जोजन |
| (30) ¥(31) ਲਗਾਣ (32) केंज (33) क्वा and (24) | ्षाचान |

| (3) | छ लक्षण पोर्ड शकम् | |
|-------|----------------------------------|--------------------------|
| (4) | कुलक्ष णपोड शकम् | |
| | – नारीरञ्जनविधाः | |
| ` , , | अथ बाल्यादिलक्षणम् | |
| • • • | पश्चिन्यावि <u>वर्ण</u> नम् | |
| | | , |
| | सोभाग्य कुछमम् | 247 |
| (113) | सहायसंपत्तिनिरूपणाभिधम् | 248 |
| (114) | यामिकलक्षणम् | 251 |
| (115) | द्वा ःस्थ लक्षणम | 252 |
| (116) | दूतसन्धिकारफलक्षणम् | 252 |
| (117) | चरकथनाभिधम् | 252 |
| (118) | पुरम् क्षकथनाभिषम् | 253 |
| (119) | करिपालकथनाभिधम् | 253 |
| (120) | अञ्चेपालकथनाख्यम् | 254 |
| (121) | सार्थिकुछ्मम् | 254 |
| (122) | धर्माधिकारिकुद्धमम् | 254 |
| (123) | व्ययाधिकारिक्वसम् | 255 |
| (124) | दुर्गाधिकारिकुसमम् | 255 |
| (125) | भनाधिकारि ,, | 255 |
| (126) | स्वक्रियापीरोगवलक्षणाभिषम् | 255 |
| (127) | अस्त्राचार्येकुम्रमम् | 256 |
| (128) | स्थपतिलक्षणम् | 257 |
| (129) | लेखकलक्षणम् | ² 57 |
| (130) | सम्यक्तसम् | 257 |
| (131) | वेचसद्गचारिलक्षणास्यं कुम्रमम् | 258 |
| (132) | शुक्रान्ताधिकारिकुसमम् | 2 59 _, |
| (133) | प्रसादलक्षणाभिषं कुद्यमम् | 259 |
| (134) | ब्याधकु समम् | 263 |
| (135) | श्वरबरुक्षणामिषम् | 263 |
| (136) | कर्मोचितपुरुषकथनाख्यम् | 266 |
| (137) | परम्परागतभृत्यनिरूपणास्यम् | 266 |
| (138) | अनसंग्रहणम् | 267 |
| | Notes. | 268 |
| | Important words. | 284 |
| | Abbreviations. | 284 |
| | Suggested Readings. | 285 |
| | Errata | 289 |
| | rii aid | |

INTRODUCTION

Ksemendra's Life and Date

Vyāsadāsa Kṣemendra, the son of Prakāśendra, to whom the work Nītikalpataru is traditionally attributed, flourished in the eleventh century A.D. We are fortunate enough to determine the period of his activity from his own writings. Kṣemendra has added informative stanzas to many of his works in which he has stated the date of the composition of the work, the name of the then ruling prince, his motive in composing that work, and some other information relating to his genealogy and preceptors.

At the end of the Brhatkathā, Ksemendra says that it was finished in the 12th year of the Laukika era¹. The Samayamātṛkā² was likewise finished in the 25th year and the Dašāvatāracaritā in the 41st year of the same era. The centuries are omitted in these references but that does not create any serious difficulty in ascertaining the date of the work as the name of the then ruling king is also cited in his works. The Laukika era, according to the Kājataranginī, commenced in the year 3074-75 B. C. This enables us to compute the year in the Christian era by adding twenty-five to the Laukika year. The missing centuries can be supplied from the references to the kings in these works.

Kṣemendra mentions the names of king Ananta and his son Kalaśa. According to the Rajatarangini, the period of the rule of Ananta falls between 1028 A. D. and 1063 A. D., in which year

- कदाचिदेव विषेण स द्वादश्यामुपोषित:। प्रार्थितो रामयशसा सरसः स्वच्छचेतसा ॥ बृहत्कथामअसी XIX. 39.
- श्रीमता भूतिरक्षाचे रचितोऽयं स्मितोत्सवः ॥ समयमातृका App. 2.
- उ एकाधिकेऽब्दे विहितचःवारिशे सकार्तिके । राज्ये कळशम्मतुः काश्मीरेष्यच्युत्स्तवः ॥

he abdicated the throne in favour of his son, Kalaśa. Kalaśa was formally declared king in 1080 A. D. after the death of Ananta. But for all practical purposes his rule started from the year 1063 A.D.; that is why we get the reference to Kalaśa as the ruling king in the Daśāvatāracarita which was written in 1066 A.D.

Now we can fix the dates of the compositions of Ksemendra thus:—(1) Bṛhatkathāmañjarī 1037 A.D., (2) Samayamātṛkā 1050 A.D., and (3) Dašavatāracarita 1066 A.D. This means that the period of the literary activity of Ksemendra extended from 1037 A.D. to 1066 A.D.

There are two other evidences to corroborate this inference. Somendra, the son of Ksemendra, in his introduction to the Bauldhāvadānakalpalatā, mentions that the work was finished in the 27th year of the Laukika era which corresponds to 1052 A.D.

A manuscript of the work called the Aucityalamkaroddhara in the B. O. R. I. collection (No. 578/1887-91) expressly states that the work, the Aucityavicaracarca, was completed in the 34th year of the Laukika era on the 8th day of the first half of Jyestha for the benefit of students. This year corresponds to 1059 A. D.

The beginnings of Ksemendra's literary career fall between 1010 A.D. and 1015 A.D. Ksemendra refers to Abhinavagupta, the author of the *Vidyāvivṛti*, as his teacher in rhetorics. Abhinavagupta wrote his famous commentary *Vidyavivṛti* on the *Pratyahhijāa-pratyaya Daršana* in the year 1014 A.D. So after this date Ksemendra must have started his literary activity. Mr. Madhusūdana Kaul, in his introduction to the *Desopadeša* and the *Narmamālā* says: To consider Ksemendra fit enough for studying and not merely reading the science of rhetorics with Abhinavagupta and to have

मंत्रत्से सप्तिविशे वैशासस्य सितोद्ये । रुतेयं कल्पलिका जिनजन्ममहोत्सवे ॥ बोद्धावदानकल्पलता 16.

² इति श्रीप्रकाशेन्द्रपण्डितस्रुतश्रीक्षेमेन्द्रकविविरचितौचित्यालंकारोद्धारः । निष्पन्न-श्रायं श्रीमद्नन्तराजनराधिराजसमये—

संवत्सरे चतुर्खिशे ज्येष्ठे शुक्केऽष्टमेऽहानि । काव्योचित्यविचारोऽयं शिष्यव्यत्यत्त्वये कतः ॥

अह्वामिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः । आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिगः ॥ वृहत्कथामञ्जरी XIX. 37.

general acquaintance with the literature of the day, it is reasonable to conjecture that Kşemendra might have been by that time about twenty-five years old "." This places the date of his birth at about 990 A. D. and the beginning of his literary career at 1010 A. D. or 1015 A. D., while Dr. Sūryakānta maintains that Kṣemendra was of 25 years age when he composed the *Bṛhatkathāmañjarī*, which places the date of his birth at about 1010 A. D.²

Kṣemendra's literary life came to an end, it seems, with the *Dasavatāracarita* as we do not get any work posterior to this one. So we can safely say that Kṣemendra's life extended from 990 A.D. to 1070 A. D. approximately, and that his literary activity lay between 1010 A. D. and 1066 A. D.

Kṣemendra's genealogy can be traced from references to the same in his Dasavatāracarīta and also from Somendra's introduction to the Bauddhāvadānakalpalatā. The family tree can thus be given as follows:—

The number of descendants not mentioned

Narendra (Minister to king Jayāpīḍa)
|
Bhogīndra
|
Sindhu (or Sindu)
|
Prakāśendra
|
Kṣemendra
|
Somendra

¹ M. Kaul, Deśopadeśa and Narmamālā, Kashmir Sanskrit Series, Introduction, p. 20.

² Poona Orientalist XVII, p. 11.

उनिरन्द्रनाम्नः सुमतेः श्रीजयापीडमन्त्रिणः । वंशे बभूव मोगीन्द्रो मोगीन्द्र इव मोगवान् ॥ १ ॥ तस्य सत्त्वनिधेः श्रीमान् गुणरत्त्रगणाश्रयः । स्नुर्वाणीस्ध्रधास्तिः सिन्धः सिन्धुरिवामवत् ॥ २ ॥ तस्य पुत्रः प्रकाशेन्द्रः प्रकाशेन्द्रानेमो भुवि । बभूव दानपुण्येन बोधिसत्त्वगुणोचितः ॥ ३ ॥ स्रोमेन् स्तस्य तनयः कवीन्द्रः कीर्तिचन्द्रिका । पन्द्रस्येबोदिता यस्य मानसे।छासिनी सताम् ॥ ४ ॥

Ksemendra's Works

The following is a complete list of works which are attributed to Ksemendra and which are extant:—

| to vie | Title | Nature | Extent in verses |
|-----------------------------------|---------------------------------------|---|-----------------------------------|
| (I ² / ₂) | Brhatkathamañjarī | (Sanskrit rendering Guṇāḍhya's <i>Bṛḥat</i> in Paiśācī languag | kath a e). |
| (2) | Rāmāyaṇamañjarī | (An epitome of Val Rāmajaņa). | |
| (3) | Bharatamañjarī | (An epitome of the bharata). | |
| (4) | Kalāvilāsa | | 55x |
| (5) | Darpadalana | (Sevenfold 'Vanity' | |
| | Samayamatrkā | (A hand-book for the courtezans). | ne 699 |
| (7) | Deŝopadeŝa | (A series of lectures ing the social wa behaviour of his ti | ys and |
| • | , , , , , , , , , , , , , , , , , , , | the benefit of stude | nts). |
| (8) | Narmamālā | (The life of a Kāyas described humour | |
| (9) | Sevyasevakopadeša | (Advice to the empl and the employee | |
| (10) | Caturvargasamgraha | (A didactic poem de ing the four Pur | scrib- 109 |
| (11) | Carucarya | (A didactic poem or daily routine of | |
| (12) | Aucityavicāracarcā | (A treatise on rheto ing 'Propriety' a poetry). | orics propound- is the soul of |
| (13) | Suvṛttatilaka | (A work on prosod | y ·). |
| (14) | Kavikanthabharana | (A sort of Šiksā wo | rk on poetics). |
| (15) | Bauddhì v adāna- kalpalatā | (Metrical form of A sataka stories). | vadāna- 7639 |
| (16) | V yāsāṣṭaka | (A panegyric in pra Vyāsa, included in to the <i>Bhāratanu</i> | the epilogue |
| (17) | Dašāvatāracarita | (An epic singing the of the ten incarnate Lord Visnu). | ions of |
| (18) | N îtikalpata r u | (A work on Rājanī | ti). |

Following is a list of works which are referred to as his own compositions by Kşemendra in his works but which are not available so far.

- (19) Kavikarņikā (A work on rhetorics).
- (20) Nitilata.
- (21) Munimatamīmāmsā.
- (22) Kanakajānaki.
- (23) Citrabharata-naţaka.
- (24) Padya-kādambarī. (A rendering of Bāṇa's Kādambarī in metrical form).
- (25) Muktāvali.
- (26) Rājāvalī (Also known as Nrpāvalī; referred to by Kalhaņa in his Rājatarangiņī).
- (27) Lalita-ratna-mā!ā.
- (28) Lavanyavati kavya.
- (29) Vinayavallī.
- (30) Śaśivamsamahākāvya.
- (31) Pavanapañcāsikā.
- (32) Amrtataranga.
- (33) Avasarasara.
- (34) Vātsyāyana-sūtra-sāra.

The Chronological order of Ksemendra's works can be stated as under:—

First period: — Brhatkathāmañjarī, Rāmāyanamañjarī, Bhāratamañjarī, and Padya-kādambarī.

Second period:— Desopadesa, Narmamala, Nitilata, Suvṛtta-tilaka, Lāvaṇyavatī, Munimatamīmāmsā, Avasarasāra, Lalita-ratna-māla and Muktāvalī.

Third period:— Nṛpāvalī, Lokaprakāša, Nītikalpalaru, Kavi-kanṭhābharaṇa, Samayamālṛkā, Kanakajānakī, and Bauddhāvadāna-kalpalatā.

Fourth period: — Aucityavicāracarcā, Caturvargasamgraha, and Sevyasevakopadeša.

Fifth period: Kalāvilasa, Cārucaryā, Darpadalana, and Dasāvataracarita.

¹ This point has been discussed by me in my thesis "Ksemendra—An Author-study".

Nītikalpataru

The present edition of The Nitikalpataru, (NK) is prepared from the only known manuscript of the work, which is available at the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. This Ms. was first procured by Bühler in the year 876 A. D. from Kashmir and deposited in the Deccan College, Poona, in the Bombay Government Collection. Subsequently it was handed over to the B. O. R. Institute in the year 1918 A. D. and it has been registered there as No. 351/1875-76. The Ms. is not very old and the paper is country-made. It consists of one hundred and eleven folios with twelve lines to a page and a line consists of nearly forty-eight letters. The writing is bold but not uniform, and the scribe is many times careless. Therefore, the reading of the Ms. has been a difficult task. I have, therefore, retained the copyist's version in all places of doubt and have given, wherever it was possible, my conjectural readings in the notes.

The Ms. begins on folio 1b thus:-

ॐ नत्वोमातनयं गौरीं ज्यासम्रख्यम्रनीश्वरान् । श्रीज्यासदासः क्षेमेन्द्रो नीतिकल्पतरुं ज्यघात् ॥

and ends on folio 111b with the following words

समाप्तश्र्वायं नीतिकल्पाख्यो ग्रन्थः।

Even with this explicit mention of Vyāsadāsa Kṣemendra as the author of this work on 'Rājanīti,' there are strong grounds to suspect that the present work has not come down to us in its original form. There seem to have been large-scale additions to this work to such an extent that it would not be proper to attribute all that is contained in this work to Kṣemendra, the noted Kashmirian polymath.

We now record all those points which point to later additions to the work.

The Title of the Work

The title of the work is sometimes given as Nītikalpa-latā or simply Nītikalpa though in the introductory stanza it is given as Nītikalpataru. This inconsistency is not likely in the case of Kṣemendra. Similarly, there is no definite scheme about the titles of subsections. 'Kusuma' is the word used to refer to the smallest subsections throughout the work; but other divisions are sometimes styled as 'Gucchaka' or sometimes as

'Sākhā' and a still broader division is called 'Prakāṇḍa'. The title 'Gucchaka' suits 'Nītikalpalatā' well, but 'Śākhā' then would be rather inappropriate. As regards the colophon also, we can say that it lacks many characteristics of the colophons of Ksemendra's works. The general form of colophon occurring at the end of Ksemendra's work is : इति महाकविश्रीव्यासदासापराख्यक्षेमेन्द्र छत्। ग्रन्थः समाप्तः।. The title HETEGE is dropped in some of the colophons as in BKM. Effe व्यासदासापराख्यक्षेमेन्द्रविरचिता बृहत्कथा संपूर्णा।. The colophon of the present work समाप्तश्चायं नीतिकल्पाख्यो ग्रन्थः। drops the name of the author and hence it is not in keeping with the usual practice of Ksemendra. Of the very few Sanskrit poets who have given personal information. Ksemendra is one and, therefore, it is unlikely that he would have failed to give some information about himself and his purpose of writing this work. My view is that Ksemendra has not written the whole of Nītîkalpataru the but some one has developed the core of his work, and therefore, we do not get the usual colophon. The case of the Lokaprakāsa is similar to that of 'Nītikalpataru' in this respect. There have been large-scale additions to the Lokaprakāśa down to the 17th century and it also does not have the usual colophon. Ksemendra is very particular in mentioning his titles and sometimes the date of the composition also.

There is another and yet stronger evidence to show that there have been additions made to this work. As the nature of the work is encyclopædic, it is no wonder that we find in it quotations from other writers on the same topics. The Nitikalpataru is replete with such quotations. Many of these quotations are cited by directly mentioning the name of the author of the work, but there are some quotations, the authors of which are not mentioned by name. When we go through these quotations from other works, the problem becomes quite clear and we find that many of these authors flourished even many centuries after the date of Kṣemendra. Let us discuss a few of these quotations.

A quototion from the Viramitrodaya NK (83.2) refers to the Yājñavalkyasmṛti and quotes पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गामिश्रिताः। वेदस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ इति

and further adds अन्न मीमांसा वाक्यविचाररूपत्वात् पूर्वोत्तरमेदामिसाया उभय्या अपि ग्रहणम् । तेन विद्यान्तविद्याया अपि न पृथाग्यत्नानिष्पाद्यविमिति ध्येयम् । तथा च ब्राह्मे

' एवं चतुर्दशैतानि धर्मस्थानानि स्रवत । वेदान्तः पश्चदशमं विचा षोडाशका मवेत् ॥

इति पृथङ्निर्देशेऽपि न सङ्घन्याधिक्यम् । तत्र वेदान्तः शारीरकम् विद्या बृहदारण्य-कादि रहस्यम् ।

This passage seems to have been taken from the commentary on the Yājñāvalkyasmṛti called Vīramitrodaya by Mitramiśra. The relevant portion of the same reads as follows:—

यन ब्रह्मपुराणम्-

वेदान्तः पञ्चइशमं विद्या षोडशकं भवेत्। इति । तत्र वेदान्तः शारीरकम् । विद्या बृहदारण्यकादि रहस्यम् ।

It is to be noted that the *Mitākṣarā*, the well-known commentary on Yājñavalkya, does not refer to the *Brahmapuraṇa*, while commenting on the above śloka.

The date of the commentary Vīramitrodaya can be fixed with certainty. The writer flourished in the 16th century A. D., nearly five centuries after Kṣemendra. Borrowing is either way possible but we must see for ourselves whether there is any possibility of borrowing by Mītramiśra from Kṣemendra or vice-versa. As the matter under discussion forms an integral and natural part of the Vīrami:rodaya, it stands to reason to assume that Mītramiśra wrote it first and the author of NK incorporated it in the form of a quotation. There are certain other quotations borrowed from other works, without mentioning the authors of those works. So it is likely that this passage is quoted in a similar way.

Relation of NK. to BKM. and KSS.

Still more concrete and therefore more baffling problem is the relation of NK. to the *Brhatkathāmañjarī* (BKM.) of Kseinendra and *Kaihāsarītsāgarā* (KSS.) of Somadeva. One can understand similarity in ideas expressed by different authors on the ground of sympathy or co-experience. But when similarity in expression also is found in a markedly degree, one can definitely say that it is a case of plagiarism. NK. and BKM. have some things in common as regards the subject-matter and many stories from

¹ Mitramiśra, the author of the Viramitrodaya, flourished at the court of Virasimhodaya, the prince of Orocha and a feudatory of Akbar the Great. See: Yājňavalkyasmrti, Chaukhamba Sanskrit Series, Introdution, p. 5.

the Brhatkatha find themselves incorporated in NK. NK. is attributed to Ksemendra, the author of BKM., and naturally, we expect that the stories which are common to both NK, and Brhatkatha should run on the lines of BKM. But what do we find in NK.? The stories not only run along the lines of the stories in KSS. but also contain hundreds of verses which are common to NK, and KSS, without a change of a word even. The presence of these common stanzas leads us to the conclusion that one of these two writers is a plagiarist. But who? Somadeva, the author of KSS., was a younger contemporary of Ksemendra. He wrote his KSS. at the behest of queen Survamati, the wife of king Ananta, and the composition of KSS. dates to the latter half of the eleventh century. Can we ever imagine that Ksemendra, who could turn out 40,000 verses, would go a-begging for a very small number of verses and incorporate verses of a junior poet in his works? On the other hand, if we are to suppose that Somadeva was the borrower, would it be proper? These two questions admit of answers in the negative. It is beyond comprehension that these two giants at composing verses would ever include material from other writers in their works. It is also not possible to suppose that both of them have drawn from a common source. Common source there was, but in the Paiśācī Language. And BKM. and KSS, were but Sanskrit renderings of Brhatkathā of Gunādhva in the Paisacī language. Can we say that the author of NK. followed Brhatkatha of Gunadhya closely, and hence, this similarity? But then Ksemendra, the author of NK. and Ksemendra, the athor of BKM. become different persons. One tacitly follows the older Brhatkatha while the other only summarizes the same. To our mind it appears that NK, was written at a later date than that of KSS. and hence, it contains verse after verse from KSS.

This problem becomes quite clear when we take into consideration another set of stories in NK. There are nearly forty stories describing various types of follies of the foolish in the world. Many of these are to be found in KSS, and BKM, also. Here, again, there are many lines common to the two recensions of these

¹ All the stories common to NK, and KSS, are to be found in ज्ञाकि-यशोलम्बक of KSS.

stories. These lines also are to be found in KSS. rather than in BKM. But one thing is certain that the stories in NK. appear to be full-fledged forms of contracted stories. Not being satisfied with the contracted form of such types of stories of exceptional practical wisdom, the author of NK. developed them for the benefit of his readers, and therefore, NK. appears to have been written after KSS. of Somadeva.

A Verse from the Rajatarangini

Equally intersting and convincing is the inclusion of a verse from Rājatarangiņā of Kalhana. The verse-

'कुष्टार्ताङ् ब्रियुगः शिखी बहुपदं ग्रह्णाति धावन्निहिम '

is cited in NK. to stress the all powerful character of Fate. This verse is 7.950 from the Rajatrangini of Kalhana. The date of Kalhana is nearly a century later than that of Ksemendra. Hence it is not possible to say that Ksemendra made use of a verse from a poet yet to be born then. The other conclusion is that this verse was later on added to NK. without acknowledging the authorship of the same.

Quotations from the Prabodhacandrodaya

A more striking illustration to show that NK. is a work of later date is furnished by the quotations from *Prabodhacandrodaya* of Kṛṣṇamiśra. He has been referred to by name in NK. Kṛṣṇamiśra flourished in the South at about 1055 A.D. and hence, appears to be a contemporary of Kṣemendra. According to some scholars he flourished still later. It is, at any rate, beyond doubt that Prabodhacandrodaya was not composed before 1065 A. D.² Kṣemendra by this time was in the declining stage of his life. It is hardly possible to believe that in those days of difficult communicacions a dramatist from the South gets currency in the North and is quoted by the noted writers within a short period of 10 to 15 years. There are five verses directly attributed to Kṛṣṇamiśra. Therefore there is no doubt that this part of NK., at least, was written much after Kṣemendra.

¹ There is a clear reference to 'Tarangini' in the 112th 'kusuma' as 'उक्तें चात्र तरङ्क्षियाम् । etc.

² Krishnamachariar, History of Classical Sk. Lit., Page 678.

The sum and substance of all these arguments is that the author or compiler-editor of this work, a sort of encyclopædia of Rājınīti, is not Kşemendra alias Vyāsadāsa. Like the Lokaprakāsa, NK. is also a work of later date but attributed to Kşemendra to gain sanction and authority to the work.

It is possible to hold a view that Ksemendra wrote the 'mūla ślokas' and a part of the commentary on the same; but none can be sure as to what actually come from his pen and what from the pen of the other. Our reasons to attribute the structure of the work to Ksemendra are as follows:—

Arguments in favour of Ksemendra's authorship

(1) The work is, in the latter part of it, a sort of encyclopædia of the requirements of a king. Ksemendra had full acquaintance with court-life and therefore, must have had a sound knowledge of the requirements of a king. (2) He was a noted epitome-writer and perhaps, with the intention of bringing within the compass of one single book everything connected with a king, he might have undertaken this work. (3) Ksemendra had a peculiar craze for analysis, as is seen in the Kalāvilāsa, Samayamātrkā and Darpadalana. Similar craze for analysis is to be seen in the descriptions of the practical wise (च्यावहारिकपण्डित) and the practical fool in NK. (4) From his pesonal life we know that Ksemendra had a prince and sons of noblemen as his disciples. It is likely, therefore, that Ksemendra was induced to write this hand-book on the 'Making of A Prince'. That perhaps explains why great stress is laid on spotless intellect (अमलप्रज्ञा) which is acquired by a thorough study of philosophy and practical administration. One thing, however, has to be remembered that we do not get any direct reference to show that Ksemendra was appointed as a tutor to any prince to teach him 'the science of administration.' What we know is that Kşemendra had a prince as his disciple and that he wrote a poem¹ from which Ksemendra quoted a verse in the Kavikanthabharana and lastly (5) Ksemendra was a historian, and therefore, it is not improbable that he also wrote on Rājanīti.

¹ विदेकपरिचयो यथा, मन्छिष्यराजपुत्रस्रक्षमणादिःसस्य

^{&#}x27; आशापाञ्चविमुक्तियुक्तममलं संनोषमान्यं मन: 'etc. See क्विकण्टामरण, Chaukhamba S. Series No. 24 P. 21.

NK. and Yuktikalpataru

It will be interesting to note that this work is not altogether a new one. The plan and execution of the work is after the Yukti-kalpataru of Bhoja. (10th century A. D.). NK. quotes king Bhoja as an authority on astrology.

A reference to NK. in Rajanitiratnakara

The Rajanitiralnakara of Candesvara (of the first quarter of the 14th century A.D.) refers to NK. thus:—

' वृद्धं व्यावहारिकधनादिति नीतिकल्पतरः । 1

We do not find in NK. any remark having even a semblance in meaning, with the above quotation. The NK. referred to in the Rajanītiratnākara may be a different work, not as yet noticed.

The scheme of NK.

The scheme of the work is very simple. It is divided into six major sections. The topics of discussion in a major section are first enumerated in a sloka and then follows the elucidation of these topics. The work starts with the definition of 'Niti'. The importance of 'Niti' and why it should be adhered to, are then explained. In the second section, an interesting question is raised and answered. The question is: Should an individual practise Niti's ingly or should he consult others? The opinion of the author is that 'Nīti' should be practised in company with others and after due consultations. The third section advises the king that he should assiduously follow learning and avoid folly. Learning is two fold; practical and philosophical. So is folly. Various interesting, short and ethical stories are told to demonstrate what is practical learning and practical folly. The important role of the intellect is explained through these stories. In the philosophical section, the author divides the philosophical schools into two classes viz. Orthodox and Heterodox. The orthodox school headed by 'Advaita Vedanta' is referred to as worthy of study and the heterodox school is declared as unworthy of study and its followers are stamped as Pāramārthika-mūrkhas. In the fourth section, general knowledge of things and situations is imparted.

¹ Rajanitiratnakara Page 8, published by 'The Bihar and Orissa Research Society', Second edition.

The last two sections are devoted to the detailed description of men and material connected with a king.

The definition of 'Niti'

After the benedictory stanza, the author directly begins his work by defining what is 'Nīti'. He is aware of the definitions of 'Nīti' by writers like Brhaspati and others, and gives his own definition as 'spotless intellect' (अमल्बार). Nīti is described as 'Divine sight' enabling a person to see things in their proper perspective. It enables him to differentiate good from bad and to act accordingly. It also enables him to rise to Godhood. The difference between a human being and the animal world is that one is capable of following Nīti while the other is not.

'Resorting to Nīti did Brahmā create this universe and then, by appointing his mind-born sons like Manu, he rests in pleasure in his Lotus-abode'.

'Resorting to Nīti, Lord Viṣṇu manifests himself often to root out the sons of Diti who torment the world which follows the religion as laid down in the Veda'.

'Lord Śańkara orders Niyati to carry out her work in proper manner and goes into profound meditation'.

'Even Lord Indra, following this Nīti, divides the time into day and night and apportions various duties to different individuals'.

The author is emphatic when he says that the position, which an individual has, is the direct result of the conduct of Nīti in his previous birth. Even Lord Brahmā was able to assume that position on account of his previous meritorious deed.

Thus Nīti according to NK. performs the work of Rta of Vedic days and also of Puṇyakarman of later days.

After citing examples of Sagara, Bhagiratha, Nahuṣa and others, the author sounds a warning that even having risen to high position, if an individual does not abide by Nīti, his down-fall is certain. Nīti must be observed to the end of one's life in order to maintain what one has achieved. In this connection, the example of king Nahuṣa who fell down on the earth from heaven and became a serpent suffering from hunger and thirst, is cited. Thus he

¹ पूर्वजन्मसाधितनीतिरूपफलमेन ब्रह्मणो ब्रह्मत्विमिति । foot-note to folio 1.

says 'it is established that by Nīti an individual is able to acquire both Devatva, as in the case of Nahuṣa and immortality, as in the case of other kings'.

From all these examples, it is quite clear that the author does not make any difference between that Nīti which corresponds to 'rta' and that which is another name for 'Polity'. In fact, in ancient times, the two ideas were regarded as identical, and hence, the political aspect of 'Nīti' was also included in the discussion side by side, with the moral and ethical aspects. 'Nīti' means that which leads one to the right path of prosperity. The root, r, meant 'to flow', in Vedic Sankrit and that which kept on the flow constant was regarded as rta. The cosmogonic flow when transferred metaphorically to human behaviour, indicated worldly Law and Order. Similarly the root, ni, meant 'to carry', and it indicated movement in the direction of prosperity, and hence, the word 'Niti' was employed to indicate any action which was calculated to bring good; and conversely, what was detrimental to the individual, either socially or morally, was stamped as 'Anīti'. This being the derivative sense of the word, the ancient writers made use of the same word to refer to both the aspects of the problem. Now that the modern-thinkers have divorced politics from ethics and have begun to think them as seperate branches of knowledge, they employ different words to denote the difference between these two social sciences. The ancients, also, would sometimes make out the difference by prefixing the word 'Rāja' to 'Nīti' and thus hint at the difference between ' Rājanīti ' and ' Sāmānyanīti '; NK, however, makes use of the word 'Niti' without making any such difference.

'Fate' versus 'Nīti'

The next important topic taken up for discussion is whether fate is more powerful than 'Nīti' and if it is, should an individual forsake 'Nīti'? As a prima facie view, Kṣemendra states that on account of the 'unseen factor' a man does not get the fruits of his action; sometimes dullards are able to acquire the fruits, while the efforts of the learned are futile. Fate makes people behave against 'Nīti' and sometimes even in adversity, it encourages man to follow the path of righteousness.

Like all sane thinkers, NK. maintains that an individual ought to tollow the path of 'Niti' even when cumstances ire the have gone out of control.

Further explanation of 'Niti'

Niti has been defined by the author as 'Spotless intellect'. In order to clarify his stand, he explains what is meant by amalatva (Spotlessness). That, which simultaneously enables the individual to attain the good of the self as well as of others, is styled as amalatva (the state of being Spotless) and that intellect alone, which is possessed of this quality, is 'Niti'.

The inclusion of the adjective amala in the definition is justified by a long and yet apt quotation from Sanjaya-yana parvan of Udyogaparvan of the Mahābhārata. The quotation begins with V. 2 Adhyāya 2. relating to the message of Dhṛtarāṣṭra to Yudhiṣṭhira. In the end the author remarks:—

'इति सर्वतः शोधितत्राद्वाक्यजातिषदं सर्वीचन्तायर्जे हमिप समलत्वाक्रीत्याभास एवेति'।

Here a very fundamental question is raised and answered. For all outward purposes sometimes 'Adharma' takes the shape of 'Dharma' and it becomes very difficult to decide what course of action should be taken. At this bewildering stage, he points out that one should examine the hidden purposes behind the question. In the above instance, though the message was a sane one, the purpose behind it was to create confusion in the minds of Pāndavas. It was a political strategem employed by the clever king Dhṛtaraṣṭra before the acual beginning of the war. Yudhiṣṭhira was right in not taking this bad counsel, in the disguise of advice, to his heart. [Still its effects were there and we find Arjuna reverberating the substance of this passage in the Gita where he says: अयो भोड़ भैक्ष्यमपीह लोको].

What is 'Dharma' and what is 'Adharma' is explained by commenting upon the following sloka.

'यत्राधर्मी धर्मस्तराणि धने छत्स्नोऽधर्मः दृद्यते धर्मस्त्यः। तथा धर्मो विद्धद्धर्मस्त्रं विद्वांसस्तत्संप्रव्यन्ति बुद्ध्या ॥

It does require great acumen of intellect to decide the right course of conduct when confusion arises. The author has circumscibed the province of intellect by pointing out examples of what is 'Adharma' and 'Dharma'. These are traditional examples pointing out the traditional behaviour as preached by Lord Śrikṛṣṇa in

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्योकार्यन्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हासे ॥ " इति ।

This cleary points out that the author of NK. is a modest reformer, and not an original thinker establishing his own philosophy. Finally according to NK. that individual alone, whose intellect is sharp and well-versed in the Śāstra, can decide what is Nīti. The discipline in the Śāstra will make the intellect spotless and thus enable him to take to the right path.

Should Niti be followed singly?

The second major section starts with the discussion whether Nīti should be followed singly or whether an individual should consult others in doing so. In this section, Nīti is understood as state-craft and both the views are expressed. Quotations from Manu, Pañcatantra and Yājñavalkya are cited to show that one should practise Nīti singly. But the siddhāntin's view is different. He wants to establish that one should follow Nīti in collaboration with others. 'When a man goes to the other world, he goes all alone. Then why should he care to consult others who are of no use to him'? This objection against the siddhāntin's view (सामस्य किन्न कार्यसायकम्) is refuted by taking help from the Sūtrakāra. (तर्बन्तरप्रतियत्तो रहतिसपरिष्वकः प्रश्नानेस्वयाभ्यामिति '।)

He also refutes the statement that God alone created this world. He says:—

' तथा च स्वयमीशोऽसौ स्थित्वान्तश्रवतुरात्मना । विविच्य कुरुते यात्रां तद्भावे क्वतः स्थितिः ॥ '

and also 'पश्चर परमेश्वर इति लोकिका अपि वदन्तीति अत एव पश्चायतनपूजािप लोके सुख्यतया रूढेति।'

The way shown by NK.

Spotless intellect is 'Nīti' and it is to be practised in company with others. But what is the practical way to develop this intellect? NK. shows the way,

समज्ये पाणिहत्यं स्वपरहितक्रत्कीर्तिजनकं न मौख्ये घीपात्रीरिह च परलोके च भयदम् । सदा सङ्गो घार्यः झजनशुभशास्त्रार्थनिरतै-र्न धुतैः पाषण्डप्रवणमतिभिर्वश्चनपुरैः ॥ 'Pāṇḍitya' is explained as पण्डा ग्रुद्धा मातिर्थस्य संज्ञाता स पण्डितः, तस्य भावः पाण्डित्यम्। The development of the right and pure kind of intellect is thus an essential part of the learning. It is not the bookish learning but the practical sanguine outlook on life that is necessary. This enables one to understand one's own interest as well as that of others. 'Maurkhya' is diametrically opposite to 'Pāṇḍitya'. It is not only negation of 'Pāṇḍitya' but something added to it. So it must be avoided at all costs. The explanation of one who is a fool is quite convincing.

A fool is one who is irrational and cannot properly balance things which are to be done and which are to be carefully avoided. This foolishess is detrimental not only in this life but also in the life beyond, and therefore, one should never keep any contact with rogues, heretics and those that are bent upon deceiving others.

Now starts 'demonstration of the use of Pāṇḍitya' (अथ निद्दानं पद्धे). 'Nidarśana' is proficiency in the use of intellect. There crop up different situations in life where intellect is to play a great role. Pāṇḍitya is three-fold; Vyāvahārika, Ārthika and Pāramārthika. Practical (Vyāvahārika) wisdom enables a person to tackle every-day problems and Philosophical wisdom creates the right kind of faith whereas Ārthika i. e. pertaining to Artha, means cleverness in administration. Under Pāramārthika Pāṇḍitya, NK. has given a digest of the then existing philosophies and has shown its inclination towards Advaita-Vedānta. As for Ārthika, NK. has selected some stories which demonstrate the acumen of intellect required to tackle baffling questions in administration. Let us have an idea about the Prince and his intellectual qualities as envisaged by this section.

The Ideal Prince

The prince should not entertain any fear before ascertaining the cause of the same. Suspicion gives rise to fear, and hence, he should thoroughly investigate the situation and drive away suspicion, root and branch. He must realize that between intellect and physical force, intellect is always superior. Between valour and intellect, intellect still is powerful. He should avoid company of bad characters and always keep mean-minded servants at arm's length. When he is a weakling he should hear the advice of the strong. He should never advise the fools, for the fools are never intellectually satisfied and are likely to be enraged when their faults are brought to their

notice by others. The Prince should never allow any room in his mind to bad thoughts and wishes; for bad wishes bear bad fruits and good and moral wishes result in bringing prosperity to him and to his kingdom. Autocratic kings are like intoxicated elephants for their is none to bring them to their senses. There is every possibility, therefore, of such kings transgressing the bonds of religion and morality. The Prince, according to NK., must ever be alert, so as not to deviate from the path of truth and morality. He must know that mere wishing does not bring the desired fruit, and therefore, he must be prepared to sacrifice his life, if need be. In giving judgement he must not only take into consideration the open facts presented to him, but also pierce into the hidden motives of the plaintiff and the respondent. He must have the conviction that he can overcome 'Fate' by his own efforts.

'स्वमेव कर्म देवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् तस्मात्पीरुषमेवेह श्रेष्टमाहुर्मनीषिणः ॥ ' ग

For the proper conduct of his duties he must select proper men and material and to achieve this he should have thorough knowledge of men and women to be appointed as servants, aud-also of elephants and horses which he has to employ in his army. He should, therefore, have discipline in Palmistry, Psychology, etc., so that he may be able to behave with them properly. Similarly he should get himself acquainted with Pālakāpya's science of elephants and Śālihotra's science of horses. In short, he must be intellectually equipped to meet any eventuality that may arise in his life.

He should avoid the rogues, the wicked persons, the fools and heretics. The court is often infested with rogues and wicked persons and it is not unlikely that fools of different types may surround him. He must be able to detect the first (i.e. the rogues and the wicked) and keep himself aloof from the second. NK. has given forty interesting stories describing the foolishness of such fools. The prince can do well to remember and get some advice from them; e.g. there are two stories of fools, one carrying on work without understanding the spirit behind it (केवलायमा) and the other not working at all, but calculating all types of difficulties that might arise in his undertaking (केवलायक्ट). The king should avoid both.

Can the king be dethroned?

What is the political philosophy of the state in NK.? NK.

¹ अमिपुराण Anandashrama Ed. Page 2 8.

follows Manu and other ancient political thinkers who maintain the 'Divine origin of kingship'. Manu says

'बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नरस्वेण तिष्ठति ॥

NK. follows the same doctrine. But the author has placed the high ideals of kings of Raghu-race before his prince. And in certain circumstances, he has given his opinion that the king can be dethroned. The relevant passage reads as follows:—

तत्र प्रकृतिकार्ये राजसंग्रहः राजकार्ये च स्वक्षणप्रकृतिसंग्रहो विधेयः हित विधिः । किलेत्यप्रतिपत्तां । अत्रोभयास्मित्र कस्यचिद्विमितिरिति । तत्र राज्ञः सल्वक्षणप्रकृतिसंग्रहः स्वाधीन एव मनाक् स्वविधेयविच्युतो न तत्स्थाने परासंजनात् । प्रकृतीनां तु परम्परागते राज्ञि प्रकृतिच्युते चालनार्थे यद्यपि दिक्पालांज्ञत्यादस्य न स्वातन्त्र्यं तथा सन्मार्ग-गामित्वमेव दिक्पालांज्ञत्वे चालपत्विचयामकं परथा तु दिक्पालानामेव तत्र कुपितत्वाद्वैयात्ये प्रकृतिभिर्ण्यसौ च्याविधितुं ज्ञक्यत इत्युभयविधिवचनमनव्यम् । तथा च

आदो सर्वधयत्नेन राष्ट्रस्रख्यैनंरेश्वरः। परीक्ष्य सर्वैः कर्तन्यो घामकः सत्यसङ्गरः॥

इति राजा संग्राह्य इत्युक्तम् । तत्रापि

प्रथमं राजत्यसाधकं प्रजारक्षनं यस्य भनेदसौ यौगिक्या संज्ञया राजित्युच्यते । इति सुख्यलक्षणं राज्ञः । तथा चाभियुक्ता रष्ठवर्णने

'यथा प्रह्लादनाज्ञन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा। तथेव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरक्षनात् ॥ ' इति ।

Thus the Prince according to NK. has very little chances of becoming a despotic ruler. He, at best, can become a Benevolent Dictator.

The final evaluation of NK.

NK. has no claims to be an original work on 'Rājanīti'. It has not propounded any new political philosophy about the state or kingship. Similarly the information regarding men and material is culled from such sources as the *Mahābhārata*, the *Bṛhatasamhitā*, the *Smṛtis* of Parāśara, Mārkandeya, Manu and Yājñavalkya, and also from KSS. and other works. As has been already mentioned, the *Yuktikalpataru* of Bhoja, it seems, was the model before NK.

The originality of NK. lies in the novel treatment of the subject, by citing interesting stories and in the practical sanguine outlook it expects a prince to develop. In this respect NK. can stand comparison with the *Pañcatantra*, the *Hitopadeŝa*, and the *Brhatkatha*. The portions which discuss philosophy are, in comparison with the portions about practical advice, few, and the final impression that a reader has is that NK. is like a primer for the budding prince, introducing him to the responsibilities of kingship.

नीतिकल्पतरुः।

ॐ स्वस्ति श्रीगणेशायनमः।

नत्वोमातनयं गौरीं व्यासमुख्यमुनीश्वरान् । श्रीव्यासदासः क्षेमेन्द्रो 'नीतिकल्पतरुं ' व्यथात् ॥ नीतिनीम नरस्य चक्षुरुदितं दिव्यं यदाश्लेषतो देवत्वं नितरां परं तु बलिनी मान्या परेहा बुधैः । तत्राप्यत्र पदं विदां विदधतां किं नाम नाप्यं यया स्मायं समुपैति सिद्धिममला प्रज्ञा च सोक्तान्ततः ॥ १ ॥

निवन्धकारोऽविव्रेन चिकीर्षितसंपत्ति कामयान 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमिति ' शिष्टोक्तरीत्या नीतिरूपवस्तुनिर्देशादेव मङ्गळं
मन्यमान उपक्रमते । नीतिरिति :— अस्ति मर्त्यानामि पशुमिः साधारणं
चक्षुर्द्वयमिति किळक्षणं तद्वेळक्षण्यापादकममीषां मर्त्यत्वमिति तस्त्वापादकममीषां
वैळक्षण्यमुत्थापयिति । दिच्यं चक्षुरिति :— व्यविद्वतदेशकाळविष्ठक्रष्टसूक्ष्मादिप्राहकत्वं दिव्यत्वमिति । तथा च व्यविद्वतिष्ठक्रष्टसूक्ष्मादिना पराशयप्रहणं प्रहणाशक्तत्वाचममयचक्षुर्द्वयसस्वेन पशुसाधारण्येऽपि मर्त्यानामनेन नीतिमयदिव्यचक्षुषा तद्वेळक्षण्यं सिध्यतीति । तथा च प्रामाणिका 'बुद्धिजीवी नरः
प्रोक्तस्तदिद्दिनः पशुः स्मृत ' इति । बुद्धिविशेष एव नीतिरिति समनन्तरमेवाप्रे
भविष्यतीति । न केवळं पशुवैळक्षण्यमेवामीषामनया यावदमर्त्यत्वमणीत्यवतारयति । यदाश्चेषत इतिः— यस्या नीतेराश्चेषतः समाश्रयणादमीषां मर्त्यानां देवत्वममर्त्यत्वमिति । व्यवद्वितादिग्रहणेन तत्समानयोगक्षेमत्वादिति । तद्वदितिः—
देवकृच विभूत्यादिविराजमानत्वमित्यर्थः । अथ च यदाश्चेषतो देवत्वमेव साक्षादुत्यवते
एषा चार्यान्तरप्रतीतिर्नितरामित्यनेन बोत्यते । अर्थाच यदनाश्चेषात्यवादिस्थावरान्तरत्वं सुळभमेव । तथा चोक्तं सुशिळशैल्याम् :—

¹ Corrupt.

' नीतेरेव फलं सर्वे चित्रा या भुवनावली । तथा च दर्श्यते सम्यग्यथासौ विहितास्पदाः' ॥ २ ॥ असाविति नीतिः ।

आश्रित्य नीतिमिह सोऽपि महोत्पलस्थः
सम्यग्विधाय च परां विधिराद्यमृष्टिम् ।
तत्तत्पदेषु च निधाय निजांस्तन्जा—
नास्ते सुखेन परमेश्वरयोगनिष्ठः ॥ ३ ॥ °
कि वर्ण्यो (२अ) महिमास्य साधुजनतानन्दप्रदानोद्यतो

वेदोक्ताखिलधर्मपालनमतिस्तत्पीडनो योगिनः । संहर्तु दन्जाधिपान्हतमतीन्यः साम्प्रतं चाप्यहो

भूबिम्बं चरणाब्जरेणुभिरलं संभूषयत्यद्भुतम् ॥ ४॥

ईशानः स च सर्वदेवमहितो गौरीपतिः शंकरो

भूतीशः स चराचरस्य जगतः कर्ताय संहारकः । चिद्रान्तां नियति नयज्ञकुशन्तः संस्थाप्य बद्धाजिनो जूटोत्तड(१)त्तनुर्निरंतरसुखासक्तो भन्तसंयमी ॥ ५ ॥

नयज्ञकुरालः कृती स खलु देववृनदाधिपो

विभज्य विविधाः कृतीरिधिकृतांश्च रात्रिंदिनम् ।
गुरुं गुरुतरं धिया सुचतुरं पुरोधाय' तं
विवेकानिरतोऽस्त्यलं प्रशमयन्स्थितो दानवान् ॥ ६ ॥
इत्यं यस्य यथाविधोऽस्ति विभवो नीतेः फलं तद्विदु—

स्तस्माद्यस्य नये रतिः सचतुरा याद्रच्छुभा जायते ।

¹ Corrupt.

² Here the ms. adds the following in the margin.
पूर्वजन्मसाधितनीतिरूपफलमेव बह्मणो बह्मलामिति । एवमग्रेऽपि

३ पुरोधाय पुरोहितं कृत्वा ।

तादङ्नीतिफलं बुधैनिंगदितं ब्रह्मादिकीटान्तकं

सर्वे नीतिफलं विचार्य मितमांस्तरमाच्छुमां तां श्रयेत् ॥ ७ ॥ शुभेतिः— अशुभाया अप्युपलक्षणं तु तच्च ब्रह्मादिकीटान्तकमिति सुस्थम् । असाविप नीतेरेव यत्फलं ब्रह्मादिशुभपद्वीलामः । असाविप च नीतेरेव यत्याः कीटादिनिनन्चयोन्याप्तिरिति ताल्पर्यम् । एतदेव निबध्नाति ।

आसीत्स कोऽपि जन्तुर्येनाहो स्वीयबुद्धिवैकल्यात् संप्राप्य कीटयोनिं चण्डालस्तौ सुखेनास्ताम् ॥ ८ ॥ अहो स्वबुद्धिवैकल्यान्मनुजाः पशुतां गताः । ताड्यमानाः पुरो यान्ति नासासप्रोतरज्जवः ॥ ९ ॥ बुद्धिवैकल्यमाहात्म्यादहो मलिनकर्मतः । केचिद्धिचेतना लोके स्थावरत्वमुपागताः ॥ १० ॥

(२व) विचेतना विरुद्धबुद्धयः शास्त्रविरुद्धकारिण इत्यर्थः । केचिद्विमोहितिधयः क्रूरकमस्वभावतः संभूता भीमनरकोदरगह्वरपूरका । इत्यं सूचिकटाहास्यन्यायमार्गेण पण्डितैः नीतिशक्तिः परं ज्ञेया तत्तच्छिक्तिस्वरूपिणी स्वयं स्वातन्त्र्यशक्तिं तां स्वीकृत्य परमेश्वरः अंशांशिकातोऽप्यन्यत्रं यत्तां स्थापितवानभूत् ।

ये तां समन्ववेक्षन्ते तेऽत्र सम्यग्व्यवस्थिताः ।

मनाक् प्रच्यवते तस्याः क्षणात्ते स्युः पदच्युताः ॥ ११ ॥
तथा च निदर्शयति ।

अस्तीन्द्रपदवीरम्यास्थानं तस्य महीशितुः । तच्छिक्तपाछनाद्भुक्ता कैर्न धीरैर्गतज्वरम् ॥ १२ ॥ तथा हि भुवने वास्मिन्सिद्धराज्ञां द्वयी गतिः । सूर्यासोमविभेदेन नयोऽसौ तत्र कारणम् ॥ १३ ॥ सगरभगीरथजनका इक्ष्वाकोर्ये धरणिभर्तृतां याताः। संस्थाप्य कीर्तिममछामिह ते यत्संस्थिताश्च सा नीतिः ॥ १४ ॥

¹ Corrupt.

अत्रार्थः । इहलोके समुद्रत्रिपथगादिदर्शनान्त्रिमेलां कीर्तिं संस्थाप्य यत्स्वर्लेकेऽमृत-भोजिनः स्थिताः सा नीतिनीतिफलमेतदित्यर्थः ।

सन्यायाधियं धीराः पश्यत नीतिं च तस्य रघुसूनोः ।

मुनिभिः सार्धे भगवान्ययावतीर्णो भुवं पुपुषे ॥ १५ ॥

नहुष इति पुराऽभूनमेदिनीमण्डलेशः

सुचरितनयशाली कीर्तिसंकान्तलोकः ।

त्रिदिवकलनदक्षं यं विचिन्त्यामरेन्द्रा

अभिसिषिचुरवन्ध्यप्रार्थनाः स्वर्गलोके ।। १६ ॥

क्यं वण्यों भूमाविरलमतिभि ... श

गृहे यस्योद्भृतेरकिततपोवीर्यमहसः ।

खयं स श्रीनायो निखिळभुवनाघोऽमरगुरु-

र्वतीयीर्वीभारं सकलमनयच्छून्यकलनाम् ॥ १७ ॥

यस्मिन्कुन्तिरभूत्सकीर्तिविमछो नर्थेन्धनौद्यानलः

स च्छ्रेयो निधिरङ्कवर्तिकमलो निधूतरात्रुवजः ।

येनासौ भुवि रोपिता सुविमला सन्कल्पवल्लीसुता

यस्याः पश्चमुताः बमूबुरमला लोके फलानि ध्रुवम् ॥ १८॥

यस्मिन्सोऽपि बमुव रंजितप्रजः श्रीकार्तवीयीं नृपो

येनासौ स्वशिरोञ्जतर्पितभवो बद्धोविवद्वावणः ।

सत्कीर्तिष्वजमूषितां च घरणि कृत्वा मृति छब्धवा-

नार्चीका...रामवत् कृतमतिर्वीराच्येपस्पङ्कजः ॥ १९ ॥

अविवत् मेषवत् । (३अ) अर्चीकाद्यीकपुत्राद्धार्गवात् । कृतमितयोग-प्रभावात् ।

> यत्राभूच्छशबिन्दुरित्यमरूघी राजा प्रजारञ्जना— बस्यासन्सदने चतुर्दशमहारत्नानि सम्राट्पदं ।

¹ Corrupt.

गाम्भीर्थेण सरित्पती रविरथो कान्त्याधियागीवपति-नीत्या दैत्यगुरुर्बछेन पवनो योऽसावभूद्भूतछे ॥ २०॥ ' चक्रं रथो मणिः खड्गश्चर्म रत्नं च पञ्चमम् । केतुर्निधिश्व सप्तैवं प्राणहींना निचक्षते ॥ २१ ॥ भार्या पुरोद्दितश्वेव सेनानी रथकृच यः । पर्यश्वौ कलमञ्चेति प्राणिनः सप्तकीर्तिताः ! ॥ २२ ॥ इति चतुर्दशमहारत्नानि सम्राट्चिह्नम् । भीष्मः सोऽपि बभूव यत्र भगवानगाम्भीर्यभूतोद्धि-र्बाल्याद्योत्रतचार्यं यो गुरुवशः कृष्णाङ्घिष्ठ्विगतिः। यो भक्ति पुरतो विधाय कृतवान्संत्यक्तसन्धं हार काळं चापि कृतन्यळीकमिव यः कृत्वेच्छयौ तनुम् ॥२३॥ धर्मन्यायतपःसमाधिसमतासत्यादिसीमाभुवः श्रीमत्कृष्णपदान्जरेणुरारणा दैत्याटवीवह्नयः । ते पश्चापि बभूबुरन्तरविदः कुन्तीतपोमूर्तयो यत्राहो सुरपादपा इव फलं नीतेर्विदुस्तद्वधाः ॥ २४ ॥ कुरुत कुरुत नीतिं बुद्धिधारां विधाय क कुलमिदमशेषानर्थगाढं मुरारेः। क च स च कुलरत्नं रक्षिताशेषनाथः स्वपरजनकमात्रानन्दकोऽभूत्कुमारः ॥ २५॥ पीडां गाढामसहत विषाप्यादिभिदी हामानो-Sप्यानन्दाब्धौ गत इव परं ज्ञातसारो मनीषी I तातज्ञातीकुलमपि तथा योऽपुनाद्गक्तिशाली

तस्यै तावत्फलमविकलं नीतितत्त्वस्य बोध्यम् ॥ २६ ॥

¹ Corrupt.

ळोके सैव परं बुधा विजयते नीतिः समास्फाछना-

द्यस्याः सोऽपि गुरुव्येहन्दतिसुतानास्थाय मूर्ति पराम ।

तदानेः कविरप्यसौ गतधृतिः स्वार्थाद्दतः शिष्यका-

न्व्याजन्ने कुपितः कुतो धृतिसुखे अष्टस्य नीतेरतः ॥ २७ ॥

नीतिं समाश्रित्य विभीषणोऽपि

Ę

स शास्ति राज्यं क्षणदाचराणाम् ।

(३ब) सन्त्यक्तनीती खळरावणोऽपि

चन्द्रं विद्वायासकलङ्कलेखा ॥ २८ ॥

आसाचापीन्द्रपदवीमिन्द्रा उत्पथगामिनः ।

भ्रष्टास्तस्मात्पदात्तूणै तस्मात्तामनुपाळयेत् ॥ २९ ॥

नहुष इति स राजा प्राप्य नाकाधिपत्यं ।

इतमतिरवरुद्धो बोधहीनः खिळात्मा ।

अभवदवनिष्टृष्ठे क्षुचुडार्तोऽहिजाति-

र्निखिलहसितपात्रं यद्विनीतेः फलं तत् ॥ ३० ॥

इत्यं ये भुवि पार्थिवामृतप्रजाः ख्याता द्वयेप्यादृता -

स्तेऽर्थान्नीतिभरान्समर्ज्यं विविधान्भुक्तवाय कामानसुखम् ।

सत्कीर्तिष्वजशाळिनीं शुभत्तिं स्वस्तीर्थमास्फाल्य य-

त्प्रापुर्मुक्तिमलं फलं सुविमलं तन्नीतिबञ्चया धुवम् ॥ ३१ ॥

अहो विततगहरं दुरवबोधभावोम्भितं

महार्घमणिगर्भितं विरलतस्वभीतिप्रदम् ।

गभीरमातिशिक्षितैर्विहिततीर्थतीर्थमना-

ग्विशन्ति नयशासनं जगित केऽपि धीशालिनः ॥ ३२ ॥ तीर्थं विवरणं, तदेव तीर्थमुपायः।

> आस्तां तावदियं पुराणधरणशिनां कथामञ्जरी सन्तीवालमथाधनापि भवनाधाने गृहीतव्रताः ।

¹ Corrupt.

भूमीशा रिवसोमवंशमणयो यद्वाहुलग्ना मही खस्था विस्मृतदिक्कुलादिकलनासी हृष्टपुष्टाजनैः ।। ३३॥ इति सिद्धं यदास्त्रेषतो देवस्विमित ।

इति नीतिकल्पलतायां नीतिस्वरूपनिरूपणाख्यप्रथममञ्जर्यां नीतिमाहात्म्यवर्णनं नाम प्रथमं कुसुमम् ।

[२]

(४ अ) इत्यं बुद्धिजीविनां नीत्याख्यया सद्धुद्रयेह देवसमानत्वममुत्र तु साक्षादेवत्वमेवेति स्थितेऽप्यदृष्टस्य बङीयस्त्वात्कचिद्व्यभिचारो न दोषायेति समर्थयन्नाह ।

परंतितिः— बुधैः साक्षात्कृतपरावरैः परेहा परस्यादृष्टस्य देथेळक्षणस्ये-श्वरेच्छा या वेहा चेष्टा बिलनी बलवती मान्या बोध्या बलवत्त्वादेव पूज्या च तद्वले समापतिते नीतिबलमिक्तिचित्करतां यातीति । तथा च संजयं प्रति युभिष्ठिर-बाक्यम् ।

> ' उत सन्तमसन्तं वा बार्छ धीरं च संजय । उताबर्छ बळीयांसं घाता प्रकुरुते वशे '॥ १॥ इति

अथ वा तिदिष्क्रया जडापि नीतिफलमाजो भवन्ति पण्डिता अपि व्यर्थ-प्रयासा भवन्तीति । तथा च स एव

' उत बाळाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बाळताम् ।

ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुकमुचरन् ' ॥ २ ॥ इति

अथ वा तथा प्रेरयति यथा संपत्तावनयं कुर्वन्तो दृश्यन्ते केचित् ,
आप्रताविष नयं कुर्वन्तः केचिदिति । तथा च धृतराष्ट्रं प्रति संजयः—

¹ Corrupt.

'परप्रयुक्तो पुरुषो विचेष्टते सूत्रप्रोता दारूमयीव योषा ।

इमं तु दृष्ट्वा नियमं परस्य मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात् ॥ ३ ॥

इमं च दृष्ट्वा तव कल्मषं विभो पापोदक धोरमवर्णरूपम् '॥ ४ ॥ इति ।

मनुष्यात् एतज्जन्मपुरुषकारात् । यदसावापद्यपि धर्ममेव शरणमाभ्रयते

भवांस्तु स्वास्थ्येऽपि न तथेति प्राचीनमेव कर्म बळवदिति भावः ।

धृतराष्ट्रवाक्यं विदूरं प्रति । :—
' नदिष्टमप्यतिकान्तं शक्यमन्येन केनचित् ।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं हि निरर्थकम् ' ॥ ५ ॥

तथा

' कुष्टार्तां वियुगः शिखां बहुपदं गृह्णाति धावनाहिम् भानुः पादसहस्रमाक्प्रतिपदं संचार्यते न्रूरुणा । बञ्चन्त्ये बलिनोऽपि यल्लघुबलैः सामर्थ्यहीनैश्व य-द्धाम्यन्ते परिपूर्णवृत्तय इदं दैवस्य लीलायतम् '॥ ६॥ इत्यदृष्टवलवत्त्वकथनं नाम द्वितीयं कुसुमम् ।

[३]

भवतु परेहा बिलनी तथापि नीत्यैव सदा वर्तितव्यं न तु जा(४ व)-त्वसी त्याज्येतीदमेव बुद्धिमतां बुद्धिमत्वित्यवतारयित । तत्रापीतिः — तत्रापि उक्तनयेन परेहा या बलवन्त्वे सत्यपीत्यर्थः । अत्रैतिसम्भये विदां विदुषां भातपर्रावराणां पदं स्थानं स्थितिमापचप्येतदच्युतिलक्षणामेतत्पालनेनेवावश्यं विधेयपारं यास्यामीति व्यवसायं वा विद्धतां कुर्वन्तां विशेषेण वा धारयतां यिक्तिः नाम दुर्घटं यन्नाप्यं न यदाप्यते तज्जगित न किञ्चनाप्यस्तीति दुर्घटमि सर्वमेतदाश्रयेणाप्यते इत्यर्थः । एतच सर्वं प्रागेव गतप्रायमिति न पुनस्तन्यते । तथापि किंचिन्मात्रेण प्रदर्शते ।

शल्यराजे पाण्डवान्समागतानिशम्य उन्मेळनार्थमागते दुर्योधनेन चार्ध-मार्गादेव स्वीकृत इति दैवं बालिष्ठं मत्वा युधिष्ठिरो नयान्नाचळदिति । तथा च उद्योगपर्वणि शल्य उवाच । :—

> ' युधिष्ठिरस्य पुरुषाः किं तु चकुः सभामिमाम् । आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयाही हि मे मताः ॥ १ ॥ गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुल्यम् ॥ २ ॥ तं दृष्ट्वा मद्रराजस्तु ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् । परिष्यज्यात्रवीत्प्रीत इष्टार्थी गृह्यतामिति '॥ ३ ॥

दुर्योधनः

'ऋतवान्भव कल्याणवरो वै मम दीयताम् । सर्वसेनाप्रणेता मे भवान्भवितुमर्हति '॥ ४॥ वैशम्पायनः

> 'कृतिमित्यव्रवीच्छल्यः किमन्यत्कियतामिति । कृतिमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ ५ ॥ शल्यो जगाम कौन्तेयानाष्ट्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ ६ ॥ ततोऽस्याकथयद्राजा दुर्योधनसमागमम् । तच शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत '॥ ७ ॥

इति दैवावानिष्टे जाते बुद्धिमद्भिस्तथा नीतौ समाधेयं यथा परस्य प्रतिज्ञातोऽथोंऽपि पूर्णोभवेन च स्वार्थच्युतिरिस्यत्र निदर्शनं युधिष्ठिरः । युधिष्ठिर उवाच-

> ' सुकृतं ते कृतं राजनप्रहृष्टेनान्तरात्मना । दुर्योधनस्य यद्वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् । एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महामते ॥ ८ ॥ भवानिहृ महातेजा वासुदेवसमो युधि । कर्णार्जुनाभ्यां सं [५ अ] प्राप्ते द्वैरथ्ये राजसत्तम । कर्णस्य भवता कार्थे सार्थ्यं नात्र संशयः ॥ ९॥

तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन्यदि मे प्रियमिच्छसि।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः।
अकर्तव्यमपि ह्येतत्कर्तुमहिसि मातुरु '॥ १०॥ इति
इति दैवबरुऽपि नीत्यपरित्यागाभिधानं तृतीयं कुसुमम्॥

[8]

इयत्ताडम्बरेण यत्र भारोऽयं विहितः कासौ नीतिरिति तत्स्वरूपमाहः । अमलेत्यादिः— असौ नीतिर्यद्यपि चतुरप्रक्षेत्रृहस्पलादिभिः स्वस्वरूप्या बहु-छक्षणा प्रोक्ता तथापि अन्ततःपर्यवसानेऽमछा प्रज्ञासाविलर्थः । स्वपरिहत्तस्वं चामळत्वं । यया प्रज्ञया स्वपरिहतं निश्चयेन भवेदसौ प्रज्ञा नीतिरित्यर्थः । तथा च सुशीछरौल्याम् ॥

' नयोऽयं निश्चिता छोके यासावद्या निसर्गधीः।

तयात्र चरता छोके कासौ सिद्धिन हस्तगा ' ॥ १ ॥ इति
आद्या निसर्गधीरिति विकल्पकछोछा कछुषिताय यासाधिश्वर ऐश्वर्य समास्फालयन्स्वपरहितं कुरुत इति । कथमत्र भरो न विधियत इति भावः । इत्थं च अमलेति
विशेषणात्सर्वतः शोधितापि कौटिल्यमलभिरताधीरनर्थकारणमिति नीस्माभास एव
असाविति मन्तव्यम् । तथा च युधिष्ठिरं संजयनीतिवाक्यजातं सर्वतः शोधितमपि प्रज्ञाभास एव । यथाः—

'न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धान त्प्रयच्छन्तीमे तुम्यमजातशत्रो । मैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु राज्यं कदापि ॥ २ ॥ अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये महास्रावं निस्यदुःखं चलं च । भूयश्चतद्वयसो नानुरूपं

तस्मात्पापं पाण्डव मा प्रकार्षीः ॥ ३ ॥

निबन्धिनी हार्थतृष्णेह पार्थ

तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव ।

धर्म तु यः प्रवृणुते स बुद्धः

कामी वृद्धे हीयतेऽथीनुरोधी ॥ ४ ॥

धर्म कृत्वा कर्मणां तात सुद्धं

महाप्रतापः सवितेव भाति ।

हानेन धर्मस्य महीमपीमां

लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ५ ॥

वेदोऽधीत[५ व]श्वरितं ब्रह्मचर्य

यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम् ।

परं स्थानं मन्यमानेन भूय

आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ६ ॥

सुखं प्रियं सेवमानोऽतिवेछं

योगाभ्यासे यो न करोति कर्म ।

वित्तक्षये हीनसुखेऽतिवेलं

दुःखं यायात्कामवेगेन नुनः ॥ ७ ॥

एवं पुनरप्यर्थकामप्रसक्तो

हित्वा धर्म यः प्रकरोत्यधर्मम् ।

अश्रद्धयत्परलोकाय मृढो

हित्वा सुखं तप्यते प्रेत्य मन्दः ॥ ८ ॥

न कर्मविप्रणाशोऽस्त्यमुत्र

पुण्यात्मनां यदि वा पापकानां ।

पूर्व कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं

पश्चाचेदनुयातीइ कर्ता ॥ ९ ॥

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्यो यदनं

श्रद्धोपेतं गन्धरसोपपन्नम् ।

अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु तथा रूपं कर्म विख्यायते ते ॥ १०॥ इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ क्यार्यं न वै किञ्चिद्विचते प्रेत्यकार्यम् ॥

त्वया कृतं पारलोक्यं च कार्ये पुण्यं महात्मभिरनुष्ठितं च ॥ ११॥

जहाति मृत्युं न जरां भयं च न क्षुंत्पिपासे मनसश्चाप्रियाणि ।

न कर्तव्यं विद्यते तत्र किञ्चि-दन्यत्र वाचेन्द्रियप्रीणनार्थात् ॥ १२ ॥

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र मात्रावता हृदयस्य प्रियेण ।

स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च लोकावुमौ मा प्रहासीश्चिराय ॥ १३॥

क्रोधजेन हर्षजेन मात्रावताल्पकाल्मोज्येन कामफलेनेत्यर्गः।

नाधर्मे ते दीयते पार्थ बुद्धि-र्न संरम्भात्कर्म चकर्थ पापम् ।

अद्वा तिकं कारणं यस्य हेतोः

प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ १४ ॥

अन्याधिजं कटुकं शीर्षरोगं यशोमुषं पापफल्लोदयं च ।

यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्या-चत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ १५ ॥

कृपः शल्यः सौमदत्तिः विकर्णो विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च । प्तान्हत्वा कीटशं ते सुखं स्या-

द्यद्विन्देथास्तदनुत्रुहि पार्थ ॥ १६ ॥

लब्धापीमां पृथिवीं सागरान्तां

जरामृत्यू नैव जातु प्रजह्याः।

त्रियात्रिये सुखदुःखे च राज-

नेवं विद्वानैव युद्धं कुरुत्वम् ॥ १७ ॥

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-

रेवंयुक्तः[६अ]कर्म चिकीषीसि त्वम् ।

अपकामेः संप्रदाय स्वमम्यो

मैवापगा देवयानात्पथी वै ' ॥ १८ ॥ इति

इति सर्वतः शोधितःवाद्वाक्यजातिमदं सर्विचिन्तावर्जकमि समल्खानीत्याभास एवेति । अत्र युधिष्ठिरस्य समर्थनवाक्यम् । अमल्खांत्परमार्थनीतिरूपत्वाचाल्पम् । यथाः——

' असंशयं संजय सत्यमेत-

द्धर्भी वरः कर्मणां यस्त्रमात्थ ।

ज्ञात्वा तु मां संजय गईयेस्त्वं

यद्यधर्म यदि धर्म चरामि ॥ १९ ॥

यत्राधर्मी धर्मरूपाणि धत्ते

कृत्स्तोऽधर्मः दश्यते धर्मरूपः ।

तथा धर्मी विद्घदधर्मरूपं

विद्वांसस्तरसंप्रपश्यन्ति बुद्धया '।। २० ।। इति

अत्रार्थः । अधर्मे हिंसादिरूपोऽसौ च चौरवर्ज्यः सत्त्वादिगतो यथा धर्मः तथा क्षत्रधर्मोऽप्यसौ यथा वा मधुपर्के पशुहिंसाधर्मो गृहस्थानामग्निहोत्रादिरूपोऽसावापि बीजपश्वादिहिंसया वानप्रस्थसंन्यासिनां यथाऽधर्म एव तथा तदुक्तो वनप्रत्रज्याः

दिधर्मः प्रजापाळनाद्यधिकृतस्य क्षत्रस्याविहितःवादधर्मः । तथा राजस्ययाजिराज्ञां चूतं धर्मो नैसर्गिकोऽसाविप कपटदम्भादिप्रयुक्तस्वादधर्मरूपं विभित्ते एवं बुद्धशा प्रकाशमानं पश्यन्ति, न त्वादशास्त्वत्स्वामिसमाना वा ये इत्यर्थः । इति धर्म-विचारणायातिस्क्ष्मत्वादमळप्रज्ञैव नीतिरिति भावः । तथा युधिष्ठिरवाक्यंः—

' छुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म निष्पादयेत्तत्परीष्तेद्विहीनः ।

प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान उमो गर्ढौं भवतः संजयैतौ '॥ २१॥

एताबुमौ विहीनः प्रकृतिस्थधमै पाल्यन् प्रकृतिस्थश्वापद्धमै पाल्यनिति । तथा 'मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय

> विधायतेऽसत्सुवृत्तिः सदैव । अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः सर्वोच्छेदं साघु मन्येत तेम्यः ॥ २२ ॥

सत्त्वविच्छेदनाय देहविनाशाय, विधीयते श्रुतिस्पृतिषु न तु निषिध्यते, दृतिः प्रवृत्तिः, अत्राह्मणा वेदोक्तसीमानिर्गताः, सर्वोच्छेदं देहद्रव्यादिसर्वनाशम् । तथा

'यित्किञ्चेदं वित्तम[६ ब]स्यां पृथिव्यां यदेवानां त्रिदशानां परं यत्। प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मछोकं

नाधर्मतः संजय कामये तत् '।। २३ ।। इति सिद्धममला प्रज्ञा नीतिरिति ।

इति नीतिकल्पलतायां नीतिप्रभावदैवबलीयस्त्वंनीतिपरि-त्यागनीतिस्वरूपकथनाख्या प्रथमा मञ्जरी समाप्ता । [4] ॐ

श्रीगणेशाय नमः । एवं नीतिस्वरूपमुक्त्वा कथमसौ विघातव्येति पीठि-कामवत्यत्राह ।

> सेयं निश्चितधीभिरेकशरणैः कार्येति केचिज्जगुः सामस्त्यं किल कार्यसाधकममुत्रापीति चान्ये विदुः। मुक्तवा साहसमाकलय्य घटनां तस्माद्विदामे तथा लोकेस्मिश्चरतां न कापि कलनासौ या न हस्तं श्रयेत्॥१॥

सेयामिति:— सेयममलप्रज्ञालक्षणा नीतिर्निश्चितधीमिर्निरंतरशास्त्रपरि-चयावदातिषषणैरेकशरणैरेकः स्व एवान्तर्यामी शरणं रिक्षता यत्रेत्येवं विधेया केवलमसावन्तर्यामी यदत्रोचितं जानाति तदेव मम हितिमिति कृत्वा स्वमनसैव विमृश्य कार्येति केचिष्जगुः।

अयमर्थः । यथा परमेश्वरोऽसावेकः स्वकर्तन्येऽन्यानपेक्षः स्वविभृत्येव कार्यान्तं ग॰छति तथाहमपि तदेकशरणस्तद्वदत्रोपकरणश्च तत्प्रसादादेव कार्यान्तं ग॰छामीति किमन्येन मम कर्तन्यमिति । तथा च याज्ञवन्त्रस्यवाक्यम्——

' एकः परोस्तीह चराचराणां कर्ता स्वयं भूतिरशेषसाक्षी । न चान्यदस्तीति दक्षतितौ गति विशुद्धा परमा किमन्यद्'॥२॥ इति अथवा एकशरणैरेकं स्वमनएवात्र शरणं नान्य एतदन्तरज्ञो विधेय इति । शास्त्रानुशासिते निश्चितिधीभिरियं विधेयेति । तथा च नीतिशास्त्रम्

> ' षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णोऽपि[७ अ]जातुचित् । द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति '।। ३ ।।

तथा

'गिरिशृङ्गमुपारुह्य प्रासादं वा रहो गतः । अरण्ये निःशङाके वा तत्र मन्त्रो विधीयते '॥ ४॥ इति इति नीतिगोपनाभिधं कुसुमम् ॥ ५॥

[६]

अन्ये पुनः किलेतिः – निश्चितमेतदाधुनिकैः सामस्त्यं परसाद्दाय्यं कार्य-साधकमिति विदुः । ततश्चापेक्षानुसारेणैकं बहून्यातांश्च उयेष्ठोत्तमान्किनिष्ठ-प्राकृतान्वा सहायीकृत्य नीत्या कार्यं साधयेदित्यर्थः । तथा च सुशीलशैल्याम्

> ' अनन्तकार्यसीमान्तं गन्तुमेकः कथं प्रभुः । उन्मूल्यशत्रून्साहाय्यादेत्य कार्यान्तमभ्यधीः ' ॥ १ ॥ इति

ब्यतिरेकबोधोऽपि तत्रैवोक्तः ।

' असंमन्त्रयकृता तत्तत्फ्लासिद्धावनर्गला । सर्वोपालम्भरसना कथं नाम न दूषयेत् ॥ २ ॥ इति तथा

> ' समंन्त्र्यकारिणां जातु फलासिद्धीच पूरुषम् । संश्लाध्य निन्यते दैवं धिगुद्धोगारिमुद्धतम् ॥ ३ ॥ बहुनालं निनिश्चत्य बहुभियदिधीयते । तदेकनिश्चितं दूराद्विजित्य सफलं भनेत् ॥ ४ ॥ न बुद्धिधर्म एकोऽस्तीत्येवं निश्चित्यमाररैः । नयरत्नमिदं धीमन्मुद्रयस्वानवेक्षया '॥ ५ ॥

अत्रार्थः । कदाचित् कस्यचित् धीरत्र पारमेष्यत्येवेतीदं नयरानमर्रैः कुकलपन नारूपैर्गालैरनवेक्षयाऽनाश्रयणेन मा मुद्रय माऽऽबद्धमुखं कुरु । अवश्यं कस्याप्येन तन्नीतिरस्नं बुद्धिधर्मउन्मुद्रितं कार्यसिद्धये स्यादेवेति ।

> आहुश्वः पूर्वे निपुणा द्वाभ्यामेको विजीयते । बहुभिश्चापि तौ सत्यं सदैव सफ्छो नयः ॥ ६ ॥ कालान्तरफलायालं तत्क्षणं न फलेबादि । कृतं हि सुकृतं लोके न जातु विफलं भवेत् ॥ ७ ॥ देशीकः पुरकार्येषु विधीयो धीघनैः सह । आरवेटोऽसौ बहुधीनो यूथो नैकस्य गोचरः ॥ ८ ॥

नारमादृतेऽन्यदस्ति सम्भाव्यापदमायती । असी विधेयः सद्दैवैरभ्यस्तमितिभिः सदा ॥ ९ ॥ आयव्ययपरिज्ञानचतुरैर्दीर्घदिशिभिः । (७ ब) आरब्धोऽयं विदां सत्यं सत्प्तलाय दृढं भवेत् ॥ १० ॥ उक्तं च प्राक्तनैर्धेष्ठकिनिष्ठे।त्तमपामैरः । प्रतीतिपात्रैरेषा धीः कर्तव्या भन्यबुद्धिभिः ॥ ११ ॥ कदापि संभवत्येषा धीः किनिष्ठार्वतामिप या ज्येष्ठोत्तमसाधूनां मनोरथपथातिगा ॥ १२ ॥ इति

अलं वा बहुना यत्र परलोकमार्गे स्वजनबन्धादित्यागेनैक एव गच्छतीति लोके प्रासिद्धिः । तत्रापि नैकस्यास्य निर्वाह इति दृष्टान्तद्वारेणावतारयति । अमुत्रेतिः— अमुत्र परलोके सामस्लमेव कार्यसाधकं माविजनमान्तरसाधकं तत्र किं वक्तव्यं सर्वसंभारभरित इह लोक इति । परलोकमार्गे हासौ लोकप्रसिद्धैक एव गच्छन् सहाय एव तत्रापि गच्छतीति । तथा च सूत्रकारः

' तदनन्तरप्रतिपत्तौ रहितसंपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्यामिति'।

अनेन द्दीन्द्रियप्राणमात्रासिहतस्यैव व्यावहारिकजीवस्य प्रयाणं ब्रूते इति । अथ च उक्तं परमेश्वर एकोऽसहाय एव स्वविधयं निर्वहतीति किमित्यपूर्व-मन्यदुत्यापितिमिति न मन्तव्यमित्यवतारयित । अमुत्रापीतिः— अमुत्र परमे-श्वरेप्येवं ससद्दाय एवासाविप करोतीति स्वकर्तव्ये प्रथमं स्वविभूतिप्रसारणात् । तथा च निदर्शितम् ।

तथा च स्वयमीशोऽसी स्थित्वान्तश्चतुरात्मना । विविच्य कुरुते यात्रां तदभावे कुतः स्थितिः ॥ १३ ॥ इति

अत्रार्थः स्वयमन्तर्यामितया स्थित्वा चतुरात्मनान्तः करणचतुष्कतदिधि-ष्ठातृसंकर्षाणां चतुष्कतया विविच्य चिःसंकल्पनिश्चयाह्नतामिः पृथक्कृत्य यात्रां स्रोकन्यवहारं कुरुते इति । अत्रैवोक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन द्रहयति । तद्मावे इति तथा चोक्तम् ٠٠.٠٠

'पञ्चकेयमते। लोके सभा रूढिं गता तया । न जालेषा विपर्येति पञ्चस्वीश इति स्थितिः '।। ४ ॥ इति

अत्रार्थः — स्वयं स्वपदे चतुर्भिविवेचनादिकर्तृत्वं यात्रेति पश्चकापछ (८ व) संज्ञा सभा लोके रूढिं गता यत्र कुत्रापि न्यवहारे सभापञ्चकेति गीयते इति । अस्या महत्त्वमाह । अन्येतिः — अनया पश्चकलक्षणया सभयेयं यात्रा न जातु विपर्येति फलकाले विसंवादं नाप्तोति । अत्रापि लोकिकमाभाषणकमुत्थापयित । पञ्चस्वितिः — पञ्चसु परमेश्वर इति लौकिका अपि वदन्तीति अत एव पञ्चा यतनपूजापि लोके मुख्यतया रूढेति ।

इति समेत्यकारणाभिधं कुसुमम् ॥ ६ ॥

[9]

अस्याः कर्तव्यशेषायाह मुक्त्वेति । तस्मादितिः — यस्मान्नीतरेवमपेक्षानु-सारेणैकानेकज्येष्ठकनिष्ठादिरूपेण कर्तव्यत्त्वमस्ति तस्माद् घटनां कार्थसंगतिमा-कळ्य चित्तेन विमृष्येदं कर्तव्यमिति साहसमविचारत्वरां सम्भमं त्यक्त्वानयारीत्या-चरतां व्यवहरतां कासी कळना कार्यचिन्ता या हस्तं न श्रयेत् स्वविधेया न भवेत् । त्वर्यावश्यं कार्यनाशदर्शनाद्विचारक्षमे कार्ये न त्वरा कार्येति दैत्यसर्गत्वादस्याः । तथा चोक्तम् :—

> ' मदोद्धतमतीन्दैत्यानुन्मूळियितुमञ्जसा । यासौ भगवता रीतिः स्थापितासौ त्वरा मता ॥ १ ॥ पूर्वापरानुसन्धानवैकल्यं या त्वरास्ति सा । नास्तिक्यमथ वा भ्रान्तिरविचारो क्षमापि वा ' ॥ २ ॥ इति ' तितिक्षया विचारेण या विधेयाद्रवर्तनां । सेषास्तिक्यं विशुद्धोऽसौ संकल्पश्चेश्वरीगतिः ॥ ३ ॥

¹ Corrupt.

विमृष्यकारिता नाम कार्यशोभाविधायिनी । अविमृष्यिक्रया नूनं कार्यमालिन्यकारणम् ॥ ४ ॥ शनैः शनैः क्रियारब्धा बलिने स्वेष्ट सिद्धये । पर्यवस्यशयप्राप्ता भवेदिति विनिश्चयः ॥ ५ ॥ क्रियोष्मणा समारब्धा विदग्धा दुर्बला सती । अप्राप्याभीष्सितं पुंसां बलाद्धस्तात्पलायते ॥ ६ ॥ न परं स्वार्थनाशाय त्वरेयं भवि जायते । लोकभारः स्वलजा च विशेषोऽधिक ईक्ष्यते '॥ ७॥ अत्राप्यदाहरन्तीदं मकराख्यनमुत्तमम् । ' आसीत्सरसि कस्मिश्चिन्मकरात्रितयं पुरा । तत्राद्यो यद्भव ८ ब]नामा द्वितीयोऽतीतदर्शि । प्रत्युत्पन्नमतिश्चापि तृतीयस्तित्वयां बुवे । ॥ ८ ॥ कदाचिजालिकास्तत्र समायाता यदच्छया । विलोक्य सरसस्तस्य निम्नीनत्यं धृति दधः ॥ ९॥ अथ निर्गममार्गाणां स्तैमित्याच्छाङ्किताशयः । द्वितीयोऽसौ समास्फाल्य स्रवन्मार्गेण निर्गतः ॥ १० ॥ परितो रुद्धवाहां तां विधाय सरसीं च ते । जालान्याचकुषुस्तत्र तृतीयोऽसौ समागतः ॥ ११ ॥ तदोत्पन्नमतित्वात्सोऽभिनीय मृतकाकृतीम् । ततः सुदूराद्विक्षिप्तो विचारनिरतोऽभवत् ॥ १२ ॥ येनाभिनयेनाहं विमुक्तो मरणादसौ । कथं हीयेत मयका विचारों मुक्तिकारणम् ॥ १३ ॥ अस्तु कि नामया कुर्युरेतेस्सद्दधजीविनः । विचारोऽयं न हातन्यो दश्यतां किं समापतेत ॥ १४ ॥

¹ Corrupt.

संभाव्य तान्गतान्दूरे परानयनविक्कवान् । जीबोत्थायं समास्फाल्य जलस्यन्तिकमप्सरः ।। १५ ॥ जालान्याकृष्य ते तत्र प्रयत्निन्रतास्ततः । आदंतं प्रोच्छलद्वात्रं गृहीत्वा तटमाययुः ॥ १६ ॥ कुठारान्समुपादाय मामेति कृतसंविदः । खण्डशस्तं कुधा कृत्वाऽऽदाय जग्मुर्यथागतम् ॥ १७ ॥ इति पाकं समालोच्य विचारत्वरयोर्बुधः । समाहितमतिर्भूत्वा विचारनिरतो भवेत् ॥ १८ ॥ छोभाद्याधिक्यतः क्रोधाविभीवाचाप्यसौकिया । न जातु धीमता कार्या दूषणासौ गरीयसाम् ॥ १९ ॥ बुद्धिवल्गां समुत्सुज्य क्रोधदुर्वाजिगो हि यः । धावते पतनं तस्य स्रू मं स्यात्पदेपदे ॥ २०॥ शिरः पादौ समालोच्य घीमान्कार्यशरीरिणः । विचारामृतसेकेन पृष्टि कुर्यानिरंतरम् ॥ २१ ॥ तन्मारत् यां क्रियां कृत्वा वीडास्यात्कार्यकारिणाम्। पश्चातापोऽपि वा हा ं किं कार्यमेतत्कृतं मया ॥ २२ ॥ धराधिपत्यकार्येषु नैव धोरणधोरणै: । पदं विधेयं संधार्य संधार्येषोचिता किया ॥ २३ ॥ शतशः पुरुषानेकक्षमा मार्यितं क्षणात् । राक्तानां गण्यते राक्तिर्यदि जीवेत संस्थितः ॥ २४ ॥ दृष्टं विमुष्यकर्तृणां सदावदनसुष्वलम् । [९ अ] निन्दापङ्कावृतं चापि कार्ये साहसकारिणाम् ॥ २५ ॥ इत्यं च कोपवेळायां नृपेणाज्ञाकषां बळात्। प्रत्यावर्त्य समाधेयं दढकार्यान्तदर्शिना ॥ २६ ॥ इति मकराख्यानं नाम कुसुमम् ॥ ७ ॥

¹ Corrupt.

[2]

नाशं सहासकार्येति सम्पत्तावपि मृढधीः । बुद्धिं संमन्त्र्यकार्येति विपत्तावपि बुद्धधीः ॥ १ ॥ तथा हि दश्यतां रामरावणौ तादशस्थिती । निदर्शनगिहामुल जग्मतुर्यत्समाश्रयात् ॥ २ ॥ विमृष्य कालं सोद्वापि सौष्ठवं याति घीमताम् । पणितं चापि यत्कार्यं त्वरानर्थाय केवलम् ॥ ३॥ तथा च शिखरारूढो कौचित्किल परस्परम् । उद्दिश्य वसनादानं भूप्राप्तौ पेणतुः पुरः ॥ ४ ॥ तत्रैको वृद्धिमादाय सुखेन भुवमागतः । अपरस्त्वर्या छोकहास्याय प्रलयं गतः ॥ ५ ॥ जायते सिद्धये शीघं विमुख्य विहिता किया। क्षेणया सिद्धये चापि त्वरानर्थेककारणम् ॥ ६ ॥ श्रयते कौचनारण्यं गताविङ्गारसिद्धये । चिरकारीद्वतं प्राप्तःक्षिप्रकारी चिराद्रहम् ॥ ७ ॥ प्रज्वाल्य विद्वं निर्वाप्य बद्धा भारं सुखाद्गृहम् । प्राप्तोऽसौ चिरकृत्साधु फलेन युयुजे पुनः ॥ ८॥ क्षिप्रकारी द्वतं भारं बद्धा मार्गेऽनलोदयात् । तहवा गरवा नदीं भारं निर्वाप्यापार्घभाविचरम् ै।। ९॥

इति संभ्रमविचारफलाभिधं कुसुमम् ॥ ८॥

[9]

इति नीतिपीठिकां व्यवस्थाप्य तामेव नीति विवृण्यन्नतारयति ।
समर्ज्यं पाण्डित्यं स्वपरहितकृत्कीर्तिजनकं
न मौर्ज्यं घीपात्नैरिहच परलोके च भयदम् ।
सद्।सङ्गो घार्यः सुजनग्रुभशास्त्रार्थनिरतै
न भृतैः पाषाण्डप्रवणमातिभिर्वञ्चन परेः ॥

समर्ज्यमितिः चाँपात्रैः परमेश्वरसमर्पितबुद्धयाख्यानध्यमिणिरक्षणचतुरैः पाण्डित्यमेव समर्ज्यं सर्वमन्यादिहायैतदेव प्रयत्नेन पण्डितगृहानागत्य विनयेन प्रार्थ्यमिति प्रतिज्ञा । तत्र विशेषणद्वारेण हेत्वादि निरूपणार्थमाह । स्वपरेतिः तत्र पण्डा शुद्धा मितः सा संजातास्येति पण्डितस्तस्य भावस्तत्त्वमेतद्वश्यं समर्जनीयमेतदिना जीवनमात्रस्याप्यतिदुर्घटत्वात् । तथा च

' जीवत्यर्थद्ररिद्रोऽपि धीदरिद्रो न जीवति '। इति अनेन हि चरतां व्यवहरतां (९ व) स्वहितं परहितं चानुभूयान्ते कीर्ति-स्थापनाल्लोकानन्त्यमपि सिद्ध्यतीत्युक्तं कीर्तिजनकिति। तथा च भगवान् व्यासः

> ' दिवं स्पृशिति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः । यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ १ ॥ इति

तथा

' यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्यछोकेषु गीयते ।
तावत्स पुरुषव्यात्र स्वर्गछोके महीयते '॥ २॥
इति प्रसिद्धं चेन्द्रयुम्नोपाख्यानादाविदमिहतु विस्तारभयान्न प्रतन्यते ।
पाण्डित्यं समर्ज्यमित्युक्तेऽर्थान्मौद्ध्यं न समर्ज्यमिति छन्धेऽपि विनये सौकर्यार्थमेतदपि साक्षादेवोदिशति । न मौर्च्यामितिः तत्र मृर्खीऽविवेकी कार्याकार्य
विवेकद्दीनस्तद्भावो मौर्द्ध्यं तन्न समर्ज्यमिति पूर्ववत्प्रतिज्ञा । अत्र हेत्वादि निरूप्पणार्थं विशेषेणोपन्यास इहेत्यादि । एतदुभयछक्षणानि च धृतराष्ट्रं प्रति विदुरो
विक्ति स्म यथा—

' निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते । अनास्तिकः श्रद्धधान एतत्पण्डित लक्षणम् ॥ ३ ॥ कोधो हर्षध्व दर्पश्व हीःस्तम्भो मान्यमानिता । यमर्थानापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ४ ॥

अर्थात् स्वबुद्धिनिश्वयात्—

यस्य कृति न जानित मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।

शृतमेवास्य जानित स वै पण्डित उच्यते ।। ५ ॥

शृतं फिलेतं फले जाते जानित अनेनेदं कृतमासीदिति ।

यस्य कृति न निघनित शीतमुण्णं भयं रितः ।

समृद्धिरसमृद्धित्री स वै पण्डित उच्यते ॥ ६ ॥

यस्य कृति न जानित मन्त्रं वा नीतिसंयुतम् ।

धर्ममेत्रास्य जानित स वै पण्डित उच्यते ॥ ७ ॥

अत्र कृतमन्त्री कामार्थप्रधानौ कामार्थी गुप्तमेव रचयतीत्वनेन तत्रोभयत्रास्वारस्यं सूचितम्।

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।

कामादर्थे वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ ८ ॥

संसारिणी सम्यक्सरणशीला । अयमर्थः कामापेक्षयार्थं वृणीतेऽर्थापेक्षया धर्म

कृणीत इति धर्मार्थमेव केवलं कामार्थी सेवते इति । तथा[१० अ]चामिक्षवाक्यम्:—

' स्थित्ये दण्डयती दण्डयान् परिणेतुः प्रसूयते । अप्यर्थकामी तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः '।। ९ ।। इति यथाराकि चिकीर्षन्ति यथाराकि च कुर्वते । न कंचिदवमन्यन्ते पण्डिता भरतर्षभ ।। १० ।। क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विद्वाय चार्षं भजते न कामात् ।

नासंस्पृष्ट उपयुङ्के परार्थे तस्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ११ ॥

चिरं शृणोति शङ्कानिरसावधि, अर्थमळं विज्ञाय भजते अनेन ममासावर्थः सिद्धयतीति भजते तत्र सक्तिं कुरुते, न कामात् इच्छामात्रात्, असंस्पृष्टस्तदनं-तरमप्राप्तः परार्थविषये नोपयुङ्के उपक्रमते, प्रज्ञानं चित्रम् ।

नाप्राप्यमिनाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्। आपरसु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितवृद्धयः ॥ १२ ॥ निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः। अवन्ध्यकास्रो वन्द्यातमा स वै पण्डित उच्यते ॥ १३ ॥

उपायं निश्चित्य प्रक्रमते, शीवं करोति, नार्न्तवसित आरम्य चिरयति, कर्मा-समाप्य वा न मध्ये तिष्ठति, अवन्ध्यकाळः सदाप्रयोजनवान् अवसानज्ञो वा, अथवा प्रथमे शास्त्रार्थचिन्ता द्वितीयेऽर्थादिचिन्ता तृतीये धर्मचिन्तेत्यादि ।

> आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूमिनाशं न कुर्वते । हितं च नाभिस्यन्ति पण्डिता भरतर्षम ॥ १४ ॥ न हृष्यस्यात्मसंमाने नावमानेन तप्यते । गङ्गाह्द इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ १५ ॥ तस्त्र सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् । उपायज्ञो मनुष्याणां स वै पण्डित उच्यते ॥ १६ ॥

भूता[१० ब]नां पृथिन्यादिविकाराणां, तत्त्वं विनाशित्वादि, योग औ।चित्यम्, मनुष्यकर्तन्योपायज्ञश्च ।

प्रवृत्तवाक्चित्तकथऊहावान्प्रतिभानवान् । आशु प्रन्थप्रयुक्ता च स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥ प्रतिभा तत्काळस्फूर्तिः ।

> श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा। असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां छभेत सः ॥ १८॥

अर्थे महान्तमासाथ विधामैस्वर्यमेव च । विचरस्यसमुनद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥ इति व्यावहारिकपण्डितसाक्षाल्लक्षणकथनामिधं कुसुमम् ।

[९अ]

अवार्थिकं तद्वक्षणम् ।

यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।

विशेषविच्छूतवान्क्षिप्रकारी

तं सर्वछोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १ ,।

जानाति विश्वासयितुं मनुष्या-

न्त्रिज्ञातदोषेषु ददाति दण्डम् ।

जानाति मात्राश्व तथा क्षमां च

तं तादृशं श्रीजियते समप्रा ॥ ८ ॥

मात्राविषयान्द्रेयत्वेन जानाति, क्षमामुपादेयत्वेन । अथवा अक्षमामिति च्छेदः । सुदुर्वेटं नाभिजानाति कंचि-

युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।

न निप्रहं रोचयते बलस्यैः

काले च यो विक्रमते स धीरः ॥ ३ ॥

बुद्धिरेषा यत्कंचिदिप नातिदुर्वछं जानाति ततो बलार्जनेऽवछेपो न कार्यः, बलं सर्वथा समर्थ्यम्, बिलनं रिपुं समीक्ष्य समाहितो भूत्वा रिपुं सेवेत, एतदाश्रितोऽ-साविति छोकेष्वपि प्रदर्शयन् रिपुं सेवेतिति बुद्धिपूर्वमिति कथनस्यारायः। काले स्विकमकाछे।

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-द्विदांसमन्त्रिच्छति चाप्रमतः । दुःखं च काले सहते जितात्मा

घुरंघरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥ ४ ॥

विद्वान्प्रतीकारज्ञः, अप्रमत्तः कार्यसीमाभिलाषी ।

अनर्थकं विप्रवासं गृहेम्यः

पापैः सर्निध परदाराभिमर्षम् ।

दम्भं स्तेयं पैशुनं मद्यपानं

न सेवते यः स सुखी सदैव ॥ ५ ॥

न संरंभेणारभतेऽर्थवर्ग

चाकारितः शंसति सत्यमेव ।

न प्रश्नार्थे रोचयते विवादं

नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥ ६ ॥

(११ अ) संरंभेण परोत्कर्षदर्शनकोधेनार्थवर्गे स्वधनं नारभते, स्वधनमहमपि युगपहृद्धिं नयामि युगपच वृद्धो भवामीति न प्रयुज्येत, अथवार्थवर्गे त्रिवर्गे संरंभेण कोधमात्रेण कोधावेशेन धर्मार्थकामान्न विनाशयेदिस्यर्थः । आकारितः साक्ष्येण, मित्रार्थे मित्रप्रयोजने ।

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च

न दुर्बलः प्रातिभाष्यं करोति।

अत्याहिते किश्चिग्क्षमते विवादं

सर्वत्र ताद्यञ्चभते प्रशंसाम् ॥ ७ ॥

नाभ्यस्यति गुणिनम्, अनुकम्पते दीनम्, न प्रातिभाष्यं करोति स्वप्रधित-स्यास्य दानप्रसङ्गात्, अत्याहिते महाभये, तदानीं विवादे क्रियमाणे कार्यनाश-प्रसङ्गात्।

> यो नोद्धतं कुरुते जातुवेषं न पौरुषेणापि विकत्यतेऽन्यान् । न मूर्च्छितः कटुकान्याह कंचि-स्प्रियं सदा तं कुरुते जनोऽयम् ॥ ८ ॥

मूर्च्छितो वृद्धिं प्राप्तोऽथवा पीडितः केनचित्।

न वैरमुद्दीपयित प्रशान्तं न दर्पमारोहित नास्तमेति।

न दुर्गतोऽस्मीति करोति मन्युं तमार्यशीलं परमाहुरर्थ्यम्॥ ९॥

नास्तमेति नात्मानं गोपयित को मां पश्यतीति पापं न करोति, मन्युः शोकः।

न स्वे सुखे कुरुतेऽतिहर्षे

नान्यस्य दुःखे भवति प्रतीतः । द्रांवा न पश्चात्कुरुतेऽनुतापं न कर्थते सत्पुरुषार्थशीलः ॥ १० ॥

प्रतीतो हृष्टः,

देशाचारान्समयान्ज्ञातिधर्मा-

न्बुभूषते यस्तु परावरज्ञः ।

स यत्र तत्राधिकृतः सदैव

महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥ ११ ॥

यस्मिन्देशे य आचारः कर्तन्यस्तं तथा करोति, समयान्प्रतिज्ञारूपानियमान्।

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं

राजाद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।

मत्तोनमत्तेर्दुर्जनैश्व प्रवादं

यः प्रज्ञावान्वर्जयेत्स प्रधानम् ॥ १२ ॥

परवश्वनेच्छया धर्मानुष्ठानं दम्भः, अनात्मन्यात्मधीर्मोद्दः, द्वेषणप्रकृत्या पापिक-यारोपणं मत्सरः, बहुभिवेरम् पूगवैरम् ।

शमं शौनं दैवतं मङ्गालानि
प्रायिश्वतं विविधां छोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैल्य[११ब]कानि
तस्योत्थानं देवता धारयन्ति ॥ १३॥

देवतार्थं कर्म देवः, लोकव्यवहारसिद्धाधर्मा लोकवादाः, उत्थानमभ्युदयम् । समैविवाहं कुरुते न हीनैः

समै: सद्धं व्यवहारं कथाश्व ।

गुणैर्विशिष्टांश्च पुरोददाति

विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥ १४ ॥

मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो

मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।

ददाति मित्रेष्वपि याचितो य

स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥ १५ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य

नान्ये जनाः कर्म विन्दति किश्चित् ।

मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च

नाल्पोऽप्यस्य व्यथते कश्चिद्र्यः ॥ १६ ॥

विप्रकृतं विरुद्धकृतं, व्यथते हस्ताद्भश्यति ।

यः सर्वभूतप्रथमो विशिष्टः

सत्यो मृदुर्दानकुच्छुद्धभावः।

अतीव सन्धायति ज्ञातिमध्ये

महामतिर्जन्य इव प्रसन्नः ॥ १७॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः

स सर्वलोकेशवरो भवत्यत।

अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः

स्वतेजसा सूर्य इवावभासते ॥ १८॥

भारमनापत्रपतेऽन्येनानुक्तोऽपि स्वकृतं व्यलीकं स्वयं ज्ञात्वा लज्जते।

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत।

अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृषाः ॥ १९॥

मिथ्योपेतानि मिथ्याचरितानि, अनुपायप्रयुक्तत्त्वादुःखोदकीणि। तथैव योगविद्दितं न सिध्येत्कर्मे यन्नृषु। उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्छपयेन्मनः॥२०॥

उपाययुक्तमपि कर्मयोगेन युक्त्यापि विहितं चेन्न सिध्येत् न तत्र मनो ग्छप-येत् दैवप्रतिबद्धत्वात् तस्येत्यर्थः।

> अनुबन्धानवेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु । संप्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ २१॥

सानुबन्धेषु सदोषोत्पादेषु सप्रतिबन्धेष्विति यावत्, अनुबन्धान्यारम्भप्रति-बन्धात् ।

> अनुबन्धं च संप्रेक्ष्य विपाकांश्वेव कर्मणाम्। उत्थानमात्मनश्वेव धीरः कुर्वीत वा न वा॥२२॥

अनुबन्धः साधनं, विपाकः फलं, उत्थानं शक्तिः, अत्र कर्मण्येतानि साधना-न्येतत्फल १२ अ मितावती मम शक्तिरिति विचार्य कुर्वीत न वा कुर्वीत।

> यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये। कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते॥२३॥

यः कोशादिषु त्रिषु प्रत्येकं क्षयस्थानवृद्धीनां प्रमाणमनुबन्धविपाकोदयलक्षणं न बेदेति ।

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्ताननुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोज्ञीने स राज्यमधिगण्छति ॥ २४॥
न राज्ञा प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रततम् ।
श्रियं ह्यविनयो हृन्ति जरारूपमिवोत्तमम् ॥ २५॥

असाम्प्रतं नीतिविरुद्धामिदम्।

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छनं मत्स्यो बिडिशमायसम् । रूपातिपाती प्रसते नानुबन्धमनेक्षते ॥ २६॥ रूपातिपाती भक्ष्यरूपमात्रे पतन्, अनुबन्धं पश्चाद्वन्धम् । यच्छक्यं प्रसितुं प्रासं प्रस्तं परिणमेच्च यत ।
हितं च परिणामाद्यत्तद्यं भूमिमिच्छता ॥ २०॥
वनस्पतेरपकानि प्रखानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्तोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ २८॥
यस्तु पक्रमुपादत्ते काले परिणतं प्रलं ।
फलाद्रसं स भजते बीजाचैव प्रलं पुनः ॥ २९॥
यथा मधु समाधते रक्षनपुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदबादिविहिंसया ॥ ३०॥
पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मृङ्क्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ ३१॥
किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्योद्वा पुरुषो न वा ॥ ३२॥

प्रमाणं नैव जानातीस्यस्यवै निदर्शनमिदं पुनर्विमर्शार्थं दोषाणां दुरुह्त्वादिति भावः।

> अनारम्या एव भवन्त्यर्थाः केचित्तथागता । कृतः पुरुषकारो हि भवेषेषु निरर्थकः ॥ ३३ ॥

अगता अप्राप्ताः केचित्पर्वतपाटनादयः अनारभ्या एवाशक्यस्वात्, हिरण्यार्थे भिनन्नमः कृतोऽपीति ।

> कांश्विदर्यानरः प्राज्ञो छष्टुमूळान्महाफळान् । क्षिप्रमारमते कर्तुं न विद्ययति ताहराान् ॥ ३४ ॥ ऋजु पश्यति य सर्वं चक्षुषानुपिबनिव । आसीनमापि तृष्णीकमपि रज्यन्ति तं प्रजाः ॥ ३५ ॥ चक्षुसा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्वि[१२व]धम् । प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदिति ॥ ३६ ॥ यस्मात्त्रस्यन्ति भूतानि मृग्व्याधान्मृगा इव । सागरान्तामपि महीं स ळव्ष्वा परिहीयते ॥ ३७ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान्स्वेन तेजसा ।
वाय्रअमिवासाय अंशयत्यनये स्थितः ॥ ३८ ॥
धर्ममाचरतो राज्ञः सिद्धिश्चरितमात्मनः ।
वसुदा वसुसंपूर्णा वर्धयेद्भूमिवर्धिनी ॥ ३९ ॥
अथ सन्त्यजतो धर्ममधर्मे चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ ४० ॥
य एव यत्नः कुरुते परराष्ट्रावमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ४१ ॥
धर्मेण राष्ट्रं विन्देत धर्मेण प्रतिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥
अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाश्च परिसर्पतः ।
सर्वतः सारमादध्यादश्मभ्यः इव काञ्चनम् ॥ ४३ ॥
परिसर्पतोऽस्थिरवारसर्वतो धावतेव ।
अव्याकृतानि सुधियां सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन्धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ४४ ॥

कणिकाधर्जनं शिल इति ।

गन्धेन गावः पश्यन्ति शास्त्रैः पश्यन्ति पण्डिताः । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्म्थामितरे जनाः ॥ ४५ ॥ भूयांसं छमते क्षेशं या गौर्भवति दुर्देहा । अथवा सुदुद्दाभावं नैवं तां विनियुज्यते ॥ ४६ ॥

सुशीळः स्यादित्यर्थः ।

यदततं प्रणमित न तत्संतापमईति । यदा स्वयं नतं दारू न तत्संनामयन्त्यपि ॥ ४७ ॥ एतयोपमया धीरः सन्तमेत बङीयसे । इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बङीयसे ॥ ४८ ॥ इन्द्राय परमेश्वराय ।

पर्जन्यनाथाः परावो राजानो मित्रबान्धवाः ।

पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणाः वेदबान्धवाः ॥ ४९ ॥

मित्रं मण्डलस्यं बान्धवत्वं च तैरुपकृतत्वात् ।

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते । मृजया रक्ष्यते रूपं कुळं शिलेन रक्ष्यते ॥ ५० ॥

योगोऽभ्यासः मृजा तद्दर्तनम् ।

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वानरक्षत्यनुक्रमः । अभीक्ष्णदर्शनं गाश्व स्त्रियो रक्षत्यचेरुता ॥ ५१ ॥

मानेन यत्तानिश्चयेन तस्य चौरैनियनासम्भवात् अथवा मानेन मापनेन । मानहीनं हि स्थापितं धान्यं [१३अ] राक्षसा नयन्तीति छौकिकाः । अनुक्रमः प्रत्यहं चाळनम् । अमीक्ष्णदर्शनं गा रक्षति । मध्येद्यासाद्यं छाभे नाशसम्भवात् । अचेळतेति वा प्रोषितमर्तृका-विषयम् ।

न कुछं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मितः । अन्येष्यपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ५२ ॥

महाकुरुस्य हि महत्कुरुं निराक्ष्याकार्यकरणे मतिः सज्जति सद्वृत्तानां तु नीच-कुरुजातानामपि अकार्यकरणे रुखा भवति ।

यः ईर्ष्टः परिवत्तेषु रूपे वीर्ये कुळद्वये ।
सुखे सीमाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ५३॥
परिवत्तादीर्षा न कार्या इति भावः ।

अकार्यकरणाद्गीतः कार्याणां च विवर्जनात्। अकाळे मन्त्रभेदाच येन मांचेन्न तात्पेवेत्॥ ५४॥

अकार्यकरणादिह छोके परछोके च भयं, तथावश्यकर्तव्यानां विवर्जनाश्च । अकाछे फछनिष्पत्तेः प्राक्, एभिक्किभिः भीतः संभ्रान्त इव भवति । एवमन्यैरि मदकारकैर्यदि माचेद्वान्तो भवति न तत्पिबेत् ।

¹ Corrupt.

विद्यामदो धनमदस्तृतीयो जातिसंमदः।
मदा एते विलिप्तानामेतदेव सतां दमाः॥५५॥
जिता सभा वस्त्रवता सधनो गोमता जितः।
अध्वा जितो यानवता सर्वे शीलवता जितम्॥५६॥

शीछं रक्षणीयमिति प्रकृतमन्यदृष्टान्तत्वेन ज्ञेयम् ।

शीलं प्रधानं पुरुषे तश्वस्येह विनश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थों न धनेन न तु बन्धुना ॥ ५७ ॥
आढधानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।
तोयोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षम ॥ ५८ ॥
संपन्नतरमेवानं दरिद्राः भुक्षते सदा ।
क्षुस्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लमा ॥ ५९ ॥

संपनतरं स्वादुतरं मिष्टमित्यर्थः ।

प्रायेण श्रीमतां छोके भोक्तं शक्तिन विद्यते । दिद्राणां हि राजेन्द्र त्विप काष्टं हि जीर्यते ॥ ६० ॥ अवृत्तिभयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् । उत्तमानां तु सत्त्वानामवमानात्परं भयम् ॥ ६१ ॥ [१३व] ऐश्वर्यमदपापिष्ठाः सदा पानमदादयः । ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विमाद्यति ॥ ६२ ॥

ऐश्वर्यमद्यापिष्ठो निन्दिततरो येभ्यो मदेभ्य ऐश्वर्यमद एव पापिष्ठः पतनकारणं येषां ते । तथा

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरिन प्रहै: ।
तैरयं ताप्यते छोको नक्षत्राणि महैरिव ॥ ६३ ॥
प्रहाक्रमणं नक्षत्रतापः स च तेषु जातानां पीडा ।
यो जितः पश्चवर्गेण सहजेनात्महारिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते ग्रुक्षपक्ष इवोद्धराट् ॥ ६४ ॥

पञ्चवर्गेण बाह्येन्द्रियैः, सहजेन शरीरेण सहात्पत्तेन, आत्महारिणा मनःक्षोभ-कारकेण ।

> अविजित्स य आत्मानममात्यान्त्रिजिगीषते । अमित्रान्याजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ६५ ॥ आत्मानमेत्र प्रथमं देशरूपेण यो जयेत् । ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीपते ॥ ६६ ॥

देशं देहरूपं मनः ।

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिणम् । परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यन्तं श्रीनिषेवते ॥ ६७॥

विकारिणं रात्रूणाम् ।

रथः शरीरं पुरुषस्य सर्वमात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः । तैरप्रमत्तः कुशली सदाश्वेदीन्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥६८॥ एतानि प्रगृहीतानि न्यापादयितुमप्यलम् । अयानाही इवादान्ता हयाः पथिषु सारथीम् ॥ ६९ ॥ अनर्थमर्थतः पश्यन्तर्थं चैवाप्यनर्थतः । इन्द्रियैः प्रस्ततो बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ७० ॥

अनर्थं विषयासाक्तिः, अर्थः परमार्थः।

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियत्रशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ७१ ॥
अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भरयते हि सः ॥ ७२ ॥
आत्मानमात्मनान्त्रिक्टेन्मनोबुद्धीन्द्रियेर्युतः ।
आत्मेव ह्यात्मनो बन्ध्ररात्मेव रिपुरात्मनः ॥ ७३ ॥
अद्यक्षेणेव जालेन कवाविपहितावुरु ।
[१४अ] कामश्व राजन् कोधश्व तौ प्रमत्तं विकृष्यतः ॥ ७४ ॥

(यथा मत्स्यौ जालमाकृष्य गच्छतः) समवेक्ष्येष्ट संभागन्धर्मार्थौ योऽधिगच्छति । स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥ ७५ ॥

संभारान्साधनानि ।

यः पद्धाभ्यन्तरान्शत्रृनविजित्य मनःक्षयान् । जिगीषति रिपूनन्यान्रिपयोऽभिभवन्ति तम् ॥ ७६ ॥ मनःक्षयान् मत्याश्रितान् ।

> दरयन्ते हि दुरात्मानो वध्यमानाः स्वकर्मभिः । इन्द्रियाणामनीशत्त्राद्राजानश्चित्तविभ्रमैः ॥ ७७॥ असंत्यागात्पापकृतामपापां

स्तुल्योदण्डः स्पृशते मिश्रभावात् । शुष्केणार्दं दशते मिश्रभावा

त्तरमात्यापैः सह संधि न कुर्यात् ॥ ७८ ॥

दुष्टसंगत्या निर्दोपाणामपि मस्तके दण्डः पततीत्यर्थः ।
निजानुत्पततः शत्रूरपञ्चपञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान निगृह्याति तमापद्रसते नरम् ॥ ७९ ॥
अनसूयार्जवं शौचं संतोषो नामिमानिता ।
दम्भः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ८० ॥
आत्मज्ञानमनायासरितितक्षा धर्मनित्यता ।

बाक्चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ८१ ॥

वाग्गुप्ताऽवाच्यसंबन्धादानं च गुप्तम्।

आक्रोशपरिहासाभ्यां विह्सन्सवुधा बुधम् । वक्ता पापमुपाधते क्षममाणा विमुच्यते ॥ ८२ ॥ हिंसा बळमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्वेळम् । शुश्रूषा तु बऊं खीणां खबलानां क्षमा बळम् ॥ ८३ ॥ वाक्संयमश्च नृपतेः सुदुष्करतमो मतः । अर्थवच विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ ८४ ॥ अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक्सुभाषिता । सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ८५ ॥ कर्णिनालीकनाराचा निर्हरित शरीरतः । वाक्शरस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ८६ ॥

नाडीकान् निषकान्तरानिसारिणः।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् । बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥ ८७ ॥

[१४ ब] अर्वाचीनानि विपर्यस्तानि ।

बुद्धौ कछषम्तायां विनाशे पर्युपस्थिते । अनयो नयसंकाशो इदयात्रापसपिति ॥ ८८ ॥ सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् । उमे एते समे स्यातामार्जवं तु विशिष्यते ॥ ८९॥

अनृतवचने प्रह्लादं प्रति सुधन्ववाक्यम्।

यां रात्रिमिषिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः ।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्वियुक्ता स्म तां वसेत् ॥ ९० ॥
नगरप्रतिबद्धः सन् बिहर्द्धारे बुसिक्षतः ।
अभिन्नान्भ्यसान्परयेषुर्वियुक्ता स्म तां वसेत् ॥ ९१ ॥
न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपाछवत् ।
यं हि रिक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संयोजयन्ति तम् ॥ ९२ ॥
यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मितम् ।
तथा तथा हि सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ॥ ९३ ॥
न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नींडं तु शकुन्ता इव जातपक्षा रछन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाछे ॥९॥

मान। मिहोत्रमुतमानमौनं मानेनाधीतमुत मानयञ्चः । एतानि चरवार्थभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ॥ ९५॥

मानं कालः, भयथाकृतान्यकालकृतानि ।

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं

युगे भद्रो व्यवहारे च साधुः।

शूरोभयेष्वर्थकृष्ट्रेषु धीरः

कृष्ट्रास्तापत्मु सुदृदश्चारयश्च ॥ ९६ ॥

तृणोल्केष तृणोल्कानि कषरेखा, युगे लांगलवाहकाष्ठे, भद्रो वृक्षः।

जरा रूपं हरति धैर्यमाशा

मृखः प्राणान्धर्मचर्यामस्या ।

कोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा

हियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ९७ ॥

श्रीर्थीर्धर्मास्प्रभवति मङ्गल्यात्संप्रवर्तते ।

दाक्ष्याच कुरुते मूळं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ९८ ॥

दाक्यं शीघ्रकारित्वं, संयमो व्यसनत्यागः, प्रतितिष्ठति प्रतिसंहताप्यन्येन बला-दायाति ।

[१५अ] अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमःशमश्च । पराक्रमश्च बहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥ कौल्यं कुळाचारः ।

एतान्गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसद्य ।
राजा यदा सःकुरुते मनुष्यं सर्वान्गुणानेष गुणो विभाति ॥१००॥
एष राजसःकारः तस्मादाजन्यवद्यारोऽतिविषम इत्यर्थः ।

अष्टी नृपेमानि मनुष्यलोको स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि । चत्वार्येषमन्त्रवेतानि सिद्धिश्वत्वार्येषामन्ववयन्ति सन्तः ॥ १०१॥ अन्ववेतानि सत्संगस्या प्राप्तानि मवन्ति दमादिचतुष्ट्यं तु सन्तोऽनुगच्छन्ति एतदनुसर्णेन सन्तं भवतीत्वर्यः । इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा । अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ १०२ ॥ तत्र पूर्वो चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेन्यते । उत्तरस्तु चतुर्वर्गो नामहात्मस्रु तिष्ठति ॥ १०३ ॥

असत्यपि सत्यादौ दम्भार्थमपि यज्ञादि सम्भवात् ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न चरन्ति धर्मम्।

नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति

न तत्सत्यं यच्छलेनाम्युपेतम् ॥ १०४ ॥ सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् । शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशसंसर्गयोनयः ॥ १०५ ॥

रूपं शुचिविषयता, एते दशसंसर्गयोनयः एत्र युक्तैः संसर्गो विधेयः इत्यर्थः । 'स्वर्गयोनयः' इति पाठे स्वर्गागतिचहानि ।

पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापमेवाश्चते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमेवाश्चते फलम् ॥ १०६ ॥
पापं प्रज्ञां नारायति क्रियमाणं पुनः पुनः ।
चद्धप्रज्ञः पुण्यमेव क्षिप्रमारमते नरः ॥ १०७ ॥
अस्यको दन्दराको निष्ठरो वैरक्तनरः ।
स कुन्छ्रं महदाप्तीति निचरात्पापमाचरन् ॥ १०८ ॥

दन्दश्र्कोऽरुन्तुदः ।

अनसूयः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा । अकृच्छ्रं महदामोति सर्वत्र च विरोचते ॥ १०९ ॥

[१५ ब] अकृच्छ्रं सुखम् ।

प्रज्ञामेवागमयति प्राज्ञेभ्यो यः स पण्डितः । प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ११० ॥ दिवसेनैव तत्कुर्याधेन वर्षे सुखं वसेत् ।
पूर्वे वयसि तत्कुर्याधेन रुद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्ञीवं च तत्क्र्याधेन प्रेत्य सुखं स्वपेत् ॥ १११ ॥
जीर्णमकं प्रशंसेत भार्या च गतयीवनाम् ।
शूरं विगतसंग्राममितपारं मनस्विनम् ॥ ११२ ॥

मनस्विनं तत्वज्ञं, अतिपार्गतीतसंसारम्, अन्यथान्तर एव विष्ठसंभवात् । धनेनाधर्मछब्धेन यिछिदगपिधीयते । असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ११३ ॥

छिद्रमधर्मरूपम्, अन्यदवदीर्यते छिन्द्रान्तरं जायते ।

गुरुरात्मवर्ता शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छक्तपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ।। ११४ ॥ ऋषीणां च नदीनां च कुळानां च महात्मनाम् । प्रभवो नाधिगन्तन्यः स्रीणां दुश्वरितस्य च ॥ ११५ ॥

उत्पत्तिः प्रभवोऽनिधगन्तव्योऽधिगन्तुमशक्यः ।

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी । क्षत्रियः स्वर्गभाग्राजंश्विरं पाळयते महीम् ॥ ११६ ॥ सुत्रर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । त्रुरश्व कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ११० ॥

सुवर्णमेव या पुष्यतीति सुवर्णपुष्पा ।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि तानि वै । तानि सन्धा जघन्यानि तानि प्रत्यवराणि च ॥ ११८ ॥

बुद्धिव्यापारमात्रेग कृतानि कर्मणि श्रेष्ठानीत्यादि, सन्धा पणवंधः प्रत्यवराण्य-तिनीचानि । इंसगीतायामाह विदुरः

> आकुश्यमानं ना कुश्येन्मन्युरेष तितिक्षतः । आकुष्टारं निर्देद्दति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ११९ ॥

नाक्रोशी स्यानावमानी परस्य मित्रद्रोही नातिनीचोपसेवी । न चाभिमानी न च हीनवृत्तो रूक्षां वाचं रुशतीं वर्जयेत ॥ १२० ॥

[१६ अ] मर्माण्यस्थीनि इदयं तथासू
न्घोरा वाचो निर्दद्दन्तीव पुंसाम् ।
तस्माद्वाचं रुशतीं तीक्ष्णरूपां
धर्मारामो नित्यशः वर्जयेत ॥ १२१ ॥
अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्षण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।

विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ १२२ ॥

अतिशयेनालक्ष्मीवानलक्ष्मीकतमः ।

बादं तु यत्र प्रवदेन वादये-न्नातिबोतः प्रतिहन्यान घातयेत् । विहन्तुकामस्य न पापमिच्छे-

त्तसौ देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ १२३ ॥ अन्याहतं न्याहताच्छ्रेयमाद्धः

सःयं वदेद्व्याहतं तद् हितीयम् । प्रियं वदेद्व्याहतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेद् व्याहतं तत्त्रतूर्थम् ॥ १२४ ॥

न्याद्दताद्विचारितसःयासःयभावात्।

यादरौः सिनिविशते यादशं चोपसेवते । यादिगिच्छेच भिवतुं तादग्भवित प्रुषः ॥ १२५ ॥ यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते। निवर्तनाच सर्वतो न वेचि दुःखमण्वपि ॥ १२६ ॥ न जीयते नोत जिगीषतेऽन्याभ नैरकृषाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते दृष्यति चैव नायम् ॥ १२७ ॥

जीवते कामादिभिः।

माविमिच्छिति सर्वस्य नाभावे कुरुते मितम् । सर्यवादी मृदुदीन्तः सततं यः स प्रुष्णः ॥ १२८ ॥ उत्तमानेव सेवेत प्राप्ते काळे तु मध्यमान् । अधमानेव सेवेत यदीच्छेच्छ्रेयमात्मनः ॥ १२९ ॥ प्राप्तोति वै वित्तमसद्वर्छन

नित्योत्यानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।

न खेव सम्यग्छभते प्रशंसां न वृत्तिमाप्तोति महाकुछानाम् ॥ १३०॥

असद्भेन युतादिबलेन, प्रज्ञयार्थमात्रपरया, निस्योत्थानानित्योद्देगात्, तथा च महाकुलानां वृत्तिमाचरणं, आङ् साकल्येनाप्तोति । [१६ व] नीचाचारोऽसा-विस्पर्यः ।

पण्डितप्रसङ्गेन महाकुलान्यप्याह विदुरः।

तपो दमो मसिवत्तं वितानाः

पुण्यो विवादः सतां वै प्रदानम् ।

यैष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति

सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुळानि ॥ १३१ ॥

सम्यावृत्ता पुरुषा यत्रेति ।

तेषां न वृत्तं व्यथते कदाचित् – वृत्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।

ये कीर्तिमिष्छन्ति कुछे विशिष्टां स्मकानृतास्तानि महाकुछानि ॥ १३२ ॥ प्रसादो ना मिळल्वम् । अपचयेऽपि च त्यक्तानृताः ।
अनिज्यया विवाहैश्च वेदस्योत्सादनेन च ।
कुळान्यकुळतां यान्ति धर्मस्योत्सादनेन च ।। १३३ ॥
तस्मान जातिः प्रधानं नृत्तमेव प्रधानमित्यर्थः ।
ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।
कुळान्यकुळतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ १३४ ॥
कुळानि समवेतानि योन्या पुरुषतोऽन्यतः ।
कुळसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ १३५ ॥
अन्यतः पुरुषतोऽन्येन पुरुषेण, योन्या विवाहादिसंबन्धेन ।
वृत्ततस्वविद्दीनानि कुळान्यल्पधनानि च ।
कुळसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महचशः ॥ १३६ ॥
कर्षन्ति प्रसारयन्ति ।

सा नः कळे वैदकदस्तकश्चिन

मा नः कुछे वैरकृदस्तुकश्चि
द्राजापथ्यो न परस्वापहारी ।

मित्रद्रोही नैष्कृतिकोऽनृती वा

पूर्वाशी यः पितृदेवातिथिम्यः ॥ १३७ ॥

य श्वनो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान्द्रिषेत् ।

नरो न समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेक्षितिम् ॥१३८॥

यश्च क्षितिमुपवेशनार्थं न निर्वपेन दद्यात् स समितिं न गच्छेदसभ्योऽसावित्यर्थः ।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । सतामेतानि गेहेषु नोच्छियन्ते कदाचन ॥ १३९ ॥ सूक्ष्मोतिमारं नृपतेः स्यन्द[१७अ]नो वै सोद्धं शक्तो न तथान्ये महीजाः ।

¹ Corrupt,

एवं युक्ता भारसहा भवन्ति

महाकुळीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ १४० ॥

अत्रैव प्रसङ्गान्मित्रनिरूपणम् ।

न तिनमत्रं यस्य कोपाद्विभेति

यद्वा मित्रं शङ्कते नोपचर्य।

यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत

तदै मित्रं संगतानीतराणि ॥ १४१ ॥

यस्य चेतिस संबन्धा मित्रभावाबेन वर्तते ।

स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ॥ १४२ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेविनः।

परिष्ठवमेतन्त्रित्यमध्रुवो मित्रसंप्रदः ॥ १४३ ॥

चळचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।

अर्थाः समतिवर्तन्ते इंसाः शुष्त्रसरो यथा ॥ १४४ ॥

अकस्मादय कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।

शीलमेततसाधूनां मन्त्रं पारिष्ठवं यथा ॥ १४५॥

सःकताथ कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।

तानमृतानपि कन्यादाः कृतन्नानोपभुक्षते ॥ १४६ ॥

अर्थयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने ।

योऽनर्थः सन्विजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ १४७ ॥

् अनर्थो धनप्रयोजनः मित्राणां सारफलगुतां विजानाति स सन्साधुरित्यर्थः ।

संतापाद्भश्यते रूपं संतापाद्भश्यते बलम् ।

संतापाद्भरयते ज्ञानं संतापाद्व्याधिरेधते ॥ १४८ ॥

नष्टस्य परिदेवनाभावः पाण्डित्यमित्यर्थः ।

अनवाप्यं च शोकेन शरीरमुपतप्यते ।

अभिकाणि प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ १४९ ॥

यस्रष्टं तच्छोकेनानवाप्यं केवलं शरीरमुपतप्यते ।

पुनर्नरो मियते जायते च पनर्नरो वर्धते हीयते पुनः ।

पुनर्नरो याचित याच्यते च पुनर्नरः शोचित शोच्यते च ॥ १५० ॥

सुखं च दुःखं च भयाभयौ च

छाभाछाभौ मरणं जीवितं न

पर्यायशः सर्वमिह स्पृशन्ति

तस्माद्वीरो नैव शोचेत्र इष्येत् ॥ १५१ ॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रिया[१७ ब]णि तेषां यद्यदर्धते यत्र यत्र ।

ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य

छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ १५२ ॥

अत्रैव प्रसङ्घानमोक्षसाधननिरूपणम् ।

बुद्धशा भयं प्रणुदित तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्ति त्यागेन विन्दिति ॥ १५३ ॥
अनाश्रिता वेदपुण्यं दानपुण्यामनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ १५४ ॥
स्वधीतस्य सुबुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेवते ॥ १५५ ॥

भवतु मोक्षसाधनान्वेषणं परमपाण्डित्यं केचिदेवात्र पात्रं व्यवहारिणं पुनः पाण्डित्यमेतत् यत्सर्वथा ज्ञातिभेदो न कर्तव्य इत्याशयेन विदुरः प्रस्तावयति।

ः स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना

न वै भिन्ना जातु निद्रां छभन्ते ।

न स्नीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति

🔠 👙 💮 📑 न मागधैः स्त्यमाना न स्तैः ॥ १५६ ॥

न वै भिना जातु चरन्ति धर्मे न वै सुखं प्राप्तुवन्तीह भिन्नाः।

न वै भिन्ना गौरवं चाश्रयन्ति

न वै भिन्नाः प्रशमं राचयन्ति ॥ १५७ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नोत तेषाम ।

भिनानां वै मनुजेन्द्र परायणं

न विद्यते किंचिदन्यद्विनाशनात् ॥ १५८ ॥

पथ्यं हितमुक्तं न स्वदते न राचते ।

संभान्यं गोषु च क्षीरं संभान्यं ब्राह्मणे तपः । संभान्यं स्नीषु चापल्यं संभान्यं ज्ञातितो भयम् ॥ १५९ ॥ धूमायन्ते न्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च । धृतराष्ट्रोलमुकानीव ज्ञातयो भरतर्षम ॥ १६० ॥

तस्मात् ज्ञातिभ्यो यथोचितं स्वभागो देय एवेति तत्त्वम् । व्यपेतान्यसंहतानि, मिळिताश्च किंचिद्भेददर्शनाञ्चळितहृदया भवन्तीति ।

म्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
कुक्षादिव फटं पकं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ १६१ ॥
न जातु बल्यहमित्येक पव सुखं [१८ अ] चरामि किं ज्ञातिभिरिति
मन्तव्यं यतः —

महानप्येकजो वृक्षो बरुवानसुप्रतिष्ठितः । प्रसद्या एव वातेन शाखास्कन्धान्विमार्दितुम् ॥ १६२ ॥ अय ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः । तेऽपि शीष्रतमान्वातान्सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥ १६३ ॥

¹ Corrupt.

अवध्या ब्राह्मणा गावो श्रियो बालाश्च ज्ञातय: ।

येषामन्नानि मुर्झात ये च स्युः शरणागताः ॥ १६४ ॥

न मनुष्यगुणः कश्चिदन्यो धनवतामपि ।

अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ १६५ ॥

अनातुरत्वाद्भितं ल्यल्लापे पश्चमी । अनातुरत्वमासाद्यापि धनवन्तो मृतकल्पा
रोगिणः इति ।

अय प्रसङ्गेन सङ्गत्यलक्षणान्याह विदुरः

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं श्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु तथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६६ ॥
यो हि धर्म व्यपाश्रित्य भर्तुर्हित्वा प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १६७ ॥
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १६८ ॥
आपदर्थे धनं रक्ष्यं दारा रक्ष्या धनैरिप ।
आत्मा तु सर्वतो रक्ष्यो दारैरिप धनैरिप ॥ १६९ ॥

इति पण्डितलक्षण संकीर्णगुणकथने आर्थिकपण्डितलक्षणं नाम नवमं कुसुमम् ।

[१०]

बलादेव जितकोधो न दुःखस्यास्पदं भवेत्। कृतप्रज्ञश्च विपदा जातुचिन्नैव बाध्यते ॥ १ ॥ तिरश्वामपि हि प्रज्ञा हिताय न पराक्रमः। यत्कार्यस्य न योऽभिज्ञः स तत्कुर्वन्विनस्यति ॥ २ ॥

हितः परोऽपि स्वीकार्ये हेयः स्वोऽप्यहितः प्राम् । क्रीतान्यतोऽपि मार्जारो मूल्येन पोण्यते हितः। अहितो इन्यते यत्नादृहजातोऽपि मूपकः ॥ ३॥ [१८ब] श्रोतन्यं च हितैषिभ्यो मृत्येभ्यो भृतिमिन्छता । अपृष्टैरिप कर्तव्यं तैश्व काळे हितं प्रमोः ॥ ४ ॥ जलेन भष्यते सेतुः स्नेहः कर्णजपेन च। अरक्षणेन मन्त्रश्च शद्धमात्रेण कातरः॥ ५ ॥ परमार्थमविज्ञाय न भेतव्यं कदाचन । प्रश्नेषा सम्यगाळोच्य भयस्थानमिति स्थिति: ॥ ६ ॥ तथा हि कोष्टा भक्ष्यार्थी भ्रमन्द्रान्मृधावनौ । गभीरमेकतः शुःवा श्रुतपूर्वे ध्वनि द्वुतम् ॥ ७ ॥ भीतः पद्याय्य संभ्रान्तोऽवस्थाप्यासुंस्ततः शनैः। आगत्यात्रानकं दृष्टा शद्धयनतं भ्रमं गतः ॥ ८ ॥ प्राणी कोऽपीति संस्थाप्य धृति पुनरसौ पुरः। गत्वा पवनसंगच्छद्वभशाखाप्रघटनात् ॥ ९ ॥ शन्दं निश्चित्य भक्ष्यार्थी तमुरपाट्य यदाविना । न छेभे चर्मदारुभ्यामभीतः सोऽन्यतो ययौ ॥ १० ॥ अवधाय ततो बुद्धि सत्यासत्यनिरूपणम्। विधाय कार्यमारम्य नास्थाने भयमावहेत् ॥ ११ ॥

इति सर्वार्थपरिज्ञाने भयनिरूपणाभिधं कुसमम्।

[११]

कि तथन स शक्नोति बुद्धिनीपदि सीदिति । प्रहानं प्रवर्षं तस्मानिष्प्रह्रस्य बळेन किम् ॥ १ ॥ तथा च मस्स्यमकराः सरस्यासान्पुरा किल । बकोऽप्येकोऽवसत्तत्र यदृशस्ते भयाषयुः ॥ २ ॥ दूराद छ अमस्योऽसौ दुः खार्तोऽ चितयस्त थम् ।

मक्ष्या मयेत इत्येवं नीतिचं चुर्विमृष्य सः ॥ ३ ॥

कदाचित्स्वयमुत्पुत्यामिनीय त्रासमात्मनः ।

जािळकोऽत्र समायात इत्याश्वस्तान्विधाय तान् ॥ ४ ॥

स्वच्छेत्यिस्मन्सरस्येताच्ये मा भीतिरस्तु वः ।

इत्युक्त्वैवैकमेकं च नीत्वा तत्र शिळातळे ॥ ५ ॥

विन्यस्याद् बहून्मत्स्यान्बकोऽसौ बञ्चनापरः ।

जात्वेनं मकरो दृष्ट्वा तथा यान्तं क यास्यिस ॥ ६ ॥

क चैताच्यसीत्येवं पृष्टोऽत्रादीत्त्ययेव तम् ।

त्रस्तोऽसौ नय मां चेति वदन्तं तमसौ द्रुतम् ॥ ७ ॥

उत्पुत्य प्रापयामास तत्रैव च शिळातळे ।

[१९ अ] दृष्ट्वा तु मत्स्यखण्डानीतस्ततो धियमागतः ॥ ८ ॥

विश्वासघात्ययं नूनमस्तु किं दुष्करं धियाम् ।

तिच्छळातळमाप्त्वैव बळादुत्कम्य तिच्छरः ।

जप्रसे भेत्य मत्स्येभ्य साधुकारमवाप सः ॥ ९ ॥

इति बलप्रज्ञयोः प्रज्ञैव बलीयसीति कथनं नाम कुसुमम्।

[१२]

प्राज्ञोऽसौ यो न संमोहं विपत्कालेऽपि गच्छित । श्रुतं मृत्यौ शिरःप्राप्ते स्वं रक्षन्ति महाधियः ॥ १ ॥ हरिरासीद्रने सत्त्ववित्रासितपशुर्मृशम् । यो बढात्समुपादायं सत्त्वराशीं च खादह् ॥ २ ॥ समेत्य तेऽस्यचैकैकं देयं चकुर्दिने दिने । प्राप्तायां शशवेलायां विचचार शशस्त्वासौ ॥ ३ ॥

¹ Corrupt.

विचचार विचारं कृतवान्।

विरुम्ब्य किंचिदाप्तं तं किं वेलातिक्रमस्त्वया । कृतो वधाधिकं तेऽच किंचाच क्रियते मया ॥ १ ॥ निशम्य प्रह्वो भूत्वाह भेऽपराधो न कश्चन । मार्गेऽन्यहरिणा रुद्धो बलातस्माद्विनिर्गतः ॥ ५ ॥ शुला कुत्रास्त्यसौ इत्वा तमेवादौ ततोऽमया। कार्या भुजि दुतं तं मे दर्शयेत्याह तं शशः ॥ ६ ॥ आशत्रुशंकामानिरस्य राज्ञां किं भोजनं का मुदयो रतिवी। विधाय भद्रं द्वतमेव राज नुतिष्ठ हत्वा....तोद्धि मां च ॥ ७ ॥ नीत्वा कूपे दर्शयित्वा स्वामेव प्रतियातनाम् । पश्योन्मुखः समायातो हरिरुश्वसटोद्धतः ॥ ८ ॥ मस्वा तथैव कोधोर्ध्वगर्जितानुकृति तथा। निशम्य तत्र स्वमसौ चिक्षेप बलमूढधीः । ९ ॥ एवं प्रज्ञैव परमं बलं न त पराक्रमः । यथा यशोऽसावपरेप्यासन्स्वस्था मृतोऽल्पधीः ॥ १० ॥

इति प्रज्ञापराक्रमयोः प्रज्ञावलाभिधं कुसुमम्।

[{ 3]

ओं न विधेयः समो राज्ञा यथा श्रीरपयास्यति । द्वयोर्दत्तपदा सा च तयोरुच्छितयोश्वछा । न शक्नोति चिरं स्थातुं ध्रुवमेकं विमुख्यति ॥ १ ॥

¹ Corrupt.

[१९ व] प्रमुश्व यो हितं द्वेष्टि सेवते चाहितं सदा । स वर्जनीयो विद्वद्भिवैंबैर्दुष्टातुरो यथा ॥ २ ॥ अप्रियस्य प्रथमतः परिणामे हितस्य च । वक्ता श्रोता च यत्र स्यासत्र श्रीः कुरुते पदम् ॥ ३ ॥ न श्रणोति सतां मन्त्रमसतां च श्रणोति यः। अचिरेण समं प्राप्य विपदं परितप्यते ॥ ४ ॥ दृष्टः करोत् स्वं दोषं मनीषी मा करोत् तम् । संगादसौ समायाति दुष्टसंगं त्यजेत तत्॥ ५॥ तथा वेनस्य कस्यापि युका शय्यान्तराश्रया । चिरं जिजीव जालेको दंशस्तत्राप वायुना ॥ ६॥ सा विछोक्यैव तं प्राह मारस्व कालं क्षिपाम्यहम् । एका मन्दचरीमां मा निराशां कुरु तीक्ष्णहन् ॥ ७ ॥ तयैवं प्रार्थितोऽप्येष नम्रो भूत्वाथ तां यदा। ययाचे समयावृत्या तव जीवामि मा भयम् ॥ ८ ॥ स्वस्था तं साह भूयोऽपि किं वैष लघुसर्गवान् । सुप्तो रतिप्रसक्तो वा प्रदंश्योऽसौ जातु नान्यदा॥ ९॥ इत्यं पणे कृते सुप्तं तमसौ यावदेव तु । ददंश ताबदेवासौ दष्टोऽस्मीति बुबोध ह ॥ १० ॥ द्वतं भृत्येषु सज्जेषु दंशेऽस्मिन्शीव्रमुः प्रते । यूका मन्दचरी छन्धा मारिताभूत्क्षणादसौ ॥ ११ ॥ तस्मात्स्वो रक्षणीयोऽलं दुष्टसंगानमनीषिभिः। न जातु दुष्टसंगोऽसौ विनानर्थं प्रशाम्यति ॥ १२ ॥ इति दुष्टसंगतित्यागकथनं नाम कुसुमम्।

¹ Corrupt.

[88]

न सेवेत नृपं जातु यः स्यात्क्षद्भपरिच्छदः। अवस्यं वैरितामेति निष्कारणमसौ किछ ॥ १ ॥ गृधोऽपि हि वरं राजा सेन्यो हंसपरिच्छदः। न गृध्रपरिवारस्तु इंसोऽपि किमुतापरः ॥ २ ॥ आसीद्दनान्तरे कापि सिंहो मदकलाभिधः। त्रयोऽस्यानुचराश्चासन्द्विपीवायसजम्बुकाः ॥ ३ ॥ स जातु करमं यूथभ्रष्टं दृष्ट्वाह कोऽस्स्यसौ। देशचार्याह काकोऽमूमुष्टः श्रुतचरः प्रभो । दत्त्वाभयं तमानीयानुगं चक्रे स कौतुकात् ॥ ४ ॥ [२० अ] एकदा गजयुद्धेन श्रान्तोऽसौ व्रणितो वने । अनाप्य मक्ष्यं किं कार्यं इति मौलान्रहोऽवद्त् ॥ ५ ॥ आपदेषोष्ट्र एवासी वध्योऽच न कथंचन । विचिकित्साऽत्र तृणभुग्भक्ष्यो मांसभुजां हि नः ॥ ६॥ अनेन स्वमुखेनाच स्वीकृते मक्षणे च नः। अभीतिदानराङ्कात्र न कचिदूषणायते ॥ ७ ॥ इत्याकलय्य ते राज्ञा निर्गत्यैनं रहोऽवदन् । अहो क्षुधार्तो राजासौ नाह किंचन कि भवेत्।। ८॥ तत्कायं भक्षणायास्य - द - स्तमपितत्कुरु । स्वामिप्रीतिर्बुधैरज्यी सर्वथेति सतां मतम् ॥ ९ ॥ इत्थं प्रतार्य तेऽत्र स्वामिनं समुपाययः । तत्र काकोऽन्रवीद्राजिन्नन्नं मामिद्ध साम्प्रतम् ॥ १० ॥

साम्प्रतम् युक्तमेतदिति ।

का तृतिर्मे द्वये व्यक्ते मुंक्ष्व मेति शिवाबदत् । तथा निवार्य तं चापि द्वीपी मेति तमाह च ॥ ११ ॥

¹ Corrupt.

स जातिरिति तं चापि करभः प्राष्ट्र मामिति ।
तेनैव वाक्छलेनाशु इतोऽसौ खण्डशः कृतः ॥ १२ ॥
भुक्तस्तैरिति निश्चित्य विचार्या राजगोष्ठिका ।
गोधीं शुद्धां समालोक्य विधेयो राजसंस्तवः ॥
नान्यथेति महीपालचिरतं विषमं महत् ॥ १३ ॥
इति श्चद्रपरिवारराजपरिवर्जनाभिधं कुसुमम् ।

[१५]

महापदं समारोहुमशको नोत्कचेतसा ।
हितोपदेशोऽनुष्ठेयो विनाशः प्रथाप्यते ॥ १ ॥
तथा च कूर्मः सरि काप्यासीन्मैत्रसंगतो ।
हंसौ खचारिणौ यस्य सतावाह कदाचन ॥ २ ॥
केतो भवन्तौ दूरेऽस्ति सरोऽतिविततं महत् ।
विहर्तु तत्र गच्छावो यद्युत्कै हि त्वमत्र भोः ॥ ३ ॥
निशम्य कथमेमीति तौ तु सूचतुरादरात् ।
मुखेनाम् समादाय यष्टिमायाहि मा श्रुचः ॥ ४ ॥
यष्टावस्यामुपात्तायां दध्यस्तां किं तु केवळम् ।
त्वया किंचित्र वक्तव्यमाप्राप्ते मित्रवात्ररे ॥ ५ ॥
तथेति तत्त्रथा कृत्वा दिव्यमार्गेण ते ययुः ।
त[२०व]दन्तिकमथासाद्य तत्रत्यजनवाग्मरैः ।
किं प्राप्तं इति तौ पृष्ट्वा पतञ्जर्जरतां ययौ ॥ ६ ॥
परोपदेशस्तज्जातु न हातव्योऽल्पशक्तिभिः ।
खुद्धिच्युतो विनश्येत कूर्मो यष्टिच्युतो यथा ॥ ७ ॥

अल्पशक्तिना परोपदेशो न हेय इति कथनं नाम कुसुमम्।

¹ Corrupt.

[१६]

हितं तस्य न वक्तव्यं यो न मन्येत मन्दधीः। वदन्दोषं रुभेत्तस्मात्कपेः सूचीमुखो यथा॥१॥ यूथगाः कपयः कापि वने शीतसमाकुरुं। खद्योतमग्निं मत्वा ते तृणं क्षिप्त्वात्र तेपिरे॥२॥ तत्रैकोऽप्यधमत्तं च दृष्ट्वा सूचीमुखः खगः। स खद्योतो न चैषोऽग्निरित्याह प्रहसंश्च तम्॥३॥ प्रहासकुपितोऽसो तं ज्ञान महताश्मना। तस्मानोपदिशेत्तं विद्यामुद्दे। नानुमन्यते॥१॥

मूर्खोपदेशोऽनर्थकृदिति वर्णनं कुसुमम्।

[29]

दुष्टया क्रियते बुद्धधा यत्तत्र न शुभं भवेत् । सर्वधा जायते गर्हा पथे यवसमर्पणात् ॥ १ ॥ आस्तां विणग्सुतौ किंचिद्गृहीत्वा दूरमीयतुः । तत्राभ्यामर्जितं स्वर्णसहस्रद्धयमन्ततः ॥ २ ॥

अन्ततः इति परिसमाप्येत्यर्थः ।

आहत्य शतमेकं तु विभज्य पथिशेषकम् ।

शृक्षम् हे निधायैतौ तस्थाने पितृवेश्मिन ॥ ३ ॥

जातु छिद्रमितिगत्वा तत्रैकोऽखिल्मेव तत् ।

आदायाशंकित इव सख्यं तेन ररक्ष तत् ॥ ४ ॥

अथ काले व्ययव्यजाद्गच्छावोऽत्रेत्यसौ यदा ।

नाप किंचित्तदा नीतं त्वयेत्युक्त्वाह तं पुनः ॥ ५ ॥

अस्त्वर्धं (अस्यार्धं) दीयतां महामिति कोलाहलेऽश्मना ।

संताट्यर्जुधियं राजकुलं भूयो निनाय तम् ॥ ६ ॥

¹ Corrupt.

तत्राधिकारिपुरुषेर्यदा नातं च किंचन ।
तदा दिनान्ते निर्वेशप्रतिमाण्येन मोचितौ ॥ ७ ॥
अन्येद्युरेव इत्याह न्छिद्रधीर्यत्र संहितम् ।
स वृक्षो धर्मसाक्ष्यं मे वक्तीति प्राह धैर्यमाक् ॥ ८ ॥
पित्रे समर्प्य तद्वित्तं तत्र गत्वा त्वया[२१ अ]रहः ।
कोटरस्थेन साक्ष्यं वां वाच्यं चेति विनिश्चितः ॥ ९ ॥
अथात्र राजपुरुषेः गत्वा निर्णयकारणात् ।
पृष्टो वृक्षः समाचख्यौ छिद्रधीः सत्यवागिति ॥ १० ॥
अभूतपूर्वं साक्ष्यं ते श्रुत्वा विस्मयमागताः ।
तरोर्गमें ददुर्धूमं येनासौ निर्गतः क्षणात् ॥ ११ ॥
निपत्याधः पतित्वा च मृते तस्मिन्राजपूरुषाः ।
दापियत्वाधमेतस्मा अर्धं स्वीचक्रुरन्ततः ॥ १२ ॥
तमंकियत्वा नगराद्विहिनिष्कास्य दूषितम् ।
स्वमतिस्त्रपरो राजकृते संस्थापितोऽप्यभूत् । १३ ॥
इति दुष्टबुद्धिसुबुद्धिफलकथनं नाम कुसुमम् ।

[25]

अशक्तावात्मना सद्ध्यं कार्यमन्येन घोधनै: ।
तथा च श्रूयतां कारु(?)कथेयं सर्पगोचरा ॥ १ ॥
सर्पो बकस्य कस्यापि पुत्रानादादनित्यशः ।
उद्विग्नोऽसौ रुषा देशादिभतो नकुळाळयं ॥ २ ॥
मीनखण्डान्युत्क्षिप्य सर्पनीडाद्यथा द्रुतम् ।
ददंश पदवीं छञ्च्या नकुळस्तं सपुत्रकम् ॥ ३ ॥
इति स्वयमशक्तावन्याश्रयकथनं कुसुमम् ।

¹ Corrupt.

[१९]

असाध्यं साधयन्त्येव मतिमन्तो मनीषिणः । उपायेन तथा चात्र विणक्पुत्रकथोच्यते ॥ १॥ अभूत्कोऽपि वणिक्पुत्रो दैवादेकतुछः किल । पित्रार्थात्स तुलां न्यस्य कस्यचिद्रणिजो गृहे । देशान्तराण्यतीत्याथ प्राप्तस्तस्मादयाचत ॥ २ ॥ तुलां जग्धाखुनेत्यस्मै स प्राहामित्यसौ च तम्। असौ तुलानिक्षेपकस्तं तुलानिह्नविनम् ॥ ३ ॥ (आमित्याह एवमेतदाखुनासी भिक्षता भवेदिति।) देशांतरागतायाथ देहि मे भोजनं सखे। इत्यस्मै याचमानाय स्वीचके भुज्यतामिति ॥ ४॥ स्नानार्थ मितस्तावन्भे मार्गः को दर्श्वतामिति । उक्तवाऽमुं च प्रदश्यीसौ तत्पुत्रं मार्गदर्शकम्॥५॥ कृत्वा मार्गे गृहे न्यस्य स्वस्य स्नात्वागतोऽग्रतः। ययाचे भोजनं मुंक्ष [२१ व] यथेच्छं चेति सोऽन्नवीत्॥६॥ उपस्थिते तत्र कासौ मे पुत्र इत्यभिभाषिणं। तमसौ मार्ग आकृष्य श्येनोऽगादिवमुद्रतः ॥ ७॥ इत्युक्त्वा भोजनं देहीत्युवाच पुनरेव सः । निशम्य चान्तर्दग्धोऽसौ विक्रुश्य वह पुत्रकम्। न्यायशालां द्वुतं गत्वा नीनयदेवमग्रतः॥ ८॥ पुत्रोऽस्य केति पृष्टोऽसौ तथोवाच हसनिव । किमिदं मदिरामच इव वक्षि चृपास्पदे। सत्यं श्येनः कथं तत्र नार्भकं नयते बलम् ॥ ९॥ यत्र देशे तुला लौही सहस्रपलसंमिता। आखुना भक्षिता तत्र मन्ये स्येनो द्विपं नयेत्।। १०॥

निशम्य तत्तथा तस्य वचनं तेऽतिविस्मिताः।
पृष्टवृत्ता विह्रस्येव तुलामस्यै समर्पयन्॥ ११॥
पुत्रं च तस्मादित्येवं सुसाध्यं साधयन्ति ये।
बुद्धया ते श्लाध्यतां यान्ति नाप्नुवन्ति पराभवम्॥ १२॥

इति बुद्धिविलासाभिधं कुसुमम्।

[२०]

द्द्रयते सर्वदा बुद्धेः प्राधान्यं जितपौरुषम् । बुद्धिसाध्येषु कार्येषु किं विदध्यात्पराक्रमः ॥ १ ॥ बुद्धिनीम च सर्वत्र मुख्यं मित्रं न पौरुषम् । तथा च पुर्यो श्रावस्त्यां माप्तोऽपूर्वो द्विजः किल ॥ २ ॥ गणीति वणिजा शूद्रपकाभोजी द्विजाळये । स्थापितो मानपकान्नदक्षिणादिभिरर्चितः ॥ ३ ॥ एवं वसन्तं तं तत्र परेप्यानर्चुरादरात् । यथास्य स्वर्णदीनारसहस्रमभवदित्तम् ॥ ४॥ स जात्वटन्यां तिस्किप्त्वा खाते प्रत्यहमैक्षत । एकदैक्षत खातं तद्वयातं ै तत्रैत्यतो धनम् 🖫 ५ ॥ विलपन्हेति चागत्य पृष्टोऽस्मै गृहपालिना । आख्यायासूनिवहातुं चोद्यतो मूर्चिछतोऽपि सन् ॥ ६ ॥ अकाले मेघबद्वित्तमकस्मादेति याति च । मामेत्याचाश्वासितोऽत्यर्थं न निवृत्तोसतोग्रहात् ।। ७ ॥ प्राणेभ्योऽप्यर्थमात्राहि कृपणस्य गरीयसी । ततोऽपि मर्तुं तीर्थान्ते यतो यस्यांतिकमा[२२ अ]ययौ ।। ८।।

¹ Corrupt.

तदेशेनोऽपि वृत्तान्तं सम्यग्जातुं प्रसेनजित् ।

(यत इति गच्छतः तदेशनस्तदेशराजा ।) पृष्टा श्रुत्वा च तद्वतं किंचित्तत्रोपलक्षणम् ॥ ९ ॥ अस्तीति तमसौ राजा पप्रछ तीत्रधीः । तच्छ्रचासौ द्विजोऽवादीदस्ति क्षुद्रोऽत्र पादपः ॥ तत्तले निहितं द्रव्यं हृतं केनाप्यभूनमम ।। १० ॥ मासूंस्त्यज धनं स्वं तेऽलब्धं दास्येऽथ कोशतः। गच्छ विप्रालयं मा ते व्यथास्तिवति निगद्य तम्।। ११।। (अथ चेनाहं लप्त्ये तदा स्वकोशादास्ये इति।) गृहमेत्य शिरः पीडालक्ष्यादेषांश्व सोऽचिनोत्। प्रसंगेन च तानराजा पप्रच्छात्र पुरे मम।। १२।। कियन्तो रोगिणः कस्य किं दत्तं इति ब्रुत् माम् । तन्मध्यादाह चैकोऽस्मै राजन्नागबला मया।। १३॥ वणिजो मातृदत्ताया स्वस्थायादेशितत्यलम्। अल्मिति पर्याप्तमभूदाजा तत्प्रश्नादुपरतोऽभूदित्यर्थः। गतेषु तेषु वणिजमानीयासौ रहो द्वतम् ॥ १४ ॥ श्रुतं तं नागवल्या स्वस्थो भूः केन सा च ते। दत्तेति ब्रूहि भीतोऽसौ प्राह कर्मकरं निजम् ॥ १५ ॥ तमाह्याह कि नागबला दत्ता त्वयेत्यसौ। दत्तेति स्वीकृतौ स्वर्णसहस्रं केति चात्रवीत् ॥ १६॥ इत्युक्तो भूभृताद्भितः प्रतिपद्यैव तत्क्षणम् । स तानानीय दीनारांस्तत्र कर्मकरो जहाँ ॥ १७ ॥ राजाप्युपोषितायासमै दिजायाह्रय तान्द्दौ । दीनारान्हारितप्राप्तान्प्राणानिव बहिश्चरान् ॥ १८ ॥ एवं स लब्धवान्बुद्धया नीतं मूलतलात्तरोः । द्विजार्थं भूपतिर्जाननोषधिं तां तदुद्भवान् ॥ १९ ॥

किं तु बुद्धिमतां गुप्तं धीः किं नाम न साधयेत् । धिया विचरतां राज्ञां स्वपरार्थः शयेस्थितः ॥ २० ॥

इति राजचरित्रे बुद्धिवर्णनं कुसुमम्।

[२१]

तथा च केनचिन्मैत्र्या किस्मिचित्रिहितं धनम् ।
गते काळेऽथ सांकट्यात्किचिन्मार्काथमागतः ॥ १ ॥
भक्तपीतादनु[२२व]रहः संकटं पर्युपिस्थितम् ।
मम किंचिन्मितं तस्मादेहीत्याह स तं पुनः ॥ २ ॥
निशम्य मित्रवचनं हसन्कि वेळयाऽनया ।
धर्मोधिश्वगतावानुभूतावेशोस्ति तेऽधिकः ॥ ३ ॥

अनया वेळया तव धर्मोधीश्वगता वा तथा अनु एतदनंतरं भूतावेशोऽपि तेऽधिको जातो भवतीति ।

सौहार्दे भूतपूर्व ते स्मृत्वाऽत्र साघु सत्कृतम् ।
दत्तं हा हा कथं बुद्धिर्व्यस्ता ते वद साम्प्रतम् ॥ ४ ॥
किं तत्क केन कस्येति मा धर्म जिह मा च मे ।
हत्यां गृहाण किंवाद्य दुर्गतस्य सुदुष्करम् ॥ ५ ॥
निराम्य मित्रवृत्तं तद्भीतोन्तः प्रहसनिव ।
प्राहासौ विष्म किं साधो यथेच्छं वर्ततामिति ॥ ६ ॥
अस्तु दैवहतस्यात्र मम आन्तिरियं खलु ।
तथापि भवता राङ्का शोध्या मे नूनमेविह ॥ ७ ॥
पुत्रा दारास्तथागारदेवताः संत्यतोऽधिकं ।
यद्यते भाति तेनापि पणिष्ये मा द्युचः सुद्धत् ॥ ८ ॥
उद्देशमात्राद्विहितमस्त्वेतिदिति ल्रिज्जतः ।
गच्छामीति तमामन्त्र्य दहनिव स निर्ययौ ॥ ९ ॥

धिङ्मां दैवहतं किं नु राजाध्यधिकरिष्यति ।

यस्य मे लिखितं किंचिन्नैव नापि च साक्षिता ॥ १० ॥

रहस्येकेन यहृत्तं शून्ये किं नाम तत्र मे ।

बलं सत्यापनायालं तथापि खलु साध्ये ॥ ११ ॥

मास्तु दृष्टं बल्लं किंचिदृष्टबल्लतो मया ।

राजा वेबोऽत्र चास्तीह कला दिक्पालगा यतः ॥ १२ ॥

इह राज्ञि दिक्पालगा कला दिक्पालांशः।

ते दृष्टा अपि सर्वत्र साक्षिणश्चेति शासनात् । राजावध्योक्तिमाश्राव्यश्चास्तु वा मास्तु वा फलं ॥ १३॥ इति निश्चयमासाद्य राजान्तिकमुपेत्य सः। हतोऽस्मीति समाक्रुश्य राजानं समबोधयत् ॥ १४ ॥ अगत्वाग्रतः स्ववृत्तं तन्निवेदैवशूचार्दितः । दत्तावकाश एकान्ते प्रतीक्षामास तं पुनः ॥ १५ ॥ आगतोऽसौ क्षणादेव पृष्टोऽवादीदहो मम। सौहार्दफलमेतेन दर्शितं धिग्विधि[२३अ]च माम् ॥ १६ ॥ मक्तपीतिमिदं मित्र यदि मेऽनर्थदं भवेत्। शंकेऽद्यारभ्य सकला सिकयान्तर्धिमेष्यति ।। १७॥ तताऽपि दण्डभीत्यादि दर्शने व्यर्थतां गते । राजा वादिनमाहैनं नाणमात्रमपीह ते ॥ १८ ॥ निदर्शनं न नेत्याह सोऽपि तस्मै विश्रद्धधीः । खिले यत्रार्पितं द्रव्यं तत्र किंचित्स्थलादिकम् ॥ १९ ॥ अस्ति नो दायिनेत्याह स पृष्टोऽपि पुनः पुनः । स्मर्यतां च तथाप्यत्र मास्ति किंचित्क थैं न । २०॥ इति निर्वन्धतः पृष्टः स चाहैनं महीपतिं । आ स्मृतं दक्षिणे पार्श्वे क्षुपस्तत्नास्ति चोत्थितः ॥ २१ ॥

न किंचिदन्यदिक्पालसंनिधानं विना प्रभो । ततः क्षेपं तयोर्दत्वा किंचित्कालं पुनः पनः ॥ २२ ॥ आनीय शपथै राजा शोधयामास तं पुरा । प्रहप्रस्तं तमालोच्य वादिनं प्राह मा शुचः ॥ २३ ॥ गच्छ तल क्षपश्चासौ साक्ष्यं दातेति निश्चयः । मद्भत्यांस्त्वं समादाय क्षुपं पृच्छैतदग्रतः ॥ २४ ॥ चेद्रादः सत्यतोऽमी त्वां समाधास्यन्ति निश्चितम् । निशम्योग्मत्तवद्वाक्यं किंचिाच्छिथिछिताशयः ॥ २५ ॥ महर्द्भिवाक्यं भन्वानो दीनस्तैस्तत्र सोडप्यगात्। प्रेरितो वचनं दस्वाप्यलब्ध्वा किंचिदप्यसौ ॥ २६ ॥ विमना रुजिजतो भूत्वा जगाम सममेव तै: । अब्रान्तरे गते तस्मिन्राजाऽऽह प्रतिवादिनम् ॥ २७ ॥ ं बेलान्तरेऽप्रगं बृहि किं तलाप्तो भवेदसौ । नेति दैवबलात्तेन गदिते लब्धलक्ष्यपि ॥ २८ ॥ राजावहित्था चतुरश्रको व्यापारमन्यतः । आगत्यासौ पुनः पृष्टः साक्ष्यमाप्तं त्वया न किम् ॥ २९ ॥ येन दीनतरश्चासि नेत्याह स्म स लाजिजतः। सत्यं न दत्तं ते साक्ष्यं क्षुपेणानेन ततश्च नः ॥ ३० ॥ दत्तं भद्र विशुद्धोऽसि द्रव्यं मत्तो गृहाण तत्। इत्याश्वास्य तमुत्थाय रहो गत्वाह तं परम् ॥ ३१ ॥ आनाय्य देहि द्रव्यं तत्परथा हस्तनासिके। प्राप्तोस्यनुमतिं नो वा व्यंजयेनु मितं तव ॥ ३२ ॥ परंतु व्यजने पौरघोषणां केन ते भवेत । [२३ ब]स्वेच्छा प्रमाणमत्रार्थे यथेच्छिस तथा कुरु ॥ ३३ ॥

¹ Corrupt.

^{2 [} Here the ms. adds in the margin इस्तनासिके प्राप्तोऽसीति त्यं इस्तनासिके प्राप्तोऽसि एतदुभयं च्छिनदािति इस्तनासिके समाहारे द्वन्द्वेकत्वम् ।]

इति श्रुत्वास्य तेऽमात्यपुरोगामिष्वितस्ततः ।
रत्तदक्षु ददामीति स्वयं सोऽनुमति गतः ॥ ३४ ॥
रति छेख्यादिरहिते चापि वादे मनीषिणः ।
निर्णयं यान्ति किं वाच्यं तत्र छेख्यादिसनिषौ ॥ ३५ ॥
इति राजवुद्धिसक्षमताकथनं नाम कुसुमम् ।

[२२]

किं याचितं विजानन्ति यद्धीमन्तो नरान्तरम् ।
तिर्यक्ष्विप गतो भावो धीमतां नास्ति दुर्घटः ॥ १ ॥
तथा च शिवरेकस्मिश्चिद्धाम्यो द्वे समाकृती ।
स संसुषवतुस्तत्रैकस्याः कित्ययदिनैः ॥ २ ॥
सूतिर्विनष्टेत्यस्याः सा संगत्या तामिमामपि ।
पपो भेदमिवदुषी ते चामूमावतुः समम् ॥ ३ ॥
ते वाम्यो अम् प्रसूतिं किशोरिमत्यर्थः । आवतू ररक्षतुः, समं निर्विशेषम् ।
जात्वेकस्यां च यातायां तामेवानुययो च सा ।
न किंचिद्धिदे भेदं द्वयोर्जातेव साभवत् ॥ ४ ॥
अथ काळान्तरेनाथौ तयौर्विमतिमागतौ ।
ममेयं ममचैवेयमित्यन्योन्यं विचक्रतुः ॥ ५ ॥

विचकतुः विधादं चक्रतुः।

परीक्षकेः परीक्षायां विहितायामथाप्यसौ ।
निर्विशेषोर्द्रयोर्भूत्वा न सन्देहो न्यवर्तत ॥ ६ ॥
यान्तीमनुययावेकामायान्तीमाययौ तथा ।
जघांस स पपौ द्वाभ्यां भेदो ज्ञातो न कर्हिचित ॥ ७ ॥
दिनादिनं विवादेऽत्र विवृद्धे राजगामि तत् ।
वृत्तं वभूव सोऽप्यत्र विस्मितोऽभूत्विरिक्ष्य तम् ॥ ८ ॥

¹ Corrupt.

अथ सर्वोपिरिगतां प्रज्ञामादाय भूपितः । शशास च तटे कृत्वा वाम्यो हे एष संभ्रमात् ॥ ९ ॥ पात्यो वारिणि वीक्ष्यन्त्योर्बस्यादिति तथागते । विजातं जननीकुक्षिपारुनातिशयादनु ॥ १० ॥ आच्छिय दामतत्रैव तद्वक्षार्थ पपात ह । परं तटगतान्याऽसौ वीक्षमाणावितष्ठते ॥ ११ ॥ इति निश्चयवन्तो हि राजानो नैव जातु[२४अ]चित् । स्खलन्ते शुद्धवंशोत्था बल्धेमेषां हि दैवजम् ॥ १२ ॥

इति राजबुद्धिबलकथनं नाम कुसुमम्।

[२३]

अत्रैव प्रसङ्गेन सत्त्वप्रशंसा ।

तीक्ष्णसत्त्वस्य न चिराद्भवन्तिहैव सिद्धयः ।
मन्दसत्त्वस्य तु चिरात्त्रया चेदं निद्दश्यताम् ॥ १ ॥
अस्ति पाटिलिपुत्राख्यं भुवोऽलंकरणं पुरम् ।
तत्र विक्रमतुङ्गाख्यो राजाभूत् सत्यवान्पुरा ॥ २ ॥
योऽभूत्पराङ्मुखो दाने नार्थिनां न युधि द्विषाम् ।
स जातु मृगयाहेतोः प्रविष्टो नृपतिर्वनम् ॥ ३ ॥
विल्वैहींमं विद्धतं तत्र ब्राह्मणमैक्षत ।
तं दृष्ट्वा प्रष्टुकामोऽपि परिहृत्य तदन्तिकम् ॥ ४ ॥
ययो स दूरं मृगयारसेन सबलस्ततः ।
आवृत्तश्च तथैवात्र दृष्ट्वा होमपरं द्विजम् ॥ ५ ॥
उपेत्य नत्वा पप्रच्छ नाम होमफलं च सः ।
ततः स ब्राह्मणो भूपं कृताशीस्तमभाषत ॥ ६ ॥

¹ Corrupt.

विप्रोऽहं नागशर्माख्यो होमे च शृण मे फलम्। अनेन बिल्वहोमेन प्रसीदित यदानलः ॥ ७ ॥ हिरण्मयानि पिण्डानि तदा निर्यान्ति कुण्डतः । ततोऽग्निः प्रकटीभूय वरं साक्षात्प्रयच्छति ॥ ८ ॥ वर्तते मम भ्यांसं कालो बिल्वानि जुह्नतः। मन्दपुण्यस्य नाद्यापि तुष्यत्येव ममानलः ॥ ९ ॥ इत्युक्ते तेन राजां तं धीरसत्त्वोऽभ्यभाषत । तर्हि मे देहि बिल्वं तमेकं यावज्जुहोमि तम् ॥ १०॥ प्रसादयामि च ब्रह्मननेनैव तवानलम् । कथं प्रसादयसि तं विह्नमप्रयतोऽशुचिः ॥ ११॥ यो ममैवं वनस्थस्य पृतस्यापि न तुष्यति । इत्यक्तस्तेन विध्रेण राजा तमवदत्पुनः ॥ १२ ॥ मैवं प्रयच्छ मे बिल्वं पश्याश्चर्य क्षणादिति । ततः स राज्ञे विष्रोऽसौ ददौ बिल्वं सकौतुकः ॥ १३ ॥ राजाचाह तदा तत्र दृढसखेन चेतसा । हुतेनानेन बिल्वेन न चेतुष्यास मन्छिरः। त्वय्यमे संज्ञहोमीति ध्यात्वा चारिमञ्जहाव तम् ॥ १४ ॥ आविरासीच स प्राचिः कुण्डाद्विल्वं हिरण्मयं । स्वयमादाय तत्तस्य फलं सत्त्वतरोरिव ॥ १५ ॥ जगाद च स[२४ ब]साक्षात्तं जातवेदा महीपतिम् । सत्त्वेनानेन तुष्टोऽस्मि तद्गहाण वरं मम् ॥ १६ ॥ तच्छ्ता स महासत्त्वो राजा तं प्रणतोऽत्रवित्। को मान्यो वरो देहि द्विजायास्म यथेप्सितम् ॥ १७॥ इति राज्ञो वचः श्रुत्वा जगादाग्निः समिद्धभाः । राजन्महाधनपातिर्बाह्मणोऽयं मविष्यति ॥ १८॥

त्वमप्यक्षीणकोशश्रीमंत्रसादाद्भविष्यसि ।
एवं दत्ते वरं विह्नं बाह्मणः स व्यजिज्ञपत् ॥ १९ ॥
आविर्भूतोऽसि सहसा राज्ञः स्वेच्छाविहारिणः ।
न मे सविनयस्यापि किमेतद्भगविति ॥ २० ॥
ततोग्निवरदः प्राह नादास्यं दर्शनं यदि ।
अहोष्यदेव खशिरस्तीव्रसस्वो नृपो मयीति ॥ २१ ॥
इति राजधैर्यकथनं नाम कुसुमम् ।

[28]

विबुधैर्वनिता रक्ष्या साम्ना खलु न चेर्षया । चारित्रं वक्रमेतासां शङ्का साध्या न वै श्रियः ॥ १ ॥ नगरे कापि कोऽप्यासीदीर्षावानपुरुषः किछ । बभूव तस्य भार्या च वछभा रूपशालिनी ॥ २ ॥ अविश्वस्तो न तां जातु मुमोचैकिनीमसौ । तस्या हि शीलिभंशं चित्रस्थेभ्यो हि शङ्कते ॥ ३ ॥ केनाप्यवश्यकार्येण कदाचित्स पुमानथ । सहैवादाय तां भार्यां प्रतस्थे विषयान्तरे ॥ ४॥ मार्गे सभिछामटवीमप्रे दृष्टा स तद्भयात् । स्थापयित्वा गृहे प्राम्ये वृद्धविप्रस्य तां ययौ । ५ ॥ तत्र स्थित्वा च सा दृष्ट्वा मिळांस्तेनागतान्यथा । एकेन भिछ्ठयूनैव सह दृष्ट्या यथौ पुनः ॥ ६ ॥ तेन युक्ता च तत्पञ्जी यथाकामं चचार सा । न कान्तेषील्लम्प्तिका भग्नसेतुरिवापगा । ७॥ तावत्स तत्पतिः कृत्वा कार्यमागत्य तं द्विजम् । प्राम्यं ययाचे तां भार्यां सोऽपि विष्रो जगाद तम् ॥ ८ ॥ न जानेऽहं क याताऽसौ जान एतावदेव तु । भिल्ला इहागता आसंस्तैः सा नीता भविष्यति ॥ ९ ॥

¹ Corrupt,

[२५ अ] सा पर्छानिकटे चेह तत्तल वज सत्वरम्। ततः प्राप्स्यासे तां भार्यो परथा मा मतिं कृथाः ॥ १० ॥ इत्युक्तस्तेन स रुदन्निन्दन्बुद्धिविपर्ययम्। जगाम भिछपछीं तां भायों तत्र ददर्श ताम् ॥ ११ ॥ साऽपि दृष्टा तमभेत्य पापाद्धीता तमन्त्रीत । न मे दोषोऽहमानीता मिल्लेनेह भयादिति ॥ १२ ॥ आयाहि तत्र गच्छावो यावत्कश्चित्र पद्यति । इति ब्रवाणा रागान्धं तमुवाच पतिं च सा ॥ १३ ॥ तस्यागमनवेछेयं भिल्लस्याखेटगामिनः। भागत्य चानुधान्येव हन्यात्त्वां मां च वे ध्रुवम् ॥ १४॥ तत्राविश्य ग्रहामेतां प्रच्छनस्तिष्ठ संप्रति । रात्री च इत्वा तं सुप्तं यास्यावो निर्भयावितः ॥ १५॥ एवं तयोक्तः शठया प्रविश्यासीद्रहां स ताम्। कोऽवकाशो विवेकस्य हृदि कामान्धचेतसः ॥ १६॥ तथा कुस्नीगृहान्तःस्थमानीतं व्यसनेन तम् । भिल्लायादर्शयत्तरमायागताय दिनात्यये ॥ १७॥ स च निष्कृत्य तं भिद्धः क्रूरकर्मा पराक्रमी। प्रातर्देन्युपहारार्थं बबन्ध सदृढं तरी ॥ १८॥ भुक्तवा च पर्यतस्तस्य रात्री तद्भार्यया सह । सममासेन्य सुरतं सुखं सुष्वाप तद्यतः ॥ १९॥ तं दृष्टा सुखमीषीछः स पुमांस्तरुसंयतः। चण्डी शरणमभ्येत्य ययौ स्तुतिभिर्धितां ॥ २० । साविर्भूय वरं तस्मै तं ददौ येन तस्य सः। तत्खडुगेनैव भिञ्चस्य स्नस्तबन्धोऽच्छिनच्छिरः॥ २१॥

5

प्हीदानीं हतः पापो मयायमिति सोऽथ ताम् ।
प्रवोध्य भार्यो वक्ति सम साप्युत्तस्यौ सुदुःखिता । २२ ॥
गृहीत्वा तस्य च शिरो भिल्लस्याळक्षितं निशि ।
ततः प्रतस्ये कुस्त्री सा पत्या तेन सहैव च ॥ २३ ॥
प्रातश्च नगरं प्राप्य दर्शयन्ती शिरोऽत्र तत् ।
भती हतो मे तेनेति चक्रन्दाक्रम्य तं पतिम् ॥ २४ ॥
ततः स नीतस्तद्युक्तो राजाग्रे पुररक्षिभिः ।
पृष्ठस्तत्र यथावृत्तमीर्वालु २५व]स्तदवर्णयत् ॥ २५ ॥
राजाय तत्त्वमन्विष्य छेद्यामास कुक्षियः ।
तस्याः कर्णी च नासां च तत्पति च मुमोच तम् ॥ २६ ॥
स मुक्तः स्वगृहं प्रायात्कुक्षीस्रोहमहोज्ज्ञितः ।
एवं हि कुरुते कार्य योषिदीष्यां नियन्त्रिता ॥ २७ ॥
इति स्रीरक्षाप्रकारकथनं नाम कुसुमम् ।

_ [२५]

नाम्रास्यं जातुचित्क्षीषु ता हि दुःसहसाहसा ।
तथा दुश्चरिताः पापारतथा चैव निद्दयताम् ॥ १ ॥
अस्ति ह्यंवती नाम नगरी तत्र चाभवत् ।
अप्रणींर्नमदत्ताख्यो बहुकोटीश्वरो वणिक् ॥ २ ॥
वसुदत्तामिधाना च रूपेनान्यसमा सुता ।
बभूव तस्य वणिजः प्राणेभ्योऽप्यधिका प्रिया ॥ ३ ॥
सा च तेन समानाय रूपयोवनशालिने
दत्ता वराङ्गनानेत्रचकोरामृतरश्मये ॥ ४ ॥
नाम्ना समुद्रदत्ताय वणिक्पुत्राय साधवे ।
नगर्यामार्थजुष्टायां ताम्नल्प्यां निवासिने ॥ ५ ॥

कदाचित्सा स्वदेशस्थे पत्यौ तस्य पितुर्गृहे । स्थिता वणिक्षुता दूरात्पुरुषं कंचिदैक्षत ॥ ६ ॥ तं केवलयुवानं च चपछा मारमोहिता। गुप्तं सर्खामुखानीतं भेजे प्रच्छन्नकामुकम् ॥ ७ ॥ ततः प्रभृति तेनैव सह तत्र मदा रहः । रात्रौ रात्रावरंस्तासौ तदेकासक्तमानसा ॥ ८ ॥ एकदा च स कौमारः पतिस्तस्याः स्वदेशतः । आजगामाथ तत्पित्रोः प्रमोद इव मूर्तिमान् ॥ ९ ॥ सोत्सवे च दिने तस्मिन्सा नक्तं कृतमण्डना । मात्रानुप्रेषिता भेजे शय्यास्थायिगतं पातिम् ॥ १०॥ प्रार्थिता तेन चार्लिक्सूतं चक्रेऽन्यमानसा । पानमत्तोऽव्वाखिन्नश्च सोऽपि जहे च निद्रया ॥ ११ ॥ ततश्च स्रप्ते सर्वस्मिन्भुक्तपीते जने शनै: । सन्धि भित्वा विवेशात्र चौरो वासगृहान्तरे ॥ १२ ॥ तस्कालं तमपश्यन्ती साप्यत्थाय वाणिकस्ता। स्वजारकृतसंकेता निरगानिमृतं ततः ॥ १३ ॥ तदालोक्य स चौ[२६ अ]रोऽपि विधितेच्छ। व्यचिन्तयत् । येषामर्थे प्रविष्टोऽहं तैरेवाभरणैर्युता । निशीथे निर्गतैषा तदीक्षेऽसौ कुत्र गच्छति ॥ १८ ॥ इत्याकरुय निर्गत्य स चौरस्तां वणिक्सताम् । वसुदत्तामनुययौ तत्र दत्तदृष्टिरहृक्षितः ॥ १५ ॥ सापि युष्पादिहस्तैकमसंकेतसखीयुता । गत्वा बाह्यं प्रविष्टाभूदुद्यानं नातिदूरगम् ॥ १६ ॥ तम्रापरयच्य तं वृक्षे छम्बमानं स्वकामुकम् । संकेतकागतं रालौ लब्ध्या नगररक्षिभिः। डिछन्बितं चौरबुद्धवा पाशकण्ठं मृतस्थितम् ॥ १७ ॥

ततः सा विद्वलोद्धान्ता हा हतास्मीति वादिनी । पपात भूमौ कृपणं विलयन्ती रुरोद च ॥ १८॥ अवतार्याथ वृक्षात्तं गतासुं निजकामुकम्। उपवेश्यांगरागेण पुष्पैश्वालंचकार सा ।। १९ ॥ समालिङ्ग्य च निःशङ्कं रागशोकान्धमानसा । उन्नमय्य मुखं यावत्तस्याती परिचुम्बति ॥ २० ॥ तावत्स तस्याः सहसा निर्जीवः परपूरुषः। वेतालानुप्रविष्टः सन्दन्तैश्विच्छेद नासिकाम् ॥ २१ ॥ तेन सा विद्वला तस्मात्सन्यथापसृताप्यहो। किंक्षिडजीवेदिति इता पुनरेत्य तमैक्षत ॥ २२ ॥ दृष्टा च वीतवेतालं निश्चेष्टं मृतमेव तम्। सा भीता परिभीता च चचाल रुदती शनै: ॥ १३ ॥ तद्दन्छनः स्थितः सोऽथ चौरः सर्वं व्यलोकयत । अचिन्तयच किमिदमेतया पापया कृतम् ॥ २४ ॥ अहो बतारायः स्त्रीणां भीषणो घनतामसः। अन्धकूप इवागाधः पाताय गहनः परम् ॥ २५ ॥ त्तदिदानीं इयं कि न क्र्योदिति विचिन्त्य सः। कौतुकाद्रतश्चौरो भूयोऽप्यनुससार तम् ॥ २६॥ सापि गत्वा प्रविश्येव तत्स्वप्तस्थितभर्तकं। गृहं तदा खकं प्रोचैः प्ररुदन्त्येवमत्रवीत् ॥ २७ ॥ परित्रायध्वमेतेन दुष्टेन मम नासिका। छिना निरपराधाया भर्तृरूपेण रक्षसा ॥ २८॥ श्रुवैतं मुहुराकन्दं तस्या सर्वे [२६व] ससंभ्रमम्। उदातिष्ठनप्रबुध्यात्र पतिः परिजनः पिता ॥ २९॥ एत्याथ पितरो दृष्ट्वा तामाद्राच्छिलनासिकां। कुद्धास्तं बन्धयामासुर्भायोद्दोहीति तत्पतितम् ॥ ३०॥

स त नैवाबवीत्किञ्चिद्धध्यमानोऽपि मूकवत्। विपर्यस्तेषु सर्वेषु श्रुण्यत्सु श्रद्धारादिषु ॥ ३१॥ कोलाहलेन तस्यां च व्यतीतायां क्रमानिशि। स निन्ये वणिजा तेन श्वश्रेण वणिक्सतः। राजान्तिकं तया साधै भार्यया छिन्ननासया ॥ ३२ ॥ राजा च कृतविज्ञितिः स्वदारद्रोह्यसाविति । तस्यादिशद्वणिक्सूनोर्वधं न्यकृततद्वचाः ॥ ३३ ॥ ततो वध्यभुवं तस्मिनीयमाने साडिण्डिमम् । उपागम्य च चौरोऽसौ बभाषे राजपुरुषान् ॥ ३४ ॥ निष्कारणं न वध्योऽसौ यथावृत्तं हि वच्म्यहम् । संप्रापयत राजाप्रं यावत्सर्वं वदाम्यदः ॥ ३५ ॥ इत्यूचिवान्स नीतस्तैः राजाप्रे च वृताभयः। आमूलादात्रिवृत्तं तचौरः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३६ ॥ सोऽब्रवीच न चेदेव महाचि प्रत्ययस्तव। तस्सा नासा मुखे तस्य शवस्याद्यापि वीक्षते ॥ ३५ ॥ तच्छ्रसा वीक्षितुं भृत्यान्प्रेष्य सत्यमवेत्य तत्। स राजा तं वणिक्पुत्रं मुक्त्वा बन्धननिप्रहात् ॥ ३८ ॥ तां च कर्णाविप छित्वा दुष्टां देशानिरस्तवान् । तद्भार्यो श्रद्भारं चास्य तं सर्वस्वमदण्डयत् ॥ ३९ ॥ चौरं च पुराध्यक्षं तुष्टश्चके महीपतिः । एवं स्त्रियो भवन्तीह निसर्गविषमाः शठाः । न जात्वस्रसमाश्वस्तमतिना भाव्यमंजसा ॥ ४०॥

इति स्त्रीदुश्चरित्रकथनं नाम कुसुमम्।

[२६]

स्त्रियोऽतिविषमा गर्ह्या भेतन्यं निपुणैस्ततः। उह्यन्ते हेळयेवाशु कुर्खामिः सरलाशयाः ॥ १ ॥ सर्वथा च गृहे दास्यो भर्तव्याः कोमछारायाः । न नाशिता हि का योषा दासीभिः पतिदेवताः ॥ २ ॥ अभून्मूर्खः पुमान्कश्चिद्भार्याभूत्तस्य सुत्रता । सा दु[२७अ]द्सियैकदा तस्मिन्पत्यौ देशान्तरं गते ॥ ३ ॥ चालिताभूषथा तस्य कुलं नष्टमभूत्किल । सा दत्तकार्यशिक्षां तामातां कर्मकरींगृहे ॥ ४ ॥ ययाबुपपतेर्गेहं निर्गलसुखेन्छया । अयागतं तत्पत्तिं सा स्थितशिक्षाश्चगद्गदम् ॥ ५ ॥ कर्मकर्यवदद्वार्या मृता दग्धा च सा तव। इत्युक्तवाऽसौ रमशानं च नीत्वा तस्मायदर्शयत् ॥ ६ ॥ अस्थीन्यन्यश्चितास्थानि तान्यादाय रुदंश्च सः । कृतोदकोऽथ तीर्थेष्र प्रक्षिप्यास्यी नितानि च ॥ ७ ॥ प्रावर्तत स भार्यायास्तस्याः श्राद्धविधौ जडः । सिंद्रिप्र इत्युपानीतं कर्मकर्या तथैव च ॥ ८ ॥ तमेव भार्योपपतिं श्राद्धविप्रं चकारः सः । तेनोपपतिना सार्धे तद्भार्योपेत्य तत्र सा ॥ ९ ॥ उदारवेषा मंक्ते स्म मिष्टानं मासि मासि तत् । सतीधर्मप्रभावेण भाषी ते परलोकतः पश्यागत्य खयं मुंक्ते ब्राह्मणेन शुभा प्रभो ॥ १०॥ इति कर्मकरी सा तमवीचत्तरपतिं यदा। तदेव प्रतिपेदे तत्सर्व मूर्खिशिरोमाणिः ॥ ११ ॥ इति गृहदासीदुश्चरित्रकथनं नाम कुसुमम्।

[२७]

रूपं विलोक्य नो धीरैः भ्रान्तव्यं जात योषिताम । आनुरूपेण संम्बन्धः कार्यो नानानुरूप्यतः ॥ १ ॥ प्राप्तोत्यधममेवाञ् या स्त्री नीचकुछोद्भवा । केवछं परिद्वासाय तादशकीपरिग्रहः ॥ २ ॥ तथा हि कापि चाण्डालकन्यातीव मनोहरा। अमूड्ड्रैव यां लोका बमूवुः काममोहिताः ॥ ३ ॥ कुछं जाति च सच्छीछं संबन्धांश्च तथोचितान् । येवमन्यानुसल्लुस्तां स्मरः किं किं न कारयेत् ॥ ४ ॥ सापि तचरितं दृष्टा यूनां संमोहशालिनां । सार्वभौमवरप्राप्तौ संकल्पं हादधात् इदि ॥ ५ ॥ 📉 सा जातु दृष्ट्वा राजानं नगरक्रान्तिनिर्गतम्। सर्वेत्तमं भर्तृबुद्धिमनुसर्तु प्रचक्रमे ॥ ६ ॥ 🤴 🔭 ताबदायान्मुनिः कश्चित्पथा तस्य [२७ब] प्रणम्य सः । राजा गजावरूढः सन्पादौ स्वभवनं ययौ ॥ ७ ॥ तदृष्ट्वा राजतोऽप्यम्यं मत्वा तं मुनिसत्तमम्। सेनं (सा इनं राजानं) त्यक्त्वानुयाता तं वरबुद्धया मुदान्विता ॥ ८॥

मुनिःसोऽपि वजन्दञ्चा शून्यप्रामे शिवालयं।
न्यस्तजानुः क्षितौ तत्र शिवं नत्वा ययौ गृहम्॥९॥
उद्दीक्ष्य सा तदधिकं शिवं तत्र धिया ददौ।
क्षणाचात्र प्रविश्य श्वा देवस्यारुद्य पीठिकां॥१०॥
जंघामुक्षिप्य जातेर्यत्सदशं तस्य तद्यधात्।
तद्विलोक्यान्त्यजा मत्वा देवाच्छ्यानं तमुत्तमम्॥११॥
श्वानं तमेवान्वगात्सा त्यक्त्वा देवं पतीच्छ्या।
श्वा चैवागत्य चण्डालगृहं परिचितस्य सः॥१२॥

चण्डालयूनः प्रणयालुठते तस्य पादयोः । तदालेक्योत्तमं मत्वा शुनश्चण्डालपुत्रकम् । स्वजातितुष्टा ववे सा तमेव पतिमन्त्यजा ॥ १३ ॥ एवं कृतपदा दूरे पतन्ति स्वपदे जडाः । विधाय तद्धियं धीमान्स्वानुरूपं विचिन्तयेत् ॥ १४ ॥

इति सदाचारपालनाष्ट्यं कुसुमम्।

[२८]

अतीव कठिनं स्त्रीणां चरित्रं दुर्घटं तथा। याः कामैकरताः पितृमातृसंबन्धिनोऽपि च ॥ १ ॥ अवगण्य स्वयं यान्ति सृतिमंकावहां किल। तस्मात्स घन्यो छोकेऽस्मिन्यदृहेऽसौ सुराछिभाक् ॥ २ ॥ तथा च श्रयतामेतां विचित्रामद्भतां कथाम्। घटकर्परनामानौ चौरवास्तां पुरे कचित् ॥ ३ ॥ तयोः स कर्परो जातु बहिन्यस्य घटं निशि । सन्धि भित्त्रा नृपसुतावासवेशम प्रविष्टवान् ॥ ४ ॥ तत्र कोणस्थितं तं सा विनिदा राजकन्यका । दृष्ट्वेव संजातकामा सद्यः स्वरमुपाह्वयत् ॥ ५ ॥ रत्वा च तेन साकं सा दत्वा चार्थ तमब्रवीत । दास्याम्यन्यस्प्रभूतं ते पुनरेष्यसि चेदिति ॥ ६ ॥ ततो निर्गत्य वृत्तान्तमाख्यायार्थं समर्प्य च । व्यस्जल्पाप्य राजार्थं घटं गेहं स कर्परः ॥ ७ ॥ स्वयं तदैव तु पुनर्विवेशान्तः पुरं स तत्। आकृष्टः का[२८ अ]मलोभाभ्यामपायः को हि पश्यति ॥ ८ ॥

तत्रैष सुरतश्रान्तः पानमत्तस्तया सह । राजपुत्र्या समं सुप्तो न बुबोध निशां गताम् ॥ ९ ॥ प्रातः प्रविष्टैर्लब्घोऽसौ बध्वान्तःपुररक्षकै: । राज्ञे निवेदितः सोऽपि क्रोधात्तस्यादिशद्वधम् ॥ १० ॥ यावःस नीयते वध्यभुवं तावत्सखास्य सः । रात्रावनागतस्यागादन्वेष्टुं पदवी घटः ॥ ११ ॥ तमागतं स दृष्टान्तर्घटं कर्परकः पुनः। इत्वा राजसुतां रक्षेरित्याह स्म स्वसंज्ञया ॥ १२ ॥ घटेनाङ्गीकृतं सोऽथ संज्ञयैव च कर्परः । नीत्त्वोल्लम्ब्य तरी क्षिप्रं वधकेरवशो हतः ॥ १३ ॥ ततो गत्वा घटो गेहमागत्य च निशागमे । भित्वा सुरंगां प्राविशत्स तदाजसुतागृहम् ॥ १४ ॥ तत्रैतां संयतां सम्यग्दष्टोपेत्य जगाद सः । त्वरकृतेऽच हतस्याहं कर्परस्य सखा घटः ॥ १५॥ अपनेत्मितस्त्वां च तत्स्रेहादहमागतः । तदेहि यावनानिष्टं कश्चित्ते कुरुते पिता ॥ १६॥ इत्युक्ते तेन सा हृष्टा राजपुत्री तथेति तम् । प्रतिपेदे स चैतस्याः बन्धनानि न्यवार्यत् ॥ १७ ॥ ततस्तया समं सद्यः समर्पितशरीरया । निर्गत्य स ययौ चौरः स्वनिकेतं सुरंगया ॥ १८ ॥ प्रातश्च खातदुर्रुक्षसुरंगेन निजां सुताम् । केनाप्यपहतां बुड़ा स राजा समर्चितयत् ॥ १९॥ ध्रुवं तस्यास्ति पापस्य निगृहीतस्य बान्धवः। कश्चित्साहिसको येन हतैवं सा सुता मम ॥ २०॥ इति संचिन्त्य स नृपतिः तत्कर्परकलेवरम् । रक्षितुं स्थापयामास स्वभृत्यानव्रवीच तान् ॥ २१ ॥

यः शोचंश्वेतसागच्छेळिप्सेदाहादिकं च सः । अवष्टभ्य ततो लप्स्ये पापां तां कुलदूषिकाम् ॥ २२ ॥ इति राज्ञा समादिष्टा रक्षिणोऽत्र तथेति ते १ रक्षन्तस्तस्थरनिशं तत्कपरके छवरम् ॥ २३ ॥ तत्सोऽन्विष्य घटो बुद्ध्वा राजपुत्रीमुत्राच ताम्। प्रियो बन्धुः सखा योऽभूत्परमः[२८ ब]कर्परो मम ॥२४॥ यस्त्रसादान्मया प्राप्ता त्वं समुद्ररत्नसंचया । स्नेहानुण्यमकुत्वास्य नास्ति मे इदि निर्वृतिः ॥ २५ ॥ तस्वं गत्वा न शोचामि प्रेक्षमाणः स्वयुक्तितः। क्रमाच संस्करोम्यग्नौ तीर्थेऽस्यास्थीनि च क्षिपे ॥ २६ ॥ भयं मा भूच तेनाऽहं सुबुद्धिः कर्परो यथा । इत्युक्तवा तां तद्वाभृत्स महात्रतिवेशभृत् ॥ २७ ॥ स चाप्योदनमादाय कर्परे कर्परान्तिकम् । स क्षीब इव तत्राथ यत्तद्रायन्इसन्श्रसन् । मार्गागत इवोपागाचक्रेऽत्र स्खलितं वचः ॥ २८ ॥ निपाल इस्ताद्भंक्त्वा च तत्समधं च कर्परम् । हा कर्परामृतभृतेत्यादि तत्तच्छुशोच सः ॥ २९ ॥ रक्षिणो मेनिरे तच मिन्नभाण्डानुशोचनम्। क्षणाच गृहमागत्य राजपुत्रये शशंस तत् ॥ ३०॥ अन्येषुश्च वध्वेशं भृत्यं कृत्यैकमप्रतः । अभ्युद्धतसधत्तूरभक्ष्यभारं च पृष्टतः ॥ ३१ ॥ स तु स्वयं च प्रामीणवेशो भूत्वा दिनात्यये। प्रस्खलनिकटे तेषामगात्कपररक्षिणाम् ॥ ३२ ॥ कर्स्वं केयं च ते भ्रातः क यासीति च तत्र तै: । पृष्टः स धूर्रस्तानेवमुवाच स्खिटिताक्षरम् ॥ ३३ ॥

G ;

¹ Corrupt.

ग्राम्योऽहमेषा भार्या मे यामीतः इवशुरगृहम्। भक्ष्यकोश्रालिका चेयमानीता तत्कृते मया ॥ ३४ ॥ संभाषणाच यूयं मे संजाता सुहदोऽधुना। तदर्धं तत्र नैष्यामि भक्ष्याणामधमस्तु वः ॥ ३५॥ इत्युक्त्वा भक्ष्यमेकैकं स ददौ तेषु रक्षिणु। ं ते इसन्तो गृहीत्वैव भुञ्जते स्माखिटा अपि ॥ ३६ ॥ तेन रक्षिषु धत्त्रमोहितेष्वेषु सोऽग्निसात्। निशि चक्रे घटो देहं कर्परस्याहुतेन्धनः ॥ ३७॥ गते तस्मिश्च तत्प्रातर्बुद्धा राजा निर्वाय तान्। विमृढान्स्थापयामास रक्षिणोऽन्यानुवाच च ॥ ३८ ॥ रक्षाण्यस्थीन्यपीदानीं यस्तान्यादातुमेष्यति । स युष्मामिर्प्रहीतन्यो भक्ष्यं किंचिच्च नान्यतः ॥ ३९ ॥ इति राज्ञोदितास्ते च [२९ अ] सावधाना दिवानिशं। तत्रासन्रक्षिणस्तं च वृत्तान्तं बुबुधे घटः ॥ ४० ॥ ततः स चण्डिकादत्तमहामंत्रप्रभाववित्। तेन गत्वा समं तत्र प्रभाजा मंत्रजापिना ॥ ४१ ॥ रक्षिणो मोहयित्वा तान्कर्परास्थीनि सोडप्रहीत्। क्षिपवा तानि च गंगायामेत्याख्याय यथाकृतम् ॥ ४२ ॥ राजपुरुया सुखं तस्यौ घटः प्रत्राजकान्वितः। राजापि सोऽस्थिहरणं बुद्ध्वा तद्रक्षिमोहनम् ॥ ४३ ॥ आसुताहरणात्सर्व मेने तद्योगचोष्टितम् । येनेदं योगिना कारि तनया हरणादि मे ॥ ४४ ॥ ददामि तस्मै राज्यार्घमभिन्यक्तिं स याति चेत्। इति राजा स नगरे दापयामास घोषणाम् ॥ ४५ ॥ तां श्रुत्वा चैच्छदात्मानं घटो दशियतुं तदा। मैवं कृथाऽय तातेऽस्मिन् विश्वासं छग्नधातिनि ॥ ४६ ॥

राज्ञीत्यवार्यत तया राजपुत्रया ततश्च सः। अयोद्भेदनयातेन साकं प्रत्राजकेन सः ॥ ४७ ॥ घटो देशान्तरं यायादाजपुत्रयायुतश्च सः । मार्प्रेण राजपुत्री सा प्रवाजन्तं ततोऽन्नवीत् ॥ ४८ ॥ एकेन ध्वंसितान्येन भ्रंशितारम्यमुना पदात् । तचौरः स मृतो नायं घटो मे त्वं बहुप्रियः ॥ ४९ ॥ इत्यक्ता तेन संगम्य सा विषेणावधीद्धटम् । ततस्तेन संमं यान्ती पापा प्रवाजकेन सा ॥ ५० ॥ धनदेवाभिधानेन संजग्मे वणिजा पथि। कोऽयं कपाली त्वं प्रेयान्ममेत्युक्तवा ययौ समम् ॥ ५१ ॥ वणिजा तेन संसुप्तं सा प्रवाजं विद्याय तम्। प्रजाजकश्च संप्राप्तः प्रबुद्धश्च व्यक्तिन्तयत् ॥ ५२ ॥ न स्नेहोऽस्ति न दाक्षिण्यं स्नीष्यहो चापछादते । यद्विश्वास्येति मां पापा इतार्था च पलायिता ॥ ५३ ॥ सैष लाभोऽथवा यन हतोऽस्मि घटवस्या। इत्यालोच्य ययौ देशं निजं प्रवाजकश्च सः ॥ ५४ ॥

इति धूर्तचरित्रं नाम कुसुमम् । [२९ व] इति नीतिकल्पे द्वितीयमज्जर्यां स्त्रीचरित्रवर्णनाभिधो गुच्छकः ।

[२९]

अन्तरज्ञेन भाव्यं च सदैव मितचक्षुषा । हिताय स्वपरेषां यत्सदैवांतरवेदनम् ॥ १ ॥ सत्येनैको भवेन्मित्रमपरं तूपचारतः । तुल्येऽपि स्निग्धता योगे तैलं तैलं घृतं घृतम् ॥ २ ॥ निदर्श्यते तथा चात्र मित्रद्वयकथा शुभा । बभूव चन्द्रपीडाख्यः कान्यकुब्जे महीपतिः ॥ ३ ॥ तस्याभवच धवलमुख्याख्यः कोऽपि सेवकः । बहिभुक्ता च पीत्वाच सदैव प्राविशदृहम् ॥ ४ ॥ मुक्तपीतः कृतो नित्यमायासीति च भार्यया । पृष्टश्च जातु धवलमुखस्तामेवमभ्यधात् ॥ ५ ॥ सुहत्पार्श्वादहं राश्वद्भक्ता पीत्वा च भामिनि । सदैव यामि येनास्ति छोके मित्रद्वयं मम ॥ ६ ॥ कल्याणवर्मनामैको भोजनाद्यपकारकृत्। द्वितीयो वीरबाहुश्च प्राणैरप्युपकारकृत् ॥ ७ ॥ एवं श्रुखैव धवलमुखोऽसौ मार्यया तया। ऊचे मित्रद्वयं तन्मे भवता दर्श्यतामिति ॥ ८॥ ततो ययौ स तद्युक्तस्तस्य कल्याणवर्मणः। गृहं सोऽपि महार्हेस्तैरुपचारेरुपाचरत् । ९॥ अन्येद्यः स ययौ वीरबाहोर्भार्यायुतोऽन्तिकम् । स च चूतस्थितः कृत्वा स्वागतं तं विसृष्टवान् ॥ १० ॥ ततोऽब्रवीत्सा धवछमुखं भायी सकौतुका। कल्याणवर्मा महतीमकरोत्सिकयां तव ॥ ११ ॥ कृतं स्वागतमात्रं तु भवतो वीरबाहुना। तदार्यपुत्र तं मित्रं मन्यसेऽभ्याधिकं कथम् ॥ १२ ॥ तच्छ्त्वा सोऽभवीद्रच्छ मिथ्या तौ ब्रूह्यभौ क्रमात्। स पूर्ववैरी सबलो निध्ननेति मदादिति ॥ १३॥ इत्युक्तवा तेन गत्वा वै सा तथैति तदैव तत्। कल्याणवर्भणेऽत्रोचदश्रुत्वा च जगाद ताम् ॥ १४॥ भवस्यहं वणिक्पुत्रो ब्रुहि तेऽस्य करोमि किम्। इत्युक्ता तेन सा प्रायाद्वीरबाह्योरथान्तिकम् ॥ १५ ॥

तस्मै तथैव साशंसद्वेरिको[३० अ]पं स भर्तरि । स श्रुत्वैव ययौ धावन्गृहीत्वा खङ्गचर्भाणे ॥ १६ ॥ वारितोऽसौ राजभटैरागत्येति व्रजेति तम् । वीरबाहुं धवलमुखोऽथ प्राहिणोदृहम् ॥ १७ ॥ इदं तदन्तरं तन्वि मित्रयोरेतयोर्भम । इति भार्या च धवलमुखेनोक्ता तुतोष सा ॥ १८ ॥

इति मित्रविशेषं नाम कुसुमम्।

[30]

सचिरित्रैविशेष है: प्रज्ञापारं समागतै: ।
संगो विशेषमादाय सत्फळं जनयिष्यति ॥ १ ॥
कृतप्रज्ञस्य सुंमते: संगण्छन्ते दिवीकसः ।
यदा कैव मनुष्याणां तत्र वार्तास्ति संगतौ ॥ २ ॥
तथा च श्रूयतां सम्यक्तथा विस्मयकारिणी ।
राजा विक्रमसेना ख्यो वेता छ क्वेशितः पुरा ॥ ३ ॥
प्रज्ञया स्वं विमोच्यासमाद्वरमाप महीपतिः ।
रत्ने पहारमानीय विषेणासौ च केन चित् ॥ ४ ॥
वशतः स्वर्गरा ज्येहार ब्धदुष्कर्मणा किछ ।
साधयामि च ते कार्यमित्युक्त्वान्त्यदिने स तम् ॥ ५ ॥
निशीयेऽरण्यसंप्राप्त्यैपेणेसौ सोऽपि तत्तथा ।
सत्वागत्य च विस्नस्तं पश्यामुं शिशपास्थितम् ॥ ६ ॥
शवमिहानयेत्युक्त्वा सुक्तमिनरतो भवेत ।
स च धैर्य समाश्रित्य यावत्तं स्कम्धसंश्रितः ॥ ७ ॥

¹ Corrupt.

कृत्वा नयति तावत्स तं वृक्षं पुनराययौ । नायं नायं च स प्रीतः प्राह् तं मा श्रमं कुरु । उपहारमसौ कुर्यात्वां ममेति जगाद सः ॥ ८ ॥ प्रश्नमेनं यदि भवान्समर्थयसि तन्मया । हिताय ते त्रिछोक्याश्चोपदेशः क्रियते रहः ॥ ९ ॥ अस्त्याप्रहारः कालिन्दीकुले ब्रह्मस्थलाभिधः। अग्निस्वामीति तत्रासीद्राह्मणो वेदपारगः ॥ १०॥ तस्यातिरूपा मन्दारवत्यजनि कन्यका । यां निर्माय नवानर्घछात्रण्यानियतं विधिः । ्रस्वर्गस्त्रीपूर्वनिर्माणं निजमेवाजुगुप्सत् ॥ ११ ॥ तस्यां च यौवनस्थायामाययुः कान्यकुब्जतः । समसर्वगुणास्तत्र त्रयो बा[३०ब]हाण पुत्रकाः ॥ १२ ॥ तेषां चात्मार्थमेकैकस्तित्वतुस्तामयाचत । अनिच्छन्दानमन्यस्मै तस्याः प्राणव्ययादपि ॥ १३ ॥ तियता स तु तन्मध्यानैकस्मायपि तां ददौ । भीतोऽन्ययोर्वधात्तेन तस्थौ कन्यैव सा ततः ॥ १४ ॥ ते च त्रयोऽपि तद्दकत्रचन्द्रैकादृष्टसक्तयः। चकोरवतमालम्ब्यं तत्रैवासीन्दिवानिशम् ॥ १५ ॥ अथाकस्मात्समुत्पन्नदाह्ज्वरेन सा । जगाम मन्दारवती कुमारी किल पश्चताम् ॥ १६॥ ततश्च विश्वपुत्रास्ते परासुंशोकविक्कवाः । कृतप्रसाधनां नीत्वा रमशाने चक्रुरग्निसात्॥ १७॥ एकश्व तेषां तत्रैव विधाय मठिकां ततः। कृततद्भस्मशय्यः सन्नास्तायाचितभैक्षभुक् ॥ १८॥

¹ Corrupt.

द्वितीयोऽस्थीन्युपादाय तस्या भागीर्था ययौ । तृतीयस्तापसो भूत्वा भ्रान्तुं देशान्तराण्यगात् ॥ १९ ॥ स भ्राम्यंस्तापसः प्राप प्रामं वक्रकलाभिधम्। तत्रातिथिः सन्कस्यापि विप्रस्य प्राविशदृहम् ॥ २०॥ तत्पूजितः स यावच भोक्तुं तत्र प्रचक्रमे। तावदेकः शिशुस्तत्र प्रवृत्तोऽभूखरोदितुम् ॥ २१ ॥ स सान्त्व्यमानोऽपि यदा न व्यरंसीसदा क्रुधा । बाह्यवादाय गृहिणी ज्वडत्यग्नी तमाक्षिपत् ॥ २२ ॥ क्षिप्तमात्रः स मृद्रङ्गो भरमीभावमवाप्तवान् । तदृष्टः जातरोमाञ्चः सोऽत्रवीत्तापसोऽतिथिः ॥ २३ ॥ हा धिकष्ठं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मराक्षसवेदमनि । तन्मूर्ते किलि । विमेदं न भोक्ष्येऽन्नमिहाधुना ॥ २४ ॥ एवं वदन्तं तं सोऽत्र गृहस्थः प्राह पश्य मे । शक्ति पठितसिद्धस्य मन्त्रस्य मृतजीवनीम् ॥ २५॥ इत्युक्त्वादाय तन्मन्त्रपुस्तिकामनुवाच्य च । तत्र भस्मनि चिक्षेप स धूलिमनुमन्त्रिताम् ॥ २६ ॥ तेनोदत्ति[३१ अ]ष्ठत्तद्रूप एव जीवन्स बालकः। ततः स निर्देतस्तत्र मुक्तवान्विमतापसः ॥ २०॥ गृहस्थोऽपि स तां नागदन्तेऽवस्थाप्य पुस्तिकाम्। भुक्त्वा च शयनं भेजे रात्री तत्रैव तद्युतः ॥ २८॥ सुप्ते गृहपतौ तस्मिन्स्वैरमुत्थाय शाङ्कतः। स प्रियाजीवितार्थी तां पुस्तिकां तापसोऽगृहीत् ॥ २९ ॥ गृहीत्वैव च निर्गत्य ततो रात्रिंदिनं वजन् । क्रमात रमशानं तत्प्राप यत्र दग्धाऽस्य सा प्रिया। ३०॥ ददरी चात्र तत्कालं तं दितीयमुपागतम्। योऽसौ गङ्गाम्भसि क्षेष्ठं तदस्थीनि गतोऽभवत्।। ३१।।

ततस्तं च तमाद्यं च तस्या भरमिन शायिनम् । निबद्धमधिकं तत्र द्वावप्येतौ जगाद सः ॥ ३२ ॥ मठिकापास्यतामेषां यावद्वत्थापयामि ताम् । जीवन्तीं भस्मतः कान्तां मन्त्रशक्त्या कयापि ताम् ॥ ३३ । इति तौ प्रेर्य निबन्धानिर्लोठ्य मठिकां च सः। उद्धाट्य तापसो विप्रः पुस्तिकां तामवाचयत् ॥ ३४ ॥ अभिमन्त्रय च मन्त्रेण धार्ले भरमन्यवाक्षिपत् । उदतिष्ठच जीवन्ती सा मन्दारवती ततः ॥ ३५॥ विद्विप्रवेशनिष्कान्तं वपुःपूर्वाधिकद्यति । ्र तदा बभार सा कन्या कांचनेनेव निर्मितम् ॥ ३६ ॥ तादशीं तां तदा दृष्ट्वा ते तथैव स्मरातुराः। प्रास्तकामास्त्रयोऽप्येवमन्योन्यं कलहं दधुः ॥ ३७ [] एकोऽन्रवीदियं भार्या मम मन्त्रबलार्जिता। · तीर्थप्रभावजा भार्या ममेयमिति चापरः ॥ ३८ ॥ रक्षित्वा भस्म तपसा जीवितेयं मयेह यत् । तदेषा मम भार्येति जगादात्र तृत्यिकः ॥ ३९ ॥ विवादनिश्चयं तेषां त्वं तावनमे महीपते। निश्चितं ब्रूहि कस्यैषा कन्या भार्योपपद्यते ॥ ४० ॥ विद्लिष्यति मूर्धा ते यदि जानन वक्ष्यसि। इति वेतालतः श्रुत्वा तं स राजैवमभ्यधात् ॥ ४१ ॥ यः क्रेशमनुभूयापि मन्त्रज्ञस्तामजीवयत् । विता तस्यास्तत्कार्यकरणात्र पुनः पतिः ॥ ४२ ॥ यश्चा[३१ ब]स्थीनि निनायास्या गंगां सोऽपि सुतो मतः। यश्च तद्भरयशय्यां तामाश्चिष्यासीत्तपश्चरन् ॥ ४३ ॥

¹ Corrupt.

हमशान एव तत्प्रीत्मा भर्ता तस्याः स बुध्यते ।
कृतं तदनुरूपं हि तेन गाढानुरागिणा ॥ ४४ ॥
निशम्य नृपतेस्तरमाद्धर्मार्थसाहितं वचः ।
प्रीतो वेताल आह स्मोपदेशो गृह्यतामयम् ॥ ४५ ॥
प्रापय्य मामसौ विक्त रह एनं निवेशय ।
देवतारूपिणं चैनं दण्डवत्प्रणतो भव ॥ ४६ ॥
तथा भवन्तं त्वां चासौ खङ्गमाधाय दुष्टधीः ।
ममोपहारं कुरुते तस्मादवहितो भव ॥ ४७ ॥
निशम्यैव त्वया राजनसौ वाच्यो मया निह ।
दण्डवत्प्रणतिर्जातु कृता शिक्षय मामिति ॥ ४८ ॥
दण्डवत्प्रणतिर्जातु कृता शिक्षय मामिति ॥ ४८ ॥
दण्डवत्प्रणतं चामुं खङ्गमादाय सुत्रत ।
शिरच्छेदेन चास्यैव मां तर्पय यथासुखम् ॥ ४९ ॥
न चात्र शङ्का कर्तव्या दिजोऽसाविति नद्यसौ ।
दिजः किंत्वातताय्येष तद्वधे नास्ति पातकम् ॥ ५० ॥

इति बुद्धिपरीक्षाभिधं कुसुमम्।

[३१]

धीराणां सत्त्वशोभैकसाराणां जगतीतले ।

किं नाष्यमथवा सर्वविशिष्टमतिशालिनाम् ॥ १ ॥

तथा च दृश्यतां भूयिखिविक्रमकथानकम् ।

अस्ति शोभावती नाम सल्याख्या नगरी मुवि ॥ २ ॥

तस्यां च शृद्धकाख्योऽभूद्भूपतिः प्राज्यविक्रमः ।

तं कदाचिन्महीपालं प्रियशूरमुपाययौ ॥ ३ ॥

सेवार्थं मालवादेको नाम्ना वीरवरो द्विजः ।

तस्य धर्मवती नाम भार्या सत्यधरः सुतः ॥ ४ ॥

कन्या वीरवती चेति त्रयं गृहपरिच्छदः । सेवापरिच्छदश्चान्यत्त्रयं कट्यां कृपाणिका ॥ ५ ॥ करे करतलान्यत्र च।रुचर्म परत्र च । तावन्मात्र परीवारो दीनारशतपञ्चकम् ॥ ६ ॥ प्रत्यहं प्रार्थयामास राज्ञस्तमात्स्ववृत्तये । शजापि स तमाकाररुचिरोदारपारुषम् । वीक्ष्य तस्मै ददौ वृत्ति शूद्रकस्तां यथेप्सिताम् ॥ ७ ॥ अल्पे परिकरेऽप्योभिः कियाद्भिः[३२ अ]स्वर्णरूपकैः। किमेष व्यसनं पुष्णात्यथ कंचन सद्व्ययम् ॥ ८॥ इस्यन्वेष्टुं समाचारं कौतुकात्स महीपतिः। प्रच्छनान्स्थापयामास चारानस्य च पृष्टतः ॥ ९ ॥ स च प्रातर्रेपं दृष्टा मध्याह्नं च धृतायुधः । सिंहद्वारे स्ववृत्तिं तामादायागारमाययौ ॥ १० ॥ शतं पत्न्येच भुक्त्यर्थं वस्त्रतांबृरुहेतवे । ्रशतं स्नात्वा च पूजार्थं व्यदधाद्विष्णोः शिवस्य च ॥ ११ ॥ विप्रेभ्यः कृपणेभ्यश्च ददौ दानं रातद्वयं। एवं विभेजे पंचापि तानि नित्यं शतान्यसौ ॥ १२ ॥ श्रुत्वास्य वृत्तं तत्सोऽपि तुतोष हृदि शूद्रकः । सच कृत्वाहिकाचं तनिश्येको द्वारि संद्धत् ॥ १३॥ कुपाणी पुनरास्तस्थी जागरैककृतक्षणः । तदीर्घ्यात इवोद्धृतविद्युत्करतळां दधत् ।। १४ ॥ धारानिपाती निनदन्नाजगाम घनागमः । तत्परीक्षां समाधातुं निशीये स च शूद्रकः ॥ १५ ॥ जगाद हर्म्यतः कोऽत्र सिंहद्वारे स्थितोऽत्र भोः। तळ्ळ्लाहं स्थितोऽत्रेति सोऽपि वीरवरोऽत्रवीत् ॥ १६॥

अहो सुदृढसत्त्वोऽयं भक्तो वीरवरो मयि। तदेष प्रापणीयो मेऽवश्यमेव महत्पदम् ॥ १७ ॥ ततोऽवतीर्य सुष्वाप राजान्तःपुरमण्डपे । अन्येद्यश्च रसंत्येव वारिधाराः प्रवर्षति ॥ १८ ॥ तथैवारुह्य हम्यै स परीक्षामास तं पुनः । स्थितोऽस्मीति वदत्यस्मिन्यावद्विस्मयमाप सः ॥ १९ ॥ तावदूरे रुदन्तीं स स्त्रियं श्रुत्वा व्यचिन्तयत्। अहो राष्ट्रे पराभूतो दरिद्रो दुःखितोऽपि वा। नास्ति कश्चित्कथं दीना वागियं श्रुतिमागता ॥ २० ॥ संचिन्त्येत्थमुवाचैनं कासौ भोः करुणातुरा । शीव्रं निशामय द्वतोऽस्मीत्यसौ प्रययौ जवात् ॥ २१ ॥ द्रतं तं वीक्ष्य प्रसरद्वारासारे तमोनिश्चि । कौतुकाविष्टद्भाजावतीयीनुजगाम तम् ।। २२ ॥ आक्रन्देन सं गलात्र पुरीबाह्ये ददर्श च। सरोऽत्र रुदती चापि[३२ ब]वनितां कांचिदैक्षत ॥ २३ ॥ हा शूर, हा कृपालो, हा त्यागिनशून्या त्वया कथम । वत्स्यामीत्यादि रुदन्तीं पप्रच्छ च कृतस्थितिः ॥ २४ ॥ का किमर्थमिदं चेति साह प्रक्यहमेष मे । भर्ता तृतीयेहि मृति यातेति रुदितं मुम् ॥ २५ ॥ अद्य तावन्न मे धत्ते दश आप्तो न चाप्यतः। संभावयामि योऽनेन समोंऽरोनापिं केनचित् ॥ २६ ॥ निशम्य तप्तहृत्प्राह कोऽप्युपायोऽत्र चेद्रद् । येनास्य न भवेन्मृत्युर्जगद्रक्षाशिरोमणेः ॥ २७ ॥ अस्त्येवासौ तवाधीनश्चेत्करोषीति तामसौ। धिग्प्राणान्यदि जीवेत वदाश्विति जगाद ताम् ।। २८ ।।

¹ Corrupt.

येषा चण्डी महादेवी राज्ञेबोपासितान्तके । तां चेत्पुत्रं बिंछं दद्यात्तस्य चान्यच्छतं समाः ॥ २९ । किमेतावित दुष्कार्ये कृतं विद्वीत्यसौ तदा। निशम्यान्तर्दधे सोऽपि तद्विधातुं गृहान्ययौ ॥ ३० ॥ स राजा पृष्टतोभूतो गुप्तं प्राप्य गृहं वधूम्। प्रबोध्य वतमाचष्ट स्वस्तीत्युक्वा दुतं गतम् ॥ ३१ ॥ प्रबोध्याद्याहि कृत्वाऽसौ तथा पुत्रोऽपि तं यदा । पितर्जीवेत्प्रभःप्राणान्धिगानृण्यं सतां गतिः ॥ ३२ ॥ श्रुत्वेति वाक्यमुत्तिष्ठ वेछेयं मात्यगाच्छुमा । उत्थायासौ ततः शीघ्रं पित्रा चण्ड्यालयं प्रति ॥ ३३ ॥ स्कन्धयोक्तं समारोप्य जवाद्गन्छंश्च योषया । कस्यया चान्वितो वीरो देव्याखयमवाप्तवान् ॥ ३४॥ गृप्तं राजाप्यसौ दृष्टा सत्त्वं तेषां समं तदा। अतीव विस्मितोऽपूर्वः सर्ग इत्यंतरादृतं ॥ ३५॥ अन्वययौ ... दूरे पश्यन्द्वष्टतन्रुरुद्दः । प्राप्यैवांसाद्वतीर्याऽसौ पुरो देव्याः कृतौ मुदा ॥ ३६ ॥ नःवा देहोपहारेण राजा जीवतु शुद्रकः। अन्यद्वर्षशतं देवि कुर्याद्वाज्यमकण्टकम् ॥ ३७॥ इति विज्ञायन्तं तं निरूप्य मुदितः पिता। उत्याप्य खड्गं तत्पुत्रशिरो देव्या उपाहरत्। सत्प्रत्नेणोपहारेण राजा जीवत्विति श्वन् ॥ ३८॥ [३३ अ] स्वामिभक्तो न चान्योऽस्ति साधोवीरवरादतः । पुत्रीष्युपहतो येनेश्याह वाग्दिब्यरूपिणी ॥ ३९॥ कन्यापि सा वीरवती भातः शिरसि मस्तकम्। निधायः तक्षाणं प्राणांस्तत्रैवाशु जहा शुचा ॥ ४०॥

वीक्ष्य माता पति प्राह दृष्टापत्यशचा मया। कथं स्थेयं प्रभो देहि शान्ति चातुव्रजाम्यहम् ॥ ४१ ॥ सत्यं पुत्रशुगातीयाः कि जीवेन तवाधुना । प्रतीक्षस्व चितां याविद्वधास्ये क्रवर्तस्तथा ॥ ४२ ॥ चित्यां कृतायां नत्वाय देवी सेत्थं व्यजिज्ञपत । जन्मान्तरेऽप्ययं भूयादार्यपुत्रः पतिर्मम ॥ ४३ ॥ एतत्प्रभोस्तु राज्ञोस्तु मदेहेनामुना शिवम्। इत्यदीर्येव सा साध्वी तस्मिनम्भोवहेलया । 88 ॥ ज्वालाकलापजाटिले निपपात चितातले। तत श्विन्तयामास वरि वीरवरोऽत्र सः ॥ ४५ ॥ निष्पत्रं राजकार्यं यद्वागुवाचाशरीरिणी। भरणीयं प्रियं कृत्स्नं व्ययीकृत्य कुढुंबकम् ॥ ४६ ॥ जीवयनेकमात्मानं मादशः को हि शोभते। तिकात्रोपहारेणाध्येनां प्रीणामि तामिन्नकाम् ॥ ४७॥ इत्यालोच्य स देवीं तां स्तत्योपस्थाय तत्क्षणम् । सद्यः करतलाघातेनोत्तमाङ्गं स्वमान्छिनत् ॥ ४८॥ तदाळोच्यासिळं तत्र च्छनोऽसौ शूदको नृपः । आकुळश्च सुदुःखश्च साश्चर्यश्च व्यचिन्तयत् ॥ ४९ ॥ अहो किमप्यनेनैतदन्यत्रादष्टमश्रुतम् । साधुना सकुटुम्बेन दुष्करं मत्कृते कृतम् ॥ ५० ॥ विचित्रेऽप्यत्र संसारे धीरः स्यादिहराः कुतः । अर्पयनप्रभोरर्थे परोक्षं यो ददास्यसून् ।। ५१ ॥ एतस्य चोपकारस्य न कुर्या सहशं यदि । तन्में का प्रभुता किं च जीवितव्यं पशोरिव ॥ ५२ ॥ इति संचिन्त्य नृपतिः खड्गमाकृष्य कोशतः। यावत्प्रवर्तते तावदुदभूद्भारती दिवः ॥ ५३ ॥

¹ Corrupt.

मा साइसं कृथास्तुष्टाः सत्येनानेन ते वयम् । प्रत्युज्जी[३३ ब]वतु सापत्यदारो वीरवरोऽत्र सः ॥ ५४ ॥ श्रुत्वा तथैव तद्भृतं दृष्ट्वा छन्नः पुनश्च सः। परयनतृप्तस्तानासीदृष्टयाहषीश्चपूर्णया ॥ ५५ ॥ ततः स तं तथा मत्वा नत्वा वीरवरोऽभ्विकाम् । आदाय पुत्रदारांस्तान्सिद्धकार्यो गृहं ययौ ॥ ५६ ॥ तत्र प्रवेश्य पुत्रं तं भायौं दुहितरं च ताम्। सिंहदारमगादाज्ञो रात्रौ तस्यां च पूर्ववत् ।। ५७ ।। राजाप्यलक्षितस्तम् गत्वारुह्य च हम्येकम् । व्याहरच स्थितः सिंहद्वारे कोऽत्रेति पृच्छतः ॥ ५८ ॥ ततो वीरवरोऽवादीत्सैष तिष्ठाम्यहं प्रभो। देवादेशाद्गतश्वाहमभूवं तां स्त्रियं प्रति ।। ५९ ॥ राक्षसी वचसाकापि दृष्टनष्टेवमागता । एतच्छ्रत्वा वचस्तस्य राजा वीरवरस्य सः ॥ ६० ॥ सुतरां विस्मयाविष्टो दष्टोदन्तो व्यचिन्तयत् । अहो समुद्रगम्भीरधीरसत्त्वा मनस्त्रिनः ॥ ६१ ॥ कृत्वाप्यनन्यसामान्यमुक्लेखं नोद्गिरन्ति ये। प्रातश्चास्थानसमये दर्शनोपगते स्थिते ॥ ६२ ॥ तस्मिन्वीरवरे प्रीतस्तथा कृत्स्नं स भूपतिः । तदीयं रात्रिवृत्तान्तं मन्त्रिभ्यस्तदवर्णयत् ॥ ६३ ॥ ददौ तस्मै सपुत्राय श्रीत्या वीरवराय सः। छाटदेशे ततो राज्यं सकर्णाटयुते नृपः ॥ ६४ ॥ ततोप्यतुल्यविभवान्योन्यस्ये।पकारिणौ । आस्तां तौ सुखं वीरवरश्रद्रकभूपती ॥ ६५ ॥ तद्भृहि राजनेतेषु नीरः सर्वेषु कोऽधिकः । एत छूखा स भूपाछो वेताळं प्रत्युवाच तम् ॥ ६६ ॥

एषा प्राणैस्तु भृत्यानां भूपैरात्माभिरक्षते ।
तेषामर्थे त्यजन्देहं शृद्धकोऽत्र विशिष्यते ॥ ६७ ॥
इति स्वामिभृत्यानुकूल्यप्राज्ञधीकथनं नाम कुसुमम् ।

[३२]

न्यायेनैतेनार्जनीया धीर्मनीषासौ मनीषि[३४ अ]णाम्। न्यायेन चरतां लोक इहामुलच्छविर्नृणाम् । १ ॥ निदर्शते तथा चात्र न्यायनिर्णयगीतिका । उज्जयिन्याममात्योऽभूत्पुण्यसेनस्य भूपतेः ॥ २ ॥ हरिखामीति तस्याभूत्कन्या लावण्यविश्रुता । सोमप्रमेति सा मातृमुखेन भावतातकौ ॥ ३ ॥ आह शूरस्य वा ज्ञातुर्देया विज्ञानिनोऽपि वा। अहं नान्यस्य चेदर्थी जीवितेन ममास्ति वः ॥ ४ ॥ इत्यं त्रयोऽपि तचित्तास्ते यदा पितरं नृपः । प्रैषिषद्विग्रहायातं दाक्षिणात्यस्य संधये ॥ ५ ॥ कृतार्थश्च समायातो मार्गमध्ये स केनचित । याचितो भूद्रिजाप्रयेण श्रुततद्र्पसंपदा ॥ ६ ॥ कन्यापणं श्रावितोऽसौ विज्ञान्यस्मीति प्राद्द तम् । दर्शयेति स तेनोक्तो रथं तत्क्षणकल्पितम् ॥ ७ ॥ आरोप्य दर्शयामास स्वर्गादींस्तं द्विजं द्विजः । दृष्ट्वा विज्ञानमेतस्य प्रतिशुश्राव तां सुताम् ॥ ८ ॥ सप्तमेऽहि विवाहस्ते भवितेति पणे कृते। आययौ स्वगृहं दैवाद्वरं मातापि चिन्वति ॥ ९ ॥ भातापि पृथगेवैतौ पणपूर्वे परावुमौ । तस्मिनेव दिने वने ज्ञानिनं शूरमेव च ॥ १०॥

हरिस्वामी गृहायातो भार्यापुत्रावुवाच ह । कन्यापणोऽर्धमार्गे मे पूर्णोऽभूच्छिल्पनेति सः ॥ ११॥ निशम्य तौ तथैवास्मा ऊचतः स्वकृतं पणं । पृथकपृथक्तथैकस्मिन्दिने सप्तदिनावधौ ॥ १२ ॥ सोऽपि तेनाकुछो जातो वरत्रयानिमन्त्रणात । अथ तस्मिन्दिने तत्र त्रयोऽप्येते स्वसंविदा ॥ १३॥ आययुर्जानिविज्ञानिशूराः सापि तदा सता। दैवानिश्शंकमेवाभूत्पिहिता नायिता कचित् ॥ १८॥ ततोऽब्रवीद्विजस्तत्र ज्ञानिनं कथ्यतां त्वया । [३४ ब] कैषेति सोऽपि तं प्राह रक्षसा धूमकेतुना । १५॥ नीतालयं निजं विध्यवासिना जीवितास्ति सा । दुःखार्तं विलपन्तं तं कथमाप्येति सोऽन्रवीत् ॥ १६ ॥ विज्ञानी मा शुचो नेष्ये क्षणात्तत्र क्षणात्पुनः। प्रस्थानयामि वेळेषा नात्येत्यप्यौपयामिकी ॥ १७ ॥ इत्युक्तवा तत्क्षणं कृत्वा रथं सर्वास्त्रसंयुतम् । तत्रारोप्य हरिखामिज्ञानिशूरान्वगामिनि ॥ १८॥ तान्समं प्रापयामास क्षणाद्विंच्याटवीभुवि । ज्ञानिना तां समाख्यातां वसतिं तत्र रक्षसः ॥ १९ ॥ ततोऽत्र राक्षसं कुद्धं ज्ञातवृत्तान्तिर्गतम् । स शूरो योधयामास हरिस्वामिपुरस्कृतः ॥ २०॥ क्षणेन च सुसंत्रामदुर्मदस्यापि रक्षसः । अर्धचन्द्रेण बाणेन शूरस्तस्याच्छिनच्छिरः ॥ २१॥ हते रक्षांस तां सोमप्रभां प्राप्तां तदास्पदाम् । आदाय विज्ञानिरथेनाययुस्ते ततोऽखिलाः ॥ २२ ॥

¹ Corrupt.

तत्रास्या छय्रवेछायामाप्तायामुद्रभूत्कािछः ।
तेषां त्रयाणां ज्ञान्याह प्राप्तेयं ज्ञानतो मया । २३ ॥
न चेत्तत्र नियण्ये वः कथमाप्ता भवेदिति ।
विज्ञान्याहाह रार्स्तु न चेत्तं रक्षसं रणे ॥ २४ ॥
हन्यां कथिमयं प्राप्ता भवेदिति कछौ पुनः ।
जाते पिता शुचार्तोऽसौ तृष्णीं तस्थावधोमुखः ॥ २५ ॥
तत्कस्म सात्र देयेति राजन्वदतु मे भवान् ।
इति वेताछतः श्रुत्वा ततो मौनं विहाय च ॥ २६ ॥
स त्रिविक्रमसेनस्तं जगादैवं महीपितः ।
शूराय सा प्रदातन्या येन देहपणोद्यमात् ॥ २७ ॥
अर्जिता बाहुवीर्येण हत्वा तं युधि राक्षसम् ।
ज्ञानिविज्ञानौ त्वस्य यात्राकर्मकरौ कृतौ ।
उभौ गणकतक्षाणौ परोपकरणं न किम् ॥ २८ ॥

इति न्यायधीपरीक्षाभिधानं द्वात्रिञ्चं कुसुमम् ॥

[33]

कि नामागोचरं सूक्ष्माधियां जगित ये क्षणात्।
[३५ अ] करामळकवत्सर्वं दर्शयन्ति तथेत्यताम्॥१॥
शोभावत्यां पुरे योऽभू बशः केतुरिति श्रुतः।
जातायां तीर्थयात्रायां तत्रागाद्धवल्लाभिधः॥२॥
वैश्यपुत्रो ददर्शासावत्रत्य रजकात्मजाम्।
तीर्थे कामं शिरोद्धिन्नगात्रोऽभिज्ञाय तत्कुलम्॥३॥
गतो मृष्क्लीसमापनाः पितृभ्यामनुमोदितः।
समाश्वसिहि सा जात्यमावयोरिति दौत्यतः॥४॥

बभूव तत्तथा येन तेनाप्तानङ्गसुंदरी। कृतोद्वाहश्च स तया साकं दर्शनसक्तया। भार्यया स्विपतुर्गेहं जगाम धवछः कृती ॥ ५॥ अथ स्यालोऽस्य भगिनीं तं चापि भगिनीपतिम । निमन्त्रयितुमायातः सुखं तत्रावसदिनम् ॥ ६ ॥ प्रातमेदनसुन्दर्भा श्वाद्यर्येण च तेन सः। सिहतो धवलः प्रायादृहं तन्छ्वशुरं प्रति॥ ७॥ प्राप्य शोभावतीं तां च पुरीमात्मतृतीयकः। ददर्शन्तिकमाप्तोऽसौ श्रीगौर्यायतनं महत् ॥ ८॥ एतया मे मनःकामः पूरितस्तीर्थयात्रया । क्षयं नामाहमेतस्या गत्वा कुर्वे न चार्चनम् ॥ ९ ॥ इति कृत्वा मितं भार्यो स्थालं चाह प्रयात भोः। एनां गौरीं समभ्यर्च्य यामो वयमथालयम् ॥ १० ॥ नेत्यसौ प्रतिषिद्धश्च तिष्ठतं केवलं त्वहम् । गत्वाभ्यर्च्याप्यस्तं रशित्रं यामीत्युक्त्वा ययौ त्वरम् ॥ ११ ॥ प्राप्यात्र विधितोमुष्यजाताधीवेतु जातुचित्। नार्चितेयं मया सम्यग्देवी तत्साम्प्रतं मया ॥ १२ ॥ तोष्याऽसौ जीवदानेनेत्याकल्य्य कृपाणिकाम् । उत्थाप्य तद्गभगृहाद्यात्रिकैः प्राभृतीकृताम् ॥ १३ ॥ बद्धा शिरोरुद्दैः घण्टाशुङ्खलायां निजं शिरः । चिच्छेदासौ तया तच च्छिनं द्रागपतद्भवि ॥ १४ ॥ किंच यावत्स नायाति तावद्गत्वा तमीक्षितुम् । [३५ ब]तत्रैव देवीभवने तच्छ्वाञ्चर्यो विवेश सः ॥ १५ ॥ तदृश मोहितः सोऽपि शिरस्तेनासिनाच्छिनत् । तिचतया गता सापि दृष्टा तौ च तथागतौ ॥ १६ ॥

हा किमेतद्धतास्मीति विरुपन्त्यपतद्भवि । क्षणाचोत्याय शोचन्ती तावकांडहतावुमौ ॥ १७ ॥ किं ममाप्यधनानेन जीवितेनेत्यचितयत् । इति घृत्वा मति देवीं सा तां नत्वाभ्यजिज्ञपत् ॥ १८ ॥ अस्त्येवं दुर्भगाया मे देवि मक्तार्तिनाशिनि । किंत्वियत्प्रार्थये भूयो जन्मन्येतौ प्रदेहि मे ॥ १९ ॥ पति च भातरं चैव स्मृतिं चैमां महेश्वरि । इति विज्ञप्य तां यावत्पाशं कण्ठेऽर्पयत्यसौ ॥ २० ॥ तावत्तत्रोचचारेत्यं भारती गगनाङ्गणात् । मा कृथाः साहसं पुत्रि बालाया अपि तेऽसुना ॥ २१ ॥ सत्त्वोत्कर्षेण तुष्टास्मि पारामेकं परित्यज । संश्लेषय शिरः स्वं स्वं मर्तुभातृकबन्धयोः । उत्तिष्ठतां च जीवन्तावेतौ द्वाविपमद्वरात् ॥ २२ ॥ निशम्यैतच संत्यज्य पाशं हर्षसुसंभ्रमा । अविभाव्यातिरभसाद्भान्ता मदनसुन्दरी ॥ २३ ॥ बाटा भर्तृशिरो भातृदेहेन समयोजयत् । भातुश्व भर्तृदेहेन तथा विधिनियोगतः ॥ २४ ॥ ततोऽक्षताङ्गौ जीवन्तावुभावुत्तस्यतुश्च तौ । शिरोविनिमयाज्जातसंकरी काययोर्मिथः ॥ २५ ॥ भयान्योऽन्योदितस्वस्ववृत्तसंतुष्टमानसाः । प्रणम्य देवीं शर्वीणीं यथेष्टं ते ययुक्षयः ॥ २६ ॥ यान्ती विलोक्य स्वकृतं शिरोविनिमयं तयो: । धिया किं कार्यताम् हा साभून्मदनसुन्दरी ॥ २७ ॥ तद्भृहि राजन्को भर्ता तस्याः संकीर्णयोस्तयोः । स विक्रमसेनोऽत्र तमेवं प्रतिभाषत ॥ २८ ॥ 🖠 🐇

यित्थतं तत्पितिशिरः स वै तस्याः पितस्तयोः।
प्रधानं हि शिरोऽङ्गेषु [३६ अ] प्रत्यभिज्ञा च तद्गतेति॥२९॥
इति सक्ष्मधीवर्णनाभिधं त्रयास्त्रिशं कुसुमम्।

[१४]

महासंकटपातेऽपि सत्यसंघो विमुच्यते । यथा वणिक्सुता तस्मात्संघा सत्या विधीयताम् ॥ १ ॥ तथा च कामाख्यपुरे सार्थवाहोऽर्थदत्तकः । कन्यास्यानङ्गसेनेति बभूवोर्वीविभूषणम् ॥ २ ॥ तामेकदा निजोचाने क्रीडन्तीं ससखीवृताम् । दृष्ट्वा सोऽच भातृसुदृद्धर्मदत्तो वणिक्सुतः ॥ ३ ॥ अभूदनङ्गाबाणीघसंतापद्दतचेतनः । ततः सा ययौ गेहं सोऽपि तद्व्यात्रिताशयः ॥ ४ ॥ गत्वाळयं भ्रमन्भूमौ पपाताथ प्रयत्नतः । रात्रिं जागरणेनैव निनाय स्वजनैवृतः ॥ ५ ॥ प्रातर्गत्वैकिकां तत्र विङोक्यैतां प्रतीक्षणीम् । सखीस्तूर्णमुपेत्याऽसौ जप्रहे चरणौ नत: ॥ ६ ॥ कन्याहं परभायी च पितादानमां भविष्यति । दिनैः कतिपयैश्वेव विवाह इति गच्छ भोः॥ ७॥ मा पश्येत्कश्चिदेवापि दोषस्ते प्रभविष्यति । त्वय्यपि प्रेमबद्धाऽहं तावद्गच्छ पितुर्वतम् ॥ ८ ॥ पूरियत्वा तवाप्येष कामो मे भवितोदयी। इत्युक्त्वा स तयात्यर्थे धर्मदत्तो जगाद ताम् ॥ ९ । अस्त्वेवं च न जीवेयं विना तु भवतीमहम्। श्रुत्वोद्वाद्दो भवत्वेष विवादः प्राप्त्रुयास्फलम् ॥ १०॥

.तस्ततस्त्वामेष्यामि निश्चितं प्रणयार्जिता । ्राह्म 🔑 🤌 श्रुत्वेतत्सोऽब्रवीचेष्टापरपूर्वी मम प्रिया ॥ ११ ॥ परमक्ते हि कमछे किमछेर्जायते रतिः। इति श्रुत्वातुरं वीक्ष्य तमप्येषाह मा शुचः ॥ १२ ॥ जातोद्वाहाहमम्येमि त्वां पूर्वं तं ततोऽपि भोः । उक्तोप्यनाश्वस्तमतिर्प्रहेण पुनरप्यसौ ॥ १३ ॥ पादौ नत्वा ययाचे तां सापि प्रत्ययमादधौ । ततस्तेनोज्झिता विग्ना विवे[३६ ब]श निजमंदिरम् ॥ १४ ॥ प्राप्तायां लग्नवेलायां कृतोद्वाहं पतेर्गृहम् ! गत्वा शय्यानिषण्णापि विमुखाभूत्ससान्तिवता ॥ १५॥ अप्यसौ न यदा तस्याभिमुखाभूत्तदा तु सः । अहोदियो न चेत्तेहं प्रियो यस्तं त्रजेरिति ॥ १६ ॥ तच्छूत्वा ब्रीडिताहैनं त्वं प्राणेम्योऽसि मे परम् । विज्ञप्तिमवधार्येनां सपणं देहि मेऽभयम् ॥ १७ ॥ अस्त्वेवमपि किं ब्रूहि जगादासौ च सत्तपा । उद्याने क्रीडमानां मां दक्षा आतृसखातुरः ॥ १८॥ हठप्रणयभंगीभिश्वकमे त्यक्तुमुद्यतः । प्राणान्यदा तदासौ मे सपणं मानितः पितुः ॥ १९ ॥ धर्म च शरणीकृत्य प्राग्यास्ये त्वामिति प्रभो । तन्मे सत्यवचः पाल्यमनुमन्यस्व तत्प्रभो ॥ २०॥ यावत्तिक्रकटं गत्वा क्षणेनोपैमि तेऽन्तिकम्। न हि शक्नोम्यतिकान्तुं सत्यमाबाल्यसेवितम् ॥ २१ ॥ वज्रपातसमं श्रुत्वा वचस्तस्यास्तद्प्यसौ । विचिन्स्य येयमनया ध्रुवं नात्र ग्रहो मम ॥ २२ ॥ फलेद्भवति सत्यं तदस्याः फलितमीक्षताम् । प्रभावश्वाच सत्यस्येत्येत्रमेष तथेति ताम् ॥ २३ ।।

उक्तासौ निर्ययौ तस्माद्रहात्सत्यनियंत्रिता । यान्त्यसौ सरणौ दैवाचौरेणैकेन सत्वरम् ॥ २४ ॥ कुद्धा विग्नाह को ऽसीति चौरोहमिति वादिनम् । तं हराभरणौघं मे याहीति तमुवाच सः ॥ २५ ॥ किं मेऽमीभिः परं जीवस्त्वामेवार्थयते बले । चेत्प्रसीदिस जीवोऽयं सुखी भवति नान्यथा ।। २६ ।। त्वां हत्वाप्येष जीवो मे त्वामेवानुव्रजिष्यति । इत्युक्तवा निजवृत्तान्तमाद्यायार्थयते स्म तम् ॥ २७॥ क्षमस्व मे क्षणं यावत्कृत्वा सत्यानुपाळनग् । इहस्थस्येव ते पार्श्वमागमिष्यामि सत्वरम् ॥ २८॥ श्रुत्वैतत्सत्यसन्धां तां मत्वा चौरो मु[३७ अ]मोच सः । तस्थौ प्रतीक्षमाणश्च स तत्नेव तदागमम् ॥ २९ ॥ तदन्तिकमितो गत्वागतास्मीति तमाह सा । हृष्टोऽसौ सर्ववृत्तान्तं तां पप्रच्छ तथोदितः ॥ ३० ॥ आह सत्येन ते तुष्टो गच्छ नेक्षेत चापरः । यथेति तेन त्यक्ता सा ययौ चौरान्तिकं पुनः ॥ ३१ ॥ दृष्टा तामप्यसावाह किं ते वृत्तमभूद्रद । इति तेनानुयुक्तासौ सत्यवृत्तमबोधयत् ।। ३२ ।। निशम्य सत्यतुष्टस्तेऽहमप्येत्येहि सत्वरम् । मा भूद्रीरिति तन्मुका पतिगेहं मुदा ययौ ॥ ३३ ॥ तत्र गुप्तप्रविष्टा सा प्रहृष्टा वर्णयन्निजम् । सर्वे वृत्तं स सत्यं तचेंगितादिना ॥ ३४ ॥ अदुष्टां सर्वथा भायीमाभिनन्द कुळोचिताम् । तस्थौ समुद्रदत्तोऽथ तया सह यथामुखम् ॥ ३५ ॥ तद्राजन्कतमस्त्यागी त्रयाणामत्र भाति ते । वद सत्येन चेन्नाथ शिरस्ते निपतिष्यति ॥ ३६ ॥

¹ Corrupt.

चौरस्त्यागी न विणजाविति सत्यं विभाति मे ।
पतिपरानुरक्तां तां विलोक्य कुल्जः कथम् ॥ ३७ ॥
हाँद कुर्यात्परः काल्जीणियेगो भयादिप ।
सासौ प्रातर्नृपायाहेति च चौरस्तु पापधीः ॥ ३८ ॥
निरपेक्षो गुप्तचारी तामत्याक्षीच यत्तदा ।
सभूषां तेन मे भाति चौरस्त्यागीति नान्यथा ॥ ३९ ॥

इति सत्यप्रतिज्ञाफलकथनं नामकं चतुर्स्तिशं कुसुमम्।

[३५]

कि नाम मन्त्रिणां गुप्तं मन्त्रधीः सर्वसाधनम् । तथा विचरतां नेह स्खळनं जातु जायते ।। १ ॥ वाराणसीति नगरी कीडास्थानं यदीशितुः । तत्राभूद्राजमान्योऽप्यो देवस्वामीति वाडवः ॥ २ ॥ इरिस्वामीति पुत्रोऽस्य तस्य छावण्यम्तिंभृत्। [३७ व] तिल्लोत्तमादिनाकस्त्रीरूपगर्वापद्दारिणी ॥ ३ ॥ भायी स चानया साकं हरिस्वामी कदाचन । रतिक्कान्तो ययौ निद्रां हर्म्ये शीतांशुशीतळे ॥ ४ ॥ तन्मार्गेण ययौ तत्र विद्याधर्कुमारकः । तां रतिक्रमसंस्रस्तवस्त्रयुक्ताङ्गसीष्ठवाम् ॥ ५ ॥ विलोक्य कामविद्धाङ्को द्वागान्त्रभसा गृहान् । प्रबुद्धोऽसावदृष्टा तामवेक्याथार्गळादिकम् ॥ ६ ॥ तथैव शोकसंतप्तो बभूव बहुदुःखितः । कृत्वापि यत्नं परितो यदा नैनामवाप्तवान् ॥ ७ ॥ तदोद्विग्नदृदाश्चेष तीर्थयात्रामिषादृहात्। निर्गत्य व्यचरदेशांस्तदाप्तिधृतचेतनः ॥ ८ ॥

जातु आन्तः क्षुधार्तोऽसौ द्वारि कस्यापि ब्रह्मणः। मन्त्रिणोऽघोमुखस्तस्थौ चिन्तयन्हृदि तां परम् ॥ ९ ॥ तथा स्थितं तमालोक्य मन्त्रिणस्तस्य गेहिनी । दर्याद्रचित्ताह विप्रः क्षुधार्तो मा म्रियेदसौ ॥ १० ॥ इति ध्यात्वा तमेतस्मै दत्वा सघतरार्करम् । आह वापीसमीपेऽत्र गत्वा मुंक्ष्य मुदेति तम् ॥ ११ ॥ गत्वात्र वटमूळेऽसौ पात्रं संस्थाप्य वापिकाम् । ययौ क्षाळियतुं पाणिपादे सुस्थाशयस्तदा ।। १२ ।। प्रक्षाल्य पाणिपादं च वाप्यामाचम्य चाप्यसौ । यावद्भक्षयितुं तुष्टः पायसं याति तत्तदा ।। १३ ॥ गहीत्वा पादचंच्वाभ्यां कृष्णसपै बळाद्विळात् । रयेनः कुतिश्वदागस्य तटे तस्मिन्नुपाविरात् ॥ १४ ॥ तेन तस्योह्यमानस्य सर्पस्याक्रम्य पक्षिणा । उत्क्रान्तर्जीवितस्यास्याद्विषरु। विनिर्ययौ ॥ १५ ॥ साधस्तत्र पपातानपात्रेऽस्याज्ञातमेव च । भुक्तवा शेषं तदेवाञ्च ददाह हृदि[३८ अ]वाडवः ॥ १६ ॥ क्षणात्प्राणार्तिदःखेन विल्पत्सेति वाडवः । अहो विधी विपर्यस्ते न विपर्यस्यतीह किम् ॥ १७ ॥ यद्विषीभूतमन्नं मे सक्षीरघृतशर्करम् । गत्वा तां मन्त्रिणस्तस्य विप्रस्योवाच गेहिनीम् ॥ १८ ॥ खदत्ताद्विषमनानमे जातं तद्विषमंत्रिणम् । कंचित्समानय क्षिप्रं ब्रह्महत्यान्यथास्ति ते ॥ १९ ॥ इस्युक्तवैव स तां साध्वीं किमेतदिति विह्वलाम्। हरिस्वामी परावृत्तनेत्रः प्राणैर्व्ययुज्यत ॥ २०॥ ततः सा तेन निर्दोषाप्यातिथीय्यपि मन्त्रिणा । भार्या निष्कासिता गेहान्मिध्यातियिवधक्रुवा ॥ २१ ॥

11

साप्युत्पन्नमृषावद्या प्रशस्तादिप कर्मणः । जातावमाना तपसे साध्वी तीर्थान्यशिश्रियत् ॥ २२ ॥ कस्य विप्रवधः सोऽस्तु सर्पश्येनान्नदेष्विह । उदभूद्धर्मराजाप्रे वादो माभूच निश्चयः ॥ २३ ॥ तन्न विक्रमसेन त्वं राजन्त्रूहि ममाप्रतः । इत्यं निशम्य तस्यासौ मुक्तमानोऽत्रवीदिदम् ॥ २४ ॥ तस्य तत्पातकं तावत्सर्पस्य यदि वास्य कः । विवशस्यापराधोऽस्ति भक्ष्यमाणस्य शत्रुणा ॥ २५ ॥ अथ श्येनस्य तेनाऽपि किं दृष्टं विदितात्मना । अकस्मात्प्राप्तमानीय भक्ष्यं भक्षयता निजम् ॥ २६ ॥ दम्पत्योरन्नदानोर्वा तयोरेकस्य तत्कृतः । तद्वं तस्य मन्ये सा ब्रह्महत्या जडात्मनः । अविचार्येव यो ब्रूयादेषामेकतरस्य ताम् ॥ २७ ॥ निक्रत्यो प्रक्रिक्ति योज्ञानस्य स्थानं क्रमणः ।

इति नीतिकल्पे मन्त्रिनैपुण्यकथनाभिधानं कुसुमम्।

[३५ अ]

कुर्वन्तु नाम सामान्यजना नृपतिविधियम् ।
तथापि नो च्यवन्ते ते स्वधर्मार्जनपालनात् ॥ १ ॥
कलेरगम्ये कनकपुराष्ट्ये नगरेऽभवत् ।
भूपो यशोधरामिष्ट्यः पाल्यामास मेदिनीम् ॥ २ ॥
जगदाह्वादकश्चण्डप्रतापोऽखण्डमण्डलः ।
विधिना यश्च चन्द्राक्तिवेकिकृत्येव निर्ममे ॥ ३ ॥
तस्य राज्ञः पुरे तत्र बभूवेको महावणिक् ।
उन्मादिनीति तस्याभूत्कन्या दर्शनमात्र[३८ व]तः ॥ ४ ॥
या जगन्मदयामास यौवनस्थातिसुन्द्री ।
तां तथोन्मादिनीं दृष्ट्वा सर्वलोकावमानिनीम् ॥ ५ ॥

यशोधरं तं राजानं स गला तत्पिता वणिक । वृत्तं निवेष सुतयान्यमंत्रयत नीतिवित् ॥ ६ ॥ राजा हि सर्व रत्नानां प्रभुः कृस्नेऽपि भूतछे ! तत्स्वीकृत्यानुगृह्णातु देवस्तां परथापि वा ॥ ७ ॥ इत्याकण्यं स विप्रांस्तान्सादरं व्यसृजन्मुदा । तल्लक्षणपरीक्षार्थं गत्वाऽवेक्ष्य च तां मुदा ॥ ८ ॥ चुक्षुभुरतेन या नाम इतिचित्तो न किंचन। करोति देशरक्षाद्विधर्म चितयतानघाः ॥ ९ ॥ इति संमन्त्र्य ते शीघ्रमागत्यासमै न्यवेदयन् । सत्यं रूपवती किन्तु वैधव्याङ्कितमस्तका ॥ १०॥ निशम्य गूढं राजासौ निषिषेधार्थिनं च तम् । तदाज्ञया विणक्पत्रीं ददौ तद्वलपालिने ॥ ११ ॥ अय सा तद्रहे तस्यौ भर्त्रा तेन समं सुखम् । कुळक्षणेत्यहं राज्ञा त्यक्तेत्यात्तविमानना ॥ १२ ॥ अय जातुमहोद्रष्ट्रमथो राजा विनिर्ययौ । सर्वतो वनिताश्चामुं द्रष्टुमुद्धोषबोधिताः ॥ १३ ॥ अहो अनेन मुक्ताइमिति यत्तानुवो वपुः । दर्शितोऽसौ समोहश्वाकोक्य या रूपसंपदा ॥ १४ ॥ मृत्येराश्वासित श्वेव राजधानीं प्रविश्य सः। पृष्टेम्यो बुबुधे तेभ्यस्तां प्रागुपनतोज्झिताम् ॥ १५ ॥ ततो निर्वास्य देशात्तांस्तत्कुलक्षणवेदिनः। ं विप्राननुदिनं दध्यौ तामेवोक्तः स भूपतिः ॥ १६ ॥ अहो हीतिस्मरनन्तः क्षीयते स्म दिने दिने । कामाग्निपुटपाकेन पच्यमानः स भूपतिः ॥ १७ ॥

¹ Corrupt.

हिया निगृहमानश्च पृच्छद्रयो शहालक्षणैः। कृच्छाच्छशंस चातेभ्यः स्वपीडाकारणं स तत् ॥ १८ ॥ अछं संतप्य भजसे स्वाधीनां तर्हि किं तु ताम् । इत्युक्तस्तैश्च नैवेतदनुमेने स धार्मिकः ॥ १९ ॥ ततो बलघरो बुद्धा स सेनापतिरेत्य तम् । ्रप्रभुमभ्यर्थयामास सङ्गक्त्या चरणानतः ॥ २० ॥ दासस्त्री तव दास्येव न सा देव पराङ्गना । स्वयं चाहं प्रयच्छामि तद्भायाँ स्वीकुरुष्त्र मे ॥ २१ ॥ अथ वा तां त्यजामीह देव देवकुळे ततः । 🖟 न दोषो ग्रहणे तस्या देव देवकुलस्त्रियः ॥ २२ ॥ इति स्वसेनापतिना [३९ अ] निर्बन्धेन स पार्थिवः। तेनानुनाय्यमानोऽपि सांतःकोपमुवाच तम् ॥ २३ ॥ राजा मूत्वा कथं कुर्यामधर्ममहमीदशम्। मय्युछंघितमयीदे को हि तिष्ठेत्स्ववर्त्भनि ॥ २४॥ मक्तोऽपि च मवान्पापे नियोजयसि मां कथम्। परलोकमहादु:खहेतौ क्षणसुखावहम् ॥ २५ ॥ न क्षमिष्ये च ते धर्म्यान्दारान्यदि विहास्यसि । सहते मादशः को हि तादशं धर्मविष्ठवम् ॥ २६॥ तद्वरं मृत्युरित्युक्त्वा स राजा निषिध तम् । त्यजन्त्युत्तमसत्त्वा हि प्राणानिप न सत्पथम् ॥ २७ ॥ ततः क्रमेण तेनैव स्मरज्वरभरोष्मणा। प्रक्षीणदेहः प्रययौ स यशःशेषतां नृपः ॥ २८ ॥ सेनापतिश्वासहिब्णुस्तथा तं प्रमयं प्रभोः । सोऽप्रिं विवेश भक्तानामनिर्वाच्यं हि चेष्टितम् ॥ २९ ॥ तदेतयोः को नृपते सेनापतिमहीभृतोः। सत्त्वेनाभ्यधिको बूहीत्युक्तो राजेति सोऽवदत् ॥ ३० ॥

सेनापतिः कथं नात्र राजन्त्रभ्यधिको वदः। यस्तथा स्वामिने भक्ला स्वां भार्यो तां तथाविधाम् ॥ ३१ ॥ स्वचिरं ज्ञातसंभोगसुखास्वादोऽप्युपानयत् । आत्मानं चाग्निसाचक्रे तस्मिन्पञ्चत्वमागते ॥ ३२ ॥ अनास्वादिततङ्कोगस्तत्कान्तां तु जही नृपः। इति पृष्टः चाहैनं किं चित्रं कुछपुत्रकः ॥ ३३ ॥ सेनापतिः स्वभक्त्या यत्स्वाम्यर्थं तत्त्रथाकरोत् । प्राणैरिप च दासानां स्वामिसंरक्षणं हितम् ॥ ३४॥ राजानस्तु सदाध्माता गजा इव निरंकुशाः। छिन्दन्ति धर्ममर्यादाशृङ्खळां विषयोन्मुखाः ॥ ३५ ॥ तेषां ह्यद्रिक्तचित्तानामभिषेकाम्बुभिः समम्। विचारो विगलत्योघेनोद्यमान इवाखिलः ॥ ३६ ॥ क्षिप्यन्त इव चोद्भयचळचामरमारुतै: । वृद्धोपदिष्टशास्त्रार्थरजोमषकमक्षिकाः ॥ ३७॥ आतपत्रेण सत्यं च सूर्यालोको निवर्तते । विभूतिवात्योपहता दृष्टिर्मार्गं च नेक्षते ॥ ३८॥ तदेते वि[३९ ब]पदं प्राप्ता मारमोहितचेतसः। जगि्दजियनोऽपीह राजानो नहुषादयः ॥ ३९॥ एव राजा पुनः पृथ्व्यामेकच्छत्रोऽपि यत्तथा । उन्मादिन्या चपलया लक्ष्म्येव न विमोहितः॥ ४०॥ प्राणानपि च धर्मात्मा तत्याज न पुनः पद्म् । अमार्गे निद्धे धीरस्तेनासौ मेऽधिको मतः॥ ४१॥

इति नीतिकल्पे प्रजासर्गराजसर्गकथनाभिधं पश्चित्रंशं कुसुमम् ॥*

^{*} This aught to have been numbered as thirty-six. The copyist seems to have forgotten to count 'मन्त्रिनेपुण्यकथनाभिषं कुसुमर्'। We have, therefore, marked this as (३५ अ) so as to keep the original order as we have done in the case of the 9th Kusum.

नीतिकल्पतरुः

[३६]

🧸 🏸 🕕 े नास्थाने जात वसव्यं विद्यावीजं मनीिषणा । दूरे तिष्ठतु तदृद्धिर्यतो मूलेऽपि संशयः ॥ १ ॥ तथा च श्रूयतामत्र कथोदकीय धीमताम्। अस्ति चोज्जियनीनाम्न्यां पुर्यां चन्द्रप्रभप्रभाः ॥ २ ॥ देवस्वामीति विप्राप्रयोऽमात्यो गुरुरिवापरः । तस्य कालेन तनयश्चन्द्रस्वामीत्यजायत ॥ ३ ॥ सोऽधीतविद्योऽपि युवा दूतैकव्यसनोऽभवत् । बूतकारसभां गत्वा क्रींडित्वा कितवैः सह ॥ ४ ॥ वस्नादि हारयित्वाऽसौ धनं सर्वमहार्यत् । मृग्यमाणं च यनादात्स तद्धनमसंभवि ॥ तदवष्टम्य सम्येन ऌगुडैः पर्यताङ्यत ॥ ५ ॥ लगुडाहतसर्वाङ्गः पाषाणमिव निश्वलम् । कृत्वा मृतमिवात्मानं तस्थौ विष्रस्ततोऽथ सः ॥ ६ ॥ तथैव दिवसान्द्रित्रांस्तत्र तस्मिन्नवस्थिते । सम्योऽसौ कितवानाह श्रितानेनाश्मता ध्रुवम् ॥ ७ ॥ तदेनं दूरतो नीत्वान्धकूपे क्षिपताचिरम् । धनं दास्येऽखिलं वोऽहं मा शंकत धनं प्रति ॥ ८ ॥ इत्युक्तास्तेन कितवास्तं चन्द्रस्वामिनं ततः । अरण्यं निन्युरुत्क्षिप्य दूरं कूपगवेषिणः ॥ ९ ॥ तत्रेको वृद्धिकतवः प्राद्ध किं कूपयातनात् । 🖅 🥟 मृतोऽसौ िकमिहैवाशु न हीयेत कृतं श्रमैः ॥ १० ॥ कूपेऽसाबुज्झित इति वच्मश्चैव तथेति ते । कृत्वा गताश्व सोऽप्याशुत्थाय शून्यं सुरालयम् ॥ ११ ॥ प्रविश्याश्वस्य दुःखातिश्चिन्तयामास धृतिराट् । 🗝 ा अहो प्रमुषितो नग्नः (कें करोमि [४० अ] क याम्यहम् ॥१२॥ पिता बन्धुः सुहृद्वापि दृष्ट्वा किं नु वदेनमम । तत्संप्रति स्थितोऽस्मीह नक्तं च क्षत्प्रशान्तये ॥ १३ ॥ पश्यामि निर्गत्य कथं यतिष्ये भोजनं प्रति । इत्यालोचयतस्तस्य क्वान्तस्यानम्बरस्य च । अस्तं गते रवौ भूतिदिग्धाङ्गो यतिराययौ ॥ १४ ॥ स चन्द्रस्वामिनं दृष्ट्वा कोऽसीति परिपृच्छ्य च । श्रत्वा तस्माच वृत्तान्तं प्रह्नं तं यतिरत्नवीत् ॥ १५ ॥ त्वं ममेहाश्रमं प्राप्तः क्षुत्क्वान्तो चिन्तितोऽतिथिः। तदुत्तिष्ठ कृतस्नानो मिक्षाभागं समाहर ॥ १६ ॥ इत्युक्तो व्रतिनानेन चन्द्रस्वामी जगाद तम् । विव्रोऽहं भगवन्भोक्ष्ये भिक्षाभागं कथं तव ॥ १७॥ तच्छ्रवा स व्रती सिद्धः प्रविश्य मठिकां निजाम् । इष्टसम्पादिनीं विद्यां सस्मारातिथिवल्लभः ॥ १८॥ संस्मृतोपस्थितां तां च किं करोमीति वादिनीम् । अमुष्याचीमतिथयेः कुरुष्वेति राशास ताम् ॥ १९ ॥ तथेत्यक्ते तया तत्र सोद्यानं साङ्गनाजनम् । पुरं सौवर्णमुत्पन्नं चन्द्रस्वामी ददर्श सः ॥ २० ॥ विस्मितं च तमम्येत्य तस्माद्वाराङ्गनाः पुरात् । उचुरुतिष्ठ मदेहि स्नाहि मुंक्ष्व त्यज श्रमम् ॥ २१ ॥ इत्युक्तवाभ्यन्तरं नीत्वा स्नपयित्वानुलिप्य च । ताभिः स दत्तसद्वस्रो निन्येऽन्यद्वासकग्रहम् ॥ २२ ॥ तत्रान्तः स ददशैंकां प्रधानयुवति युवा । सर्वोक्ससन्दरी धात्रा कौतुकादिव निर्मिताम् ॥ २३ ॥ तया स सोत्क्षयोत्थाय स्वासनार्धे निवेशितः। बुभुजे दिन्यमाहारं तथैवात्र समं तया ॥ २४ ॥

पर्यकशयने भेजे तत्संभोगसुखं निशि । प्रातः प्रबुद्धश्वापश्यत्तमेवात्र शिवालयम् । न ता दिव्याङ्गना नापि पुरं तच्च परिच्छदम् ॥ २५ ॥ ततः स विष्नं निर्यातं मठिकातः स्मिताननम् । पृष्टरात्रिसुखं प्रातस्तापसं तं व्याजिज्ञपत् ॥ २६ ॥ त्वस्प्रसादादहं रात्रावुषितो भगवत्सुखम् । किं तु यास्य[४० ब]न्ति मे प्राणास्तया दिन्यक्षिया विना ॥२७॥ तच्छ्रवा स तपस्वी तं हसन्कारुणिकोऽत्रवीत्। इहैवास्व पुनर्नक्तं भविष्यति तथैव ते ॥ २८॥ इत्युक्त्वा व्रतिना तेन तदुक्त्यैव प्रतिक्षपम् । चन्द्रस्वाम्यत्र सोऽभंक्त भोगं तं तत्प्रसादतः ॥ २९ ॥ बुद्धा च तं रानैविद्याप्रभावं विधिचोदितः। एकदा तापसेन्द्रं तं संप्रसाद्यान्वयाचत ॥ ३०॥ सत्यं कृपा चेद्भगवन्मयि ते शरणागते । तदेतां देहि मे विद्यां यस्प्रभावोऽयमीदशः ॥ ३१ ॥ इति ब्रुवाणं निर्वन्धात्तं प्रस्थाह स तापसः। असाध्या तव विद्येयं साध्यतेऽन्तर्जले ह्यसौ ॥ ३२ ॥ तत्र चैषा सुजत्याशु जपतः साधकस्य तत्। मायाजाळं विमोहाय येन सिद्धिं न सोऽरनुते ।। ३३ ॥ अस्थानार्पणतो यावद्वरोरपि विनश्यति । मित्सद्वयैव फले सिद्धे किं प्रहेणामुना तव ॥ ३४ ॥ मिस्बिद्धिहान्या मा जातु तयैतद्पि नश्यति । एवं तपस्विनोक्तोऽपि चन्द्रस्वामीप्रहेण सः ॥ ३५ ॥ शिक्षामि शैवं माभूद्रश्चिन्तात्रेति तमब्रवीत् । ततोऽसमै प्रतिपेदे तां विद्यां दातुं स तापसः ॥ ३६ ॥

बताश्रितानुरोधेन किं न कुर्वन्ति साधवः। ततो नीत्वा नदीतीरं स तं स्माह महानती ॥ ३७ ॥ यत्त्वं विद्यां जपन्मायां यदा द्रक्ष्यसि तां तदा । मायाग्निमेव प्रविशेर्विद्यया बोधितो मया ॥ ३८॥ अहं च तावत्स्थास्यामि तथैवेह नदीतटे । इत्युक्तवाध्यापयामास तमाचान्तं शुचि शुचिः। स चन्द्रस्वामिनं विद्यां सम्यक्तां त्रतिनां वरः ॥ ३० ॥ ततस्तीरस्थिते तस्मिन्गुरौ विप्रः प्रणम्य तम् । चन्द्रस्वामी रमसान्त्रदीमवततार ताम् ॥ ४० ॥ तस्या अन्तर्जले विद्यां तां जपन्सहसैव सः। तन्मायामोहितो मिध्या सर्वं विस्मृत्य जन्म तत् ।। ४१ ॥ वीक्षते यावदन्यस्यामुत्पनाः स्वात्मना पुरि । पुत्रो विप्रस्य कस्यापि वृद्धि स शनकैर्गतः ।। ४२ ॥ कृतोपनयनो । ४१ अ]ऽधीतविद्यो दारानवाप्य च। तदुःखसुखसंपूर्णः संपन्नापत्यवान्क्रमात् ॥ ४३ ॥ ततश्चात्र सुतस्रेहस्वीकृतस्तत्तदाचरत्। ततो बद्धरतिः सार्धे पितृभ्यां बन्धुभिस्तथा ॥ ४४ ॥ एवं जन्मान्तरे मिध्या स तस्यानुभुवाश्रमः । काले प्रबोधिनीं विद्यां गुरुः प्रायुंक्त तापसः ॥ ४५ ॥ स तिहचाप्रयोगेण सचस्तेन प्रबोधितः। स्मृत्वात्मानं गुरुं तं च मायाजाळमवेत्य तत् ॥ ४६ ॥ उद्यतोऽग्निप्रवेशाय विद्यासाध्यवलासये । परिवार्यनिषेधि द्विवृद्धातगुरु बन्धुभिः ॥ ४७ ॥ बहुधा बोध्यमानोऽपि तदिव्यसुखलोभतः । स सजितचितं प्रायानदीतीरं सनान्धनः ॥ ४८॥ दृष्ट्वा च पितरो वृद्धो भार्यो च मरणोघताम्। क्रन्दिनत बालापत्यानि सोऽथ मोहादिचन्तयत्।। ४९।।

¹ Corrupt.

कष्टं मियन्ते स्वजनाः सर्वेऽमी विश्वतोऽनलम् । न च जानामि किं सत्यं गुरोस्तद्वचनं न वा ॥ ५० ॥ तिक न प्रविशाम्यप्रिमृत किं न विशामि वा । अथवा तत्कथं मिथ्या स्यात्संवादि गुरोर्वचः ॥ ५१ ॥ तिद्विशाम्यनलं कामिस्यन्तःप्रविमृश्य सः । अग्निप्रवेशं विदधे चन्द्रस्वामी किल द्विजः ॥ ५२ ॥ अनुभूतिहमस्पर्शी वहेश्व स सविस्मयः। शान्तः सायं नदीतीरादुत्थायोपययौ तटम् ॥ ५३ ॥ तत्र स्थित्वा च तं दृष्टा गुरुं नत्वा च पादयोः । पृच्छन्तं चाग्निशैत्यान्तं स्वमुदन्तमवर्णयत् ॥ ५८ ॥ ततस्तं स गुरुः प्राह वत्स शंके कृतस्त्वया । अपचारोऽत्र शीतस्ते कथं जातोऽमिरन्यथा ॥ ५५ ॥ अदृष्टमेतदेतस्या विद्यायाः साधने यतः । एतद्भोर्वचः श्रुत्वा चन्द्रस्वामी जगाद सः ॥ ५६ ॥ नापचारो मया कश्चिद्विहितो भगवनिति । ततः स तद्वरोविंद्यां जिज्ञासुस्तां समस्मरत् ॥ ५७ ॥ न च साविरभूत्तस्य न तिच्छिष्यस्य तस्य वा । नष्टविद्याविबोधौ तौ विषण्णौ जग्मतुस्ततः ॥ ५८॥ राजन्संशयमेतं छिन्द्धि १ व]मम ब्रहि हेतुना केन । विहितेऽपि यथोदिष्टे कर्माण विद्योभयोर्नेष्टा ॥ ५९ ॥ न दुष्करेणापि हि कर्मणैव।

शुद्धेन सिद्धिः पुरुषस्य छभ्या । यावन निष्कम्पविकल्पशुद्धं । धीरं मनो निर्मेळसत्त्ववृत्ति ॥ ६० ॥ तस्यात्र मन्दस्य तु विप्रयून-

श्चित्तं प्रबुध्यापि विकल्पते स्म । विद्या न सा तेन गतास्य सिद्धिः

मस्थानदानाच गुरोर्विनष्टा ॥ ६१ ॥

नीतिकल्पतरः।

अवधाय धियं तस्माच्छ्द्धां कृत्वा दृढां स गुरुवचने । विद्याभ्यासात्फिलिता भवति मुदे तस्य चास्यापि ॥ ६२ ॥ इत्यस्थानोपदेशकथनाभिधं कुसुमम् ।

[30]

धर्मविचारः सूक्ष्मो जागर्यं तत्र सन्मतिभिः । अतिविस्मयदान्नेयं निशम्यतां सत्कथा विबुधैः ॥ १ ॥ वकोळकपुरे सूर्यप्रभराजामिराक्षेते । वसुधा वसुधाराभी रराज परितोमृता ॥ २ ॥ सर्वसंपत्समृद्धस्य तस्यैकाभूदनिर्वृतिः । नोपपद्यत यत्पुत्रो बहुष्वंतःपुरेष्वपि ॥ ३ ॥ अरलेवं ताम्रिटिप्यां च धनपाराभिधो वणिक् । बभूव रूपसंपात्तिसूचिताप्सरसां वरा ॥ ४ ॥ अवतीणी सुता यस्यां युवतौ स मृतो वणिक् । गोत्रजैस्तद्धने तस्य हतेऽखिरुतया वधूः ॥ ५ ॥ अशरण्या समादाय भूषणाद्यं निशामुखे । सुतया सहया निर्गत्य प्रतस्थे दूरकांक्षया ॥ ६ ॥ ध्वान्तेन बहिरन्तश्च सा दुःखेनान्ध्यमापिता । कृच्छाद्वहिः पुरात्प्रायात्मुताहस्तावलंबिनी ॥ ७ ॥ तत्र संतमसे यान्ती विधियोगादलक्षितं । अंसेनाताडयश्चौरं शूलाप्रारोपितं पथि ॥ ८॥ स सजीवस्तदंसाप्रघद्दनाधिकपीडितः। आः क्षते क्षारमेतन्मे क्षिप्तं केनेत्यभाषत ॥ ९ ॥ ततस्तत्रैव सा कोऽसीत्यपृच्छत्तं वणिग्वधुः । प्रत्युवाच ततश्चौरश्चौरोऽहामिति दीनगीः ॥ १० ॥ शूले चाद्यापि पापस्य नोत्कामन्ति ममासवः । ि ४२ अ] तदार्थे त्वं मम ब्रुहि कासि केवं प्रयासि च ॥११॥

तच्छ्ता साह यावत्प्राक्तावचंद्रयुतिर्वभौ । येन तत्पुलिकास्येन दितीयेन्दुरिवोद्गतः ॥ १२ ॥ आहोक्य तन्मुखेन्द्रं स चौरः शूलाधिरोपितः । आह तन्मातरं कन्यामिमां देहीति हर्षयन् ॥ १३ ॥ ददाग्येकसहस्रं ते निष्काणामिति साह तम्। एतदशाधिरूढस्य कि तवेप्सितयानया । १४ ॥ सिद्धयेदिति स चाहैनां परलोको भवेदिति ! दत्तेति पणिते यस्मादियं पुत्रवती भवेत् । तेन मे क्षेत्रजेनापि लोकानन्त्यं भवेत्किल । १५॥ इस्येवं प्रार्थये त्वां तु तद्विधत्स्व मदीप्सितम्। तच्छ्त्वा सा विणग्योषिङ्घोभात्तत्प्रत्यपद्यत ॥ १६ ॥ आनीय च कुतोऽप्यम्बु पाणौ चौरस्य तस्य सा। एषा सुता मया तुभ्यं सत्यं दत्तेत्रयातयत् ॥ १७ ॥ सोऽपि तदुहितुर्दत्तयथोकाज्ञो जगाद ताम्। गच्छामुष्य वटस्याधः खात्था सर्वे गृहाण तत् ॥ १८॥ गतासोदीहियत्वा मे देहं युक्त्या विसृज्य च। अस्थीनि तीर्थे ससुता गच्छ वक्रीलकं पुरम्।। १९॥ तत्र सूर्यप्रभे तस्य सौराज्यस्रुखिते जने । निरुपद्रवनिश्चिन्ता स्थास्यसि त्व यथेच्छसि ॥ २०॥ इत्युक्तवा तृषितः पीत्वा स्वभायीपहतं जलम् । शूल्ब्यधन्यथोत्कान्तजीवः सोऽभूदथापि सा ॥ २१ ॥ तत्र स्थिता च युक्त्या तदाहियित्वा कलेवरम् । चौरस्य तस्य चास्थीनि तीर्थे प्रापय्य योगतः ॥ २२ ॥ परेषुश्चात्र निर्गत्य प्राप वक्रोलेकं पुरम्। तत्र क्रीत्वाळयं पुत्र्या सहोवास गतन्यथा ॥ २३ ॥

विष्णुस्वामीत्युपाध्यायशिष्यस्तत्रातिरूपवान् । विद्याप्राप्यनुरक्तोऽपि वाञ्छति स्म विद्यासिनीम् । हंसावलीं वारवधूं शतपञ्चपणामिति ॥ २८ ॥ तं स्वर्णानिष्कविरहाद्विषण्णं सा ददरी ह । क्षामाभिरूपवपुषं [४२ व] हम्योद्घटा वणिक्सुता ॥ २५ ॥ तद्रपहतचित्रां च भर्तुचौरस्य तस्य सा । स्मृत्वानु शां समीपस्थां युक्त्यावोचत्स्वमातरम् ॥ २६ ॥ अम्ब विप्रसुतस्यास्य पश्यैते रूपयौवने । कीहशी बत विश्वस्य नयनामृतवर्षिणी ॥ २७ ॥ एतच्छ्रत्वेव तस्मिस्तां बद्धभावामवेत्य च। चिन्तयामास माता सा त्वनया भतेनु इया ॥ २८॥ विधेयवं क्रियेषोऽस्तु वर् इत्यर्थ्यते न किम्। इति घ्यात्वा निजां चेटिं प्रैषिषत्सा तदन्तिके ॥ २९ ॥ सोऽप्यागतां निशम्यैतां हृष्टोप्याह्याधिपिडितः। यदि इंसावलीहेतोदीनारशतपञ्चकम् ॥ ३० ॥ सौवर्ण दीयते महां तदेकां यामि यामिनीम्। श्रुत्वा चेटिवचो माता स्वीकृत्यैतवयौ च सः ॥ ३१ ॥ तया समं च नीत्वा तां रात्रिं संभोगळीळया । निर्गत्य च ततो गुप्तं ययौ प्रातर्यथागतम् ॥ ३२ ॥ सापि तस्मात्तया रात्र्या सगर्भाभूद्वणिक्सुता । काले च सुषुवे पुत्रं लक्षणानुमितायतीम् ॥ ३३ ॥ परितृष्टां तदा तां च सुतोत्पत्या स मातृकम्। आदिदेश हरः स्वप्ने दर्शितस्ववपुर्निशि ॥ ३४ ॥ युक्तं हेमसहस्रेण नीत्वा बालमुषस्यमुम्। सूर्यप्रमनुपस्येह मंचस्यं द्वारि मुंच तम् ॥ ३५ ॥

एवं स्यात्क्षेममित्युक्ता शूळिना सा वणिक्सुता। तन्माता च प्रबुध्येते स्वप्नमन्योन्यमूचतुः ॥ ३६ ॥ नीत्वा च तं त्यजतुर्भगवत्प्रयत्याच्छिशुम् । राज्ञः सूर्यप्रमस्यास्य सिंहद्वारे स हेमकम् ॥ ३७ ॥ तावच तमपि स्वप्ने स्त्राचितातुरं सदा। [४३ अ]तत्र सूर्यप्रमं देवमादिदेश वृषध्वजः ॥ ३८ ॥ उत्तिष्ठ राजन्बालस्ते सिंहद्वारे सकाञ्चनः । केनापि स्थापितो हात्र मंचकस्थं गृहाण तम् ॥ ३९ ॥ इत्युक्तः शंभुना प्रातः प्रबुद्धोऽपि तथैव सः । द्राःस्थैः प्रविश्य विज्ञप्तो निर्ययौ नृपतिः स्वयम् ॥ ४० ॥ दृष्ट्रा च सिंहद्वारे तं बाछं स कनकोत्तरम् । रेखाच्छत्रध्वजाद्यंकपाणिपादं सुभां कृतिम् ॥ ४१ ॥ दत्तो ममोचितः पुत्रो भर्गेनायमिति बुवन् । स्वयं गृहीत्वा बाहुभ्यां राजधानीं विवेश सः ॥ ४२ ॥ नृत्तवाद्यादिभिनीत्वा द्वादशाहांस्ततः परम् । पुत्रं चन्द्रप्रमं नाम्ना चके सूर्यप्रमो नृपः ।। ४३ ॥ क्रमादृद्धं ततो दङ्घा प्रकृत्युदाहनक्षमम् । राज्येऽभिषिच्य वै कृती वृद्धो वाराणसीं यया ॥ ४४ ॥ त्रजन्नप्राप्त एवासौ काशीं मार्गे मृतिं गतः । श्रुखापि पितृविपत्ति तामनुशोच्य कृतिक्रियः ॥ ४५ ॥ सोऽपि चन्द्रप्रभो राजा सचिवान्धार्मिकोऽब्रवीत । तातस्य तावक्केनाहमनृणो भवितं क्षमः ॥ ४६ ॥ तथा चैकस्बहस्तेन ददाम्येतस्य निष्कृतिम् । नीत्वा क्षिपामि गंगायामस्थीन्यस्य यथाविधि ॥ ४७ ॥ गत्वा सर्वपितृभ्यश्च गयापिण्डं ददाम्यहम् । इष्टन्याणि च तीर्थानि यावनमोक्षमदो वयः ॥ पश्चात्को वेत्ति । कें मावि शरीरे क्षणनश्वरे ।। ४८ ॥

विचित्रवेशभाषादिविछोकनविनोदितः । परयनानाविधान्देशान्क्रमास्प्राप स जाह्वीम् ।। ४९॥ तथावतीर्णस्तस्यां च कृतस्नानो यथाविधि । चिक्षेपास्थीनि भूपस्य तस्य सूर्यप्रमस्य सः ॥ ५० ॥ तत्रोपोष्य कृतस्नानदानश्राद्वादि सित्रया। वाराणसीं जगामाशु स चंद्रप्रभभूपतिः ॥ ५१ ॥ तस्यां दिनान्युपोष्य त्रीण्यभ्यर्च्य च वृषध्वजम् । [४३ ब] भोगैर्नि जोचितेस्तैस्तैः प्रययौ स गयां प्रति ॥ ५२ ॥ नानारण्यान्यतिक्रम्य पुण्यं प्राप गयाशिरः । विधाय तत्र च श्राद्धं विधिवद्भरिदक्षिणम् ॥ ५३ ॥ चन्द्रप्रभः स राजात्र धर्मारण्यमुपेयिवान् । गयाकूपेऽस्य ददतः पितुः पिण्डं तदन्तरात् ॥ ५४ ॥ समुत्तस्थुः समादातुं त्रयो मानुषपाणयः । तद्षुवे च विभानतः किमेतदिति पार्थिवः। कस्मिन्हस्ते क्षिपे पिण्डमित्यपृच्छन्निजान्द्रिजान् ।। ५५ ।) ते तमूचुरयं तावदेकश्चीरस्य निश्चितम् । ्हस्तो लोहमयः शंकुर्यसिन्देवैष दश्यते ॥ ५६ ॥ द्वितीयो ब्राह्मणस्यायं करे। धृतपवित्रकः । राज्ञः पाणिस्तृतीयोऽयं साङ्ग्रहीयः सुन्नक्षणः ॥ ५७ ॥ तन विदाः क पिण्डोऽयं निक्षिपेः किमिदं भवेत्। लयाणां पित्रपाणीनां विद्राणां चापि संशये ॥ ५८ ॥ इत्थं जाते नृप बृहि किं हस्ते पिण्डयोग्यता । इति श्रुत्वा स भूपाछो धर्मज्ञस्तमभाषत ।। ५९ ।। चौरस्य हस्ते दातव्यः स पिण्डः क्षेत्रजो यतः । चन्द्रप्रभः स नृपतिः पुत्रस्तस्यैव नान्ययोः ॥ ६० ॥ विप्रस्य जनकस्यापि न स पुत्रो हि विद्यते । विक्रीतो हि घनेनात्मा तामेकां तेन यामिनीम् ॥ ६१ ॥

राज्ञः सूर्यप्रभस्यापि संस्काराधानवर्धनैः।
भवेत्स पुत्रो न स्याचेत्खधनं तस्य तत्कृते ॥ ६२ ॥
शिशोस्तस्य हि शीर्षान्ते मंचकस्थस्य हेम यत्।
न्यस्तमासीत्तदेवास्य मूल्यं संवर्धनादिके ॥ ६३ ॥
तस्माद्धस्तोदकप्राप्ता तन्माला तस्य येन सा।
आज्ञा तञ्जनने दत्ता यस्यापि निखिछं धनं ॥ ६४ ॥
तस्य स क्षेत्रजः पुत्रश्चौरस्य तेन विप्रयोः।
पिण्डस्तस्यैव हस्ते च देयस्तेनेति मे मतिः॥ ६५ ॥

इति धर्मविचाराभिधं सप्तत्रिशं कुसुमम्।

[३८]

[४४ अ] जनैरुपार्जितो यत्नात्सुगुणो विधुरे विधौ ।
मा दत्तां संपदं नाम जायते च विपत्तये ॥ १ ॥
तथा च श्रूयतां राजाभूत्पुरे पृष्यकाह्वये ।
वाराहाष्ट्योऽस्य सौराज्ये ब्राह्मणः जहृषुः परम् ॥ २ ॥
अग्रहारो भवत्तस्य राष्ट्रे ब्रह्मस्थलाभिघः ।
विष्णुस्वामीति तत्राभूद्विजः कुलपतिः स्रुताः ॥ ३ ॥
चत्वारो जिज्ञरे तस्य विज्ञाननयशालिनः ।
अधीतवेदेषूःक्रान्तशैशवेषु च तेषु सः ॥ ४ ॥
विष्णुस्वामी दिवं प्रायाद्भार्ययानुगता स्वया ।
ततस्ते तत्र तत्पुत्राः सर्वेऽप्यानाध्यतः स्थिताः ॥ ५ ॥
गोत्रजैर्ह्मतर्मवस्वा मंत्रयांचिक्ररे मिथः ।
नास्तीह गतिरस्माकं तद्वजामो न किं वयम् ॥ ६ ॥
यामो मातामहगृहं प्रामं यज्ञस्थलाभिधम् ।
एतदेव विनिश्चत्य प्रस्थितौ भैक्ष्यभोजिनः ।
मातामहगृहं प्राप्तास्तेऽथ तद्वद्वभिर्दिनैः ॥ ७ ॥

तत्र मातामहाभावान्मातु छैर्दत्तसंश्रयाः। मुंजानास्तद्गृहे तस्थुः स्वाध्यायाभ्यासतत्पराः ॥ ८॥ कालक्रमाच तेषां ते मातुलानामकिचनाः। अवज्ञापात्रतां जग्मुर्भोजनाच्छादनादिषु ॥ ९॥ ततः स्वजनसंस्फूर्जदवमानइतात्मनाम् । तेषां रहः सचिन्तानां ज्येष्ठो भाताववीदिदम् ॥ १० ॥ भो भातरः कि क्रियते सर्वमाचेष्टते विधिः। न शक्यं पुरुषस्येह काचितिंकचित्कदाचन ॥ ११ ॥ अहं ह्युद्देगतो आम्यन्प्राप्तोऽच पितृकानने । विपन्नं स्थितमद्राक्षं स्नस्तांङ्गं पुरुषं भवि ।। १२ ।। अचितयच दृष्ट्रा तमहं त्वां स्पृह्यनगतिम् । घन्योऽयमेवं विश्रांतो दुःखभारं विमुच्य यः ॥ १३ ॥ इति संचिन्त्य तत्कालं कृत्वा मरणनिश्चयम् । वृक्षाप्रसंगिना पारोनात्मानमुदलम्बयम् ॥ १४ ॥ यावच मे विसंबस्य तदा निर्यान्ति नासवः। तावत्त्रुटितपाशोऽत्र पातितोऽस्मि[४४ ब]महीतले ॥ १५ ॥ ल्ब्धसंज्ञक्ष केनापि पंसा क्षिप्रं कृपालुना । आश्वास्यमानमात्मानमपश्यं पटमारुतैः ॥ १६ ॥ ततोऽपि मां समाश्वास्य स च कापि गतः पुमान् । अहं चेहागतस्त्यक्ता तादृशं मरणोद्यमम् ॥ १७ ॥ तदेवं नेच्छति विधौ न मर्तुमपि शक्यते । इदानीं च तनुं तीर्थे तपसा दाह्याम्यहम् ॥ १८ ॥ येन निर्धनतादःखभागी न स्यामहं पुनः। इत्युक्तवन्तं तं ज्येष्ठं कानिष्ठा भातरोऽब्रुवन् ॥ १९॥ अर्थेविना कथं प्राज्ञोऽप्यार्थ दुःखेन बाध्यते । कि न वेत्सि यदर्थानां शरदभ्रचला गतिः ॥ २० ॥

आहृत्य रक्षमाणापि यत्नेनापि विरागिणी । असन्मैत्री च वेश्या च श्रीश्व कस्य कदा स्थिरा ॥ २१ ॥ तदुचोगेन स गुणः कोऽप्युपाज्यीं मनस्विनः । आनीयन्ते हठाद्वध्वा येनार्थहरिणा मुद्धः ॥ २२ ॥ इत्युक्तो भात्मिधैर्यं क्षणाज्ज्येष्ठोऽवलम्ब्य सः। प्रोवाच को गुणस्तादगर्जनीयो भवेदिति ॥ २३ ॥ ततो विचिन्त्य सर्वे वदन्ति स्म परस्परम् । विचिन्त्य पृथ्वी विज्ञानं किंचिच्छिक्षामहे वयम् ॥ २४ ॥ निश्चित्य तैश्व संकेतस्थानमुक्त्वा समागमे । एकैकशस्ते चत्वारश्वतम्नः प्रययुर्दिशः ॥ २५ ॥ याति काछे च मिलितास्ते संकेतनिकेतने । किं केन शिक्षितमिति भातरोऽन्योन्यमृत्रवन् ॥ २६ ॥ अथात्रैकोऽन्नवीदिदृग्विज्ञानं शिक्षितं मया । येनास्थिशकलं प्राप्य प्राणिनो यस्य कस्यचित् ॥ २७ ॥ उत्पादयाम्यहं तस्मिन्मांसं तदुचितं क्षणात् । एतत्तस्य वचः श्रुत्वा द्वितीयस्तेष्वभाषत ॥ २८ ॥ अहं तत्रैव संजाते मांसेऽस्थिशक छे किल । जाने जनयितुं लोमत्वचं तत्प्राणिसंभवि ॥ २९ ॥ ततस्तृतीयोऽप्यवदज्जाने तत्रैव चाप्यहम् । तत्प्राण्यवयवान्स्रष्टुं जातत्वग्छोममांसके ॥ ३० ॥ चतुर्थश्च ततोवादीद्रयन्नावयवकृतिम् । तमेव प्राणिनं प्राणैर्युतं कर्तुमवैम्यहम् ॥ ३१ ॥ [४५ अ] एवमुक्त्वा मिथः स्वस्वविज्ञानप्रथनाय ते । चत्वारोऽप्यस्थिखंडाय अययुर्भातरोऽटवीम् ॥ ३२ ॥ तत्र सिंहस्य ते प्रापुरस्थिखण्डं विधेर्वशात । अविज्ञातविशेषाच गृह्णान्ति सम तथैव तत् ॥ ३३ ॥

एकश्च तत्समुचितैस्ततो मांसैरयोजयत् ।

द्वितीयो जनयत्तस्य तद्वत्वग्छोमसंहतीः ॥ ३४ ॥

तृतीयश्चाखिछरङ्गेस्तदोग्येस्तदप्रयत् ।

चतुर्थश्चाददे तस्य सिंहीभृतस्य जीवितम् ॥ ३५ ॥

उदितष्ठदथोद्भूतसटाभारोऽतिभैरवः ।

स दंष्ट्रासंकटमुखः सिंहः खरनखांकुराः ॥ ३६ ॥

भावित्वा च स्वनिर्मातृंस्तानेव चतुरोऽपि सः ।

अवधीत्केसरी दृतो विवेश च वनान्तरम् ॥ ३७ ॥

मूछे द्वाविकृते दैवे सिक्तः प्रज्ञानवारिणा ।

नयाखवाखः फलित प्रायः पौक्रषपादपः ॥ ३८ ॥

इत्यं विप्रसुतेष्वेतेषु मृतेषु वद कस्य सा ।

हत्या खगित सर्वेषां निर्मातृत्वे समे स्थिते ॥ ३९ ॥

सत्यं सर्वेऽपि कर्तारो जीवदायी विशिष्यते ।

सिंहाकृतिं विद्योक्यापि विज्ञानाछोकना बळात् ।

येन प्राणोऽपितस्तस्य तदेकाश्रयगास्त्यसौ ॥ ४० ॥

इति विधिवक्रतायां गुणार्जनवैफल्यकथनं नामाष्टात्रिंशं कुसुमम्।

[३९]

अतीन विषमं जीवचरितं तत्र राजिमः । धिया समवधातव्यं परथा विषमा गतिः ॥ १ ॥ तथा च श्रूयतां सम्यक्नयसाद्गुण्यबृंहिता । कथेयं विबुधेः सम्यक्लोकानंत्यधृतादरैः ॥ २ ॥ अस्ति वाराणसी नाम पुरारिवसितः पुरी । हारयष्टिरिवाभाति यस्याः स्वर्गतरंगिणी ॥ ३ ॥ तस्यां प्रतापमुकुटो राजाभूत्तनयोऽस्य च । हूपशौर्ययुतो वज्रमुकुटाङ्यो स वै सुद्भत् ॥ ४ ॥

शरीराभ्याधिको मंत्रिपुत्रो बुद्धिशरीरकः । (संज्ञायां कन् , बुद्धिशरीराष्ट्य इत्यर्थः) स जातु तेन मृगयासंगादुरमितो वने ॥ ५ ॥ महत्सरों ददर्शात्र स्नाना 84 बोर्थे कांचिदागताम् । सा जहार मनस्तस्य राजपुत्रस्य तत्क्षणात् ॥ ६ ॥ सोऽप्यहार्षीत्ततस्तस्याः युवा दृष्ट्वा विळोचने । यथा नैक्षत सा कन्या लज्जां स्वामप्यलंकृतिम् ॥ ७ ॥ यूनि पश्यति तस्मिन्सा केयं स्यादिति सानुगे । करोति स्मोलछं चक्रे गृहीत्वा पुष्पशेखरात् ॥ ८॥ चिरं च दन्तरचनां चकाराधाय च व्यधात्। पद्मं शिरसि साकृतं हृदये चादधे करम् ॥ ९ ॥ क्षणाच सा ययौ कन्या नीयमानानुगैस्तदा । सोऽपि गत्वा स्वनगरीं तयत्तें कृष्छ्मासदत् ॥ १०॥ अनिमन्नः स्वयं सद्या मन्त्रिपुत्रेण तेन सः। मा ग्रुचो विदितं सर्वे मया तस्या इतीरितः ॥ ११ ॥ कि न दृष्टं त्वया तद्यत्संज्ञया सूचितं तया । न्यस्तं यदुत्पछं कर्णे तेनैत्तत्ते तयोदितम् ॥ १२ ॥ कर्णोत्पलस्य राष्ट्रेऽहं निवसामि महीभृतः । कृता यद्दन्तरचना तयैतत्सूचितं तव ॥ १३ ॥ तत्र जानीहि मां दन्तघाटकस्य स्रतामिति । पद्मावतीति नामोक्तं तयोक्तं सितपद्मया ।। १४ ॥ स्विय प्राणार्पणं प्रोक्तं हृदयार्पितहस्तया । राजादयोऽप्यमी सर्वे विदिताः सन्ति छोकतः ॥ १५ ॥ ममेति बिदितं सर्वं तत्तस्या इंगितं प्रभो । इससौ तेन संज्ञप्तो हृष्टः संमन्त्र्य तद्युतः ॥ १६ ॥

वियार्थे मृगयाव्याजात्पुनस्तगमदिशम् । कछिद्रविषयं गत्वा कर्णोत्पलमहीभृतः ॥ १७ ॥ अन्विष्य दृष्ट्वा भवनं दन्तघाटस्य तस्य च । तददूरे च वासार्थमेकस्याः वृद्धयोषितः ॥ १८ ॥ गृहं प्राविशतां मन्त्रिपुत्रराजसुताबुभौ । तामाह मन्त्रिपुत्रोऽसौ किं मातर्दन्तघाटकम् ॥ १९॥ इहस्थं वेत्सि साहैनं तस्य धात्रयहमद्य च । स्थापिता दुहितुः पार्श्वे पद्मावत्याश्च तेन भोः ॥ २०॥ एवमुक्तवर्ती प्रीतः स्वोत्तरीयादिदानतः । संतोष्य सोऽत्र वृद्धां तां मन्त्रिपुत्रोऽत्रवीत्पुनः ॥ २१ ॥ माता त्वं तद्धदेतत्तत्र गत्वा तां ब्रूहि स[४६ अ]आगतः। राजपुत्रस्त्वया दष्टस्तत्र योऽभूत्सरस्तरे ॥ २२ ॥ तेन चेह तवाख्यातुं प्रेषिता प्रणयादहम् । श्रुत्वा गत्वाऽथ सा तुष्टागत्य पृष्टा जगाद तौ ॥ २३ ॥ युष्मदागमनं गुप्तं मय्याद्यातं निशम्य सा । मां निर्भत्स्य सिताभ्राक्तपाणिभ्यां मुखमाछिपत् ॥ २४ ॥ ततः पराभवोदिया रुदत्यहमिहागता । एतास्तदङङ्गीमुद्रा पुत्री मे पश्यतं मुखे ॥ २५ ॥ एवं तयोक्ते नैराश्यविषण्णं तं नृपात्मजम्। धीदेहः प्राह भद्रं ते सम्पनं श्रुणु चापि भोः ॥ २६ ॥ रात्रीर्दश प्रतीक्षस्व शुक्के चन्द्रवतीरिमाः । इत्यङ्गुर्ञागयोक्तं ते तयेति मुदितो भव ।। २७ ॥ तया दत्तव्ययौ तौ च कृत्वा मिष्टानभोजनम् । दशरात्रीरतीत्यामुं पुनः प्राहिणुतां मुदा ॥ २८॥ गत्वाथागस्य तौ साहाहताप्येवं तथा पुनः । भवंद्रीत्योक्तयावासौ करत्र्यङ्गालिभिर्द्वता ॥ २९ ॥

सालक्तकाभिरंकांस्तां पश्यतं किं करोम्यहम् । शंकितं राजपुत्रं तं साह मैवं श्रुणुष्व मे ॥ ३० ॥ आर्तवं ज्यहमद्येति ततः कार्यं भवेदिति । गते पुनस्त्रयहे सात्र प्रेषिता मानिता तया ॥ ३१ ॥ प्रीत्या पानादिकीलाभिर्दिनं धात्री विनोदिता । सायं गृहोद्यतायां च तस्यां कोलाहलो बहि: ॥ ३२ ॥ अभूनमत्तगजो होकानमर्षयतीति तयाप्यसौ । उक्ता स्पष्टपथा यातुं न युक्तं तेऽच भामिनि ॥ २३ ॥ तत्पीठिकां समारोप्य बद्धछम्बनरज्जुकाम् । बृहद्भवाक्षेणानेन त्वामत्र प्रक्षिपामहे ॥ ३४ ॥ गृहोद्याने तत्र वृक्षमारुह्यामुं विलंध्य च । प्राकारमारुद्यान्यवृक्षेण स्वगृहं त्रज ॥ ३५ ॥ साथ गत्वा यथोक्तेन पथा सर्व शशंस तत् । ताभ्यां ततस्तमाासहौ मन्त्रिपुत्रः श्रुणुष्य मो: ॥ ३६ ॥ सिद्धं तबेष्टं मार्गो हि युक्त्या ते दर्शितस्तया । तदनेन पथा राजनप्रदोषे तद्गृहं विशा ।। ३७ ॥ इत्युक्तस्तधुतोऽसौ तदुधानं सालमेव च । कृत्वारोहावरोहाप्तं कम्बमानां [४६व]स पीठिकाम् ॥ ३८॥ विस्नोक्य रञ्जुमास्याय तां दास्युन्छिस्तोद्भुतम् । श्रापान्तिकं स कामिन्या मन्त्रिपुत्रोऽप्यगाङ्गृहम् ॥ ३९ ॥ बिछोनम मुदिता साध्येनं मत्ताभूत्क्षणात्ततः । कण्ठा छेषादिभिस्तैस्तैरुवचारैतोषयत्॥ ४०॥ ततस्तया गान्धर्वाविधिनोद्दृढया सह । गुप्तं राजसुतस्तस्थौ पूर्णेच्छस्तत्र कान्तया ॥ ४१ ॥ स्थित्वा वाहानि कतिचिद्रांत्री तामवदास्प्रियाम् । सखा मम सहायातो मन्त्रिपुत्र इहास्थितः ॥ ४२ ॥

स चात्र तिष्ठत्येकाकी तव धात्री गृहे मया। तं संगम्य पुनश्चात्रागन्तव्यं तद्विसर्जय ॥ ४३ ॥ निशम्यासौ विचिन्त्यापि तं पप्रच्छ वदस्व मे । मत्संज्ञार्थः स्वयं ज्ञातोऽथवा तदुदितात्त्वया ॥ ४४ ॥ ज्ञातं तदुदितात्सर्वं दिन्यबुद्धिर्ह्यसौ मम । श्रुत्वा चिरं विचिन्त्यासौ प्रोवाच किमिदं चिरात् ॥ ४५ ॥ त्वयोक्तं भोः स मे भाता होपचारैरपूजितः । ताम्बुलादि समाचारः कर्तन्योऽस्य ममाधुना ॥ ४६ ॥ इत्युक्तोऽनुमतः सोऽपि पथा तेनागतोऽन्नवीत् । सदाचारं स्वमित्राय श्रुत्वा युक्तमिदं ध्रुवम् ॥ ४६ ॥ एवं कथयतोस्तल विभाताभृद्विभावरी। अथैतयोर्विधौ सान्ध्ये निवृत्ते कुर्वतोः कथाः ॥ ४८ ॥ आगात्ताम्बूलपकालहरूता पद्मावती सखी । प्रतीक्षमाणा भुक्ति ते स्वामिनी याहि तदूतम् ॥ ४९ ॥ इदं च मन्त्रिपुत्रार्थं भोजनं प्रैषिषत्सदा । इत्यावेदैव यातायां तस्यां सोऽप्याह तं प्रभुम् ॥ ५० ॥ कौतुकं पश्य चेत्युक्त्वा शूने पूपं ततो ददौ । पूपं भुक्तवैव सोऽप्याञ्च ममारेति विळोक्य सः ॥ ५१ ॥ किमिदं चेति पप्रच्छ तं स चैनमभाषत । संज्ञाज्ञानेन धूर्त मां विदित्वा हंतुकामया ॥ ५२ ॥ तया विषानं प्रहितं महां त्वदन्रक्तया । नास्मिन्सित मदेकाम्रो राजपुत्रो भवेदयम् ॥ ५३ ॥ एतद्रशस्त्र मुक्तवा मां नगरीं स्वां व्रजेदिति । तन्मुख्य मन्युं नैषात्र स्थाप्या नेया निजां पूरीं ॥ ५४ ॥

युक्तयेति[४७ अ]प्रवदस्रास्मन्बहिः कोलाह्कोऽप्यभूत् । हा धिक्प्राज्ञसतो बालो हत इत्युदिते रेव ।। ५५ ॥ इष्टो मन्त्रिसुतः प्राह तं गच्छाच गृहं निशि । तत्र तां पाययेस्तावद्यावत्पानमदेन सा ॥ ५६ ॥ निःसंज्ञा नष्टचेष्टा च गतजीवेव जायते । ततोऽस्याश्च सनिद्रायाः शुलेनांकं कटीतटे ॥ ५७ ॥ दत्त्वामितप्तेनादाय तदाभरणसंचयम् । यथागतमथागच्छ येन भद्रान्तरं भवेत् ॥ ५८ ॥ कारियत्वार्पिपत्वैव त्रिशूलं राजसूनवे । राजपुत्रः स्वहस्ते तत्कृत्वा कुटिलक्कशम् ॥ ५९ ॥ तथेति पूर्ववदात्रौ अगात्पद्मावतीगृहम् । अविचार्य शुचीनां हि मन्त्रिणां वाक्यमद्भुतम् ॥ ६० ॥ कृत्वा बत तथा सर्वे प्राग्वदागत्य चैव हि । भूष्याजातं प्रदर्शास्मै समुपाविशदन्तिके ॥ ६१ ॥ सिद्धं मनीषितं मत्वा मन्त्रिपुतः प्रगे स्वयम् । गुरुभूत्वा विधायैनं शिष्यं पितृवनं ययौ ॥ ६२ ॥ धृत्वा तत्र च पञ्चायीनाहैनं त्विममं नय । हारं मूल्येन बहुना विकेतिमिव दर्शय ॥ ६३ ॥ गुरुणा मम विक्रेतुमियं दत्तेत्यनाकुछः। सोऽतिष्ठदापणे हारं दधच पुरराक्षिभिः ॥ ६४ ॥ गृहीतो दन्तघाटस्य हारचौरो गवेषिभिः। निन्ये च नगराध्यक्षानिकटे तैश्च तत्क्षणात् ॥ ६५ ॥ स तं प्राप समालोक्य साम्ना पप्रच्छ चादरात् । कुतस्त इति सोऽप्याह गुरुणेति स पृच्छ्यताम् ॥ ६६॥

¹ Corrupt.

ततश्चोपेत्य नत्वा तं सोऽप्याहैनं तपोधनाः। वयं ब्रभामोऽरण्येषु दैवादत्रगतिश्च नः ॥ ६७ ॥ निश्यत्र योगिनीचकं समागतमितस्ततः । अपस्यं चैकया तत्र चोद्घाटितहृदम्बुजः ॥ ६८ ॥ राजपुत इहानीतो भैरवाय निवेदितः। पानमत्ता च सा मेऽक्षमालिकां जपतः करात् ॥ ६९ ॥ हुत यावत्समुद्युक्ता तावच जघनस्थले । त्रिश्रहांके विधायास्य मन्त्रप्रव्विताग्निना ॥ ७० ॥ हता मुक्ताव (४७ व) की सेयं तस्याः कण्ठान्मया तदा। एषा च तापसानहीं वित्रेया समवर्तते ॥ ७१ ॥ एतच्छ्र्त्वा पुराध्यक्षो गत्वा भूपं व्यजिज्ञपत् । श्रुत्वा राजा विद्योक्यापि हारं तस्या निशम्य च ॥ ७२ ॥ प्रेक्षणप्रहितायाश्च वृद्धाया योषितो मुखात्। कट्यां श्लाङ्कमेतस्या मेने तां डाकिनीमिति ॥ ७३ ॥ प्रस्तः सुतो मे डाकिन्याऽनयेति कृतनिश्चयः। स्वयं तस्यान्तिकं गला मुनेः श्रुला च निप्रहम् ॥ ७४ ॥ पितृम्यां शोध्यमानायाः पुरानिर्वासनं व्यधात्। निर्वासिताटवीस्थासौ नम्नापि न जहौ तनुम् ॥ ७५ ॥ उपायं मन्त्रिपुत्रेण तं संभाव्य तथाकृतम् 🏗 दिनान्ते तां च शोचन्तीमश्वारूढाबुपेयतुः ॥ ७६ ॥ त्यक्ततापसवेशौ तौ मन्तिपुत्रनृपात्मजौ । आश्वास्यारोप्य तुरगे स्वराष्ट्रं निन्यतुश्च ताम् ॥ ७७ ॥ तत्र तस्था तया साकं राजपुत्रः स निर्देतः । दंत्रधाटस्वरण्ये तां क्रव्यादैभिक्षितां सुताम् । मत्वा व्यापादि शोकेन भार्या चानुजगाम तम् ॥ ७८ ॥ तदाजनसंशयं छिन्दि दम्पत्योरेतयोर्वधात् । त्रिषु कस्याघमेतच, त्वं हि बुद्धिमतां वरः ॥ ७९ ॥

निशम्यं वचनं तस्य प्राह्मासी नेषु कोऽप्यघम् ।
अर्हेत्कर्णोत्पन्धस्यैतदघं राज्ञोसित माति मे ॥ ८०॥
पुनस्तमाह राज्ञः किं ते हि तत्कारिणस्त्रयः ।
काकाः किमपराध्यन्ति शुकैर्जग्धेषु शालिषु ॥ ८१॥
राजा ततोऽत्रविचैनं न दुष्यन्ति त्रयोऽपि ते ।
मन्त्रिस्नोर्हि तत्तावत्यभुकार्यमपातकम् ॥ ८२॥
पद्मावतीराजस्रताविप कामशराग्निना ।
संतप्ताविचारार्ह्मवदोषौ स्वार्थमुद्यतौ ॥ ८३॥
कर्णोत्पन्ठस्तु राजा स नीतिशास्त्रेष्वशिक्षतः ।
चारैः प्रजास्वनन्विष्यं सत्वशुद्धं निजास्विप ॥ ८४॥
अजान्धूर्तचरितानींगिताद्यविचक्षणः ।
(१८अ) तथा तिनिर्विचारं यष्चित्रे तेन स पापमाक् ॥८५॥
तद्भाग्यैः समवाप्यापि नृपै राजासनं सदा ।
विचारैकपरैभीन्यं परथानर्थसंतितः ॥ ८६॥ इति

इति नीतिकल्पे सक्ष्मधर्मविचारणाख्यमेकोनचत्वारिंशं कुसुमम् इति नीतिकल्पे व्यवहारपण्डितलक्षणकथनाख्यः

प्रथमः काण्डः।

इत्थं शब्दार्थभेदेन द्विविधपण्डितलक्षणानि दिख्मात्रेण च तनिदर्शम-मुक्तवाऽयेदानीं न मौर्क्यं समर्ज्यमिति तत्प्रातियोग्येनोदिष्टमूर्खलक्षणम् । तत्रादौ साक्षानमूर्खलक्षणम् ।

> अश्रुतश्च समुनदो दरिदश्च महामनाः । अर्थाश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १ ॥

महामनादानप्रवृत्तः, अकर्मणिति दैवमात्रेण, अकारप्रश्लेषामावे कर्मणा नीतिरहितेनेति उभयसाध्यत्वादर्थानाम् ।

> स्वमर्थं यः परिस्यज्य परार्थमनुधावति । मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ २ ॥

मिथ्या चरति मिथ्याभिधानेन मित्रं प्रतारयति । अकामान्कामयति यः कामयानान्यरिद्विषन् । बछवंतं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३ ॥ अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं देष्टि हिनस्ति च । कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४॥ संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते । े चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मृढो भरतर्षभ ॥ ५ ॥ संसारयति छोके प्रसारयति । क्षिप्रार्थे क्षिप्रसाध्येऽर्थे । अनाहूतः प्रविश्वति अपृष्टो बहुभाषते । विश्वसेद्यः प्रमत्तेषु मृढचेता नराधमः ॥ ६ ॥ परान्क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा । यस्तु क्रुध्यत्यनीशः सन्स च मूढतमो नरः ॥ ७ ॥ आत्मनो[४८व]बलमज्ञात्वा परार्थपरिवर्जितम् । अलभ्यमिष्छनैष्कर्म्यानमृदबुद्धिरहोच्यते ॥ ८॥ परार्थपरिवर्जितं धर्मार्थवर्जितं सच्छल्मिति यावत्, नैष्कम्यीत्पुरुषकारं विना ।

> अशिष्यं शास्ति यो राजन्ये च शून्यमुपासते । कदर्यं भजते यश्च तानाहुर्मूढचेतसः ॥ ९ ॥ एकः सम्पन्नमश्चाति वस्ते वासश्च शोभनम् । योऽसंविभज्य भूतेभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ १० ॥

सम्पन्नं मिष्टम् ।

एकः पापानि कुरुते फर्ल भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विष्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण छिप्यते ॥ ११ ॥
महाञ्चनः परिवारो यस्य तस्मात्परार्थे पापार्जनं मौर्क्यमित्यर्थः ।
अतिमानोऽतिवादश्च काले त्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चानुविधित्सा च मित्रदोहश्च तानि षट् ॥ १२ ॥

अनुविधित्सोपकारे ऽपकारेच्छा ।

एत एवायसा तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् । एतानि मानवान्त्रन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ १३ ॥ विश्वस्तस्येति यो दारान्यश्वापि गुरुतल्पगः । वृषष्ठीपतिर्द्धिजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १४ ॥ आदेशकुद्वृतिर्हन्ता द्विजानां परुषश्च यः । शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महमिः समाः ॥ १५ ॥

आदेशकृत्मान्यानामपि ।

एतेषु नैव वक्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः । अतिपापकरत्त्वाच महामूर्खा इमे स्मृताः ॥ १६ ॥

इति नीतिकरपे मूर्खकाण्डे साक्षान्मूर्खकुसुमम्।

[88]

अथार्थिकमुर्खन्नक्षणम् । तत्र विदुरवाक्यं घृतराष्ट्रं प्रति :—
दुःशासनस्तूपहतान्तरात्मा
नावर्तते क्रोधवशात्कृतप्तः ।
न कस्यिनिमत्रमथो दुरात्मा
कलाश्चेता अधमस्येह पुंसः ॥ १ ॥
न श्रद्धधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशंकितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपुरुषः ॥ २ ॥
कल्याणं पुण्यं, परेभ्यः परेषाम् । स्वस्यासदृत्तदर्शेनातिशं[४९अ]िकतः ।
न तथेच्छन्त्यकल्याणाः परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथेषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतनाः ॥ ३ ॥
विद्याशिल्वयोवृद्धान्बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजनवृद्धांश्च नित्यं मुद्धोऽत्रमन्यते ॥ ४ ॥
अनार्थवृद्धमप्रज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ५ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतन्नो निरपत्रपः। ताहङ्नराधमो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ६ ॥ न स रात्री सुखं शेते ससर्प इव वेश्मानि । यः कोपयति निर्दोषं सदैवाभ्यन्तरं जनम् ॥ ७ ॥ ये त स्त्रिष्ठ समासकाः प्रथमोत्पातितेष्वपि । ये चानार्यसमसक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ८ ॥ प्रथमोत्पातितेषु प्रथमस्थानाचाछितेषु । यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता । मज्जन्ते तेऽवशा देशा नद्यामरमप्रवा इव ॥ ९ ॥ यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः । यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ १० ॥ अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् । लभते बुद्धयवज्ञानमवमानं च भारत ॥ ११ ॥ परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ॥ परस्परविरोधेषु यतन्ते सततोत्थिताः ॥ १२ ॥ सदोषं दर्शनं तेषां संवासात्स्रमहद्भयम् । अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥ १३ ॥ ये पापा इति विख्याताः संवासैः परिगर्हिताः । युक्तास्थान्यैर्महादोषेर्ये नरास्तान्विवर्जयेत् ।। १४ ॥ निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नाचे विनश्यति । या चैव फलनिष्पत्तिः सौहार्दे चैव यत्सुखम् ॥ १५॥ यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये । स्वल्पेऽप्यपकृते मोहान शान्तिमधिगच्छति ॥ १६ ॥ निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान्दूराद्विवर्जयेत्। तादशं संग ४९ब तं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १७ ॥ अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी । पर्वकारी च सूची च मित्रध्रुक्पारजापिकः ॥ १८ ॥

कुण्डाशी जरणशक्तावसत्यामिपतृष्णया बहुभोजी, पर्वकारकः पर्ववादी ज्योतिषकः, स्वयं तिष्ठत्यत्याद्य वेद्यपि पर्ववदतीति, सूचकः सूची । भूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्थान्मधुपो द्विजः । अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ १९ ॥

इत्यार्थिकमूर्खेलक्षणाभिधमेकचत्वारिशं कुसुमम्

[88]

अथोत्तानिधयां वृत्तं दर्शते प्राज्ञसंविदे ।
यदाकर्णनमात्रेण प्राज्ञा नानर्थभाजनम् ॥ १ ॥
मुग्धवृद्धिर्वणिक्पुत्रः कटाहद्धीपमागमत् ।
भाण्डमध्ये च तस्याभून्महानगुरुसंचयः ॥ २ ॥
तेषां तदनभिज्ञानां नाददे कश्चिदेव तत् ।
विक्रीय भाण्डजातं तद्वययातींगारगौरवम् ॥ ३ ॥
वीक्ष्य संदाह्य तत्सर्वे व्यक्रीणाच्च तदर्घतः ।
अंगारभावमात्वासौ गृहानागत्य श्चाडयन् ।
पित्रादौ हसितोऽप्येष मुमुदे विहितिक्रियः ॥ १ ॥
तन्मृत्यं न यथा नश्येज्ञान्येषां चापि हास्यता ।
तथा व्यवहारेत्प्राज्ञो नागुर्वगारकारवत् ॥ ५ ॥
हत्यगुरुदाहकाष्व्यमुर्खकथनाभिधं कुसुमम् ॥ ४२ ॥

[83]

जात्वेक:कृषिको मृष्टितिलास्वादाद्धियं गता । भां किं मृष्टा उप्यन्ते मयीति कृतधीरसी ॥ १ ॥

¹ Corrupt.

अतीव मिष्टान्सुतिलान्मोजयामोऽखिलानिति । आघोष्य परितो रेमे तिल्मक्षणहृष्टधीः ॥ २ ॥ तथा कृत्वा हताशाऽसौ हासमाप समंततः । मूढानां केवलं जन्म परहासाय निश्चितम् । इति मत्वा निजाञ्चाने परं पृष्ट्वा चरेद्ध्यः ॥ ३ ॥

इति तिलकार्षिकाख्यमूर्खकुसुमं त्रयश्रत्वारिश्चम् ॥

[88]

भार्यासीःकस्यचिद्हस्वनासाःस्युचनसो गुरुः । प्रेममानास्पदे एतौ कयं स्यातां मुदे म[५०अ]म ॥ १ ॥ इति निश्चित्य संस्थाप्यिया नासेतयोस्त्वसौ । च्छित्वा तदनुसारेण गुरोर्नासां रहो द्वतम् ॥ २ ॥ आगत्य योजयामास भार्यानासाच्छिदि द्वतम् । सुखं स्विपतुमारेमे मुग्धः कोलाहलात्ततः ॥ ३ ॥ सुद्धः सल्जितो लोकैः पल्लाप्यास स दूरतः । तस्मान्मानं तथा प्रेम मूर्साणां कापि निश्चितम् । अनर्थायेति रक्ष्यः स्वो धीरैर्मूर्खाशयादिति ॥ ४ ॥

इति नासारोपकारूयमूर्धकुसुमम् चतुश्रत्वारिश्चम् ।

[84]

मूर्खः कश्चित्पुमांस्तूलविक्रयायापणं ययौ । अशुद्धमिति तत्तस्य न जग्राहात्र कश्चन ।। १ ॥ विमृष्य स्वर्णकाराय गत्वा स्वर्ण कथं त्वया । शोध्यतेऽग्नाविति श्रुत्वा सोऽपि चक्रे विधि तथा ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तत् खिलतां यातं विलयञ्जनहासतः । शुशोच मूदबुद्धीनां स्वनाशे परहास्यता ॥ ३ ॥ इति तुलिकारुयमूर्खाभिधं पंचचत्वारिशं कुसुमम् ।

[88]

निधानदर्शी केनापि कोऽप्यानीतो महीभुजे ।
अनेन जंगले दृष्टं निधानमिति वादिना ।। १ ।।
श्रुत्वाऽसौ मुदितो मायं पलायेतेति मन्त्रिणे ।
निचेक्षप स चाप्येनमन्धं चक्रे क्षणात्मुधीः ॥ २ ॥
दिनान्तरे नृपेणासौ कुलेति परिभाषितः ।
संरक्षितो मयेत्याह स मंत्री क्रियतां पुरः ॥ ३ ॥
इत्युक्तोऽसौ तमानीय चक्षुर्हीनमदर्शयत् ।
पलायनभयादस्य नेत्रे उत्पाटिते मया ॥ ४ ॥
यथासौ नः गत कापीत्युक्त्वा तूष्णीं गतोद्यसौ।
तत्रत्यर्धुगपत्सवैर्जहसेऽद्वाहकारिभिः ॥ ५ ॥
तत्साद्भूपतिभिः सम्यक्परिक्षयेव क्रियास्पदे ।
अधिकारी निधातन्यो लोकानन्त्यमभीत्मुना ॥ ६ ॥
इति मंत्रिमूर्खाभिधानं षद्चत्वारिंगं कुसुमम् ।

[08]

(५०व) वन्यः कोऽपि सुद्ध्वासीं कस्यापि पुरवासिनः । स जातु तेन सौहार्दादानीतः स्वगृहान्प्रति ॥ १ ॥ भोजितोऽथ कथितं स्वगृद्धित तमसौ पुनः । छवणेनेति श्रुत्वासौ रहो छवणमुष्टिकाम् ॥ २ ॥ भुक्तौष्ठजिह्यानिर्दग्धो हा हेति विलपन्मुहः । हासपात्रं परं जातो हासायैवाक्षचेष्ठितम् ॥ ३ ॥ इति लवणाश्चिम्स्वीभिधं सप्तचत्वारिशं कुसुमम् ।

[85]

कस्यचिन्मुग्धबुद्धेगीरेका क्षीरशतंपछान् ।
प्रत्यहं प्रद्दौ जातूत्सवकृद्धिचचार सः ॥ १ ॥
अवश्यं पयसो मेऽत्र बहुना भाव्यमञ्जसा ।
न दोक्षि मासं युगपत्तदा प्राप्स्यियिति स्थितः ॥२॥
उत्सवे त्वागतेऽसौ तां दोग्धं यावदुपक्रमेत् ।
तावचासंस्तवात्तस्यास्तद्वपं समजायत ॥ ३ ॥
कुद्धो यावद्धछात्तस्याः दुग्धं छब्धुं प्रचक्रमे ।
तावद्रक्तं तया दत्तमाछोक्य किमिदं जनैः ।
पृष्टो वृत्तं तदाख्याय हासपात्रं बभूव सः ॥ ४ ॥
इत्थं न केवछं जन्म मूढानां हास्यसिद्धये ।
यावच्च परपीडाये यथा गौर्दुदृहे सृजम् ॥ ५ ॥
इति गोदोहिमूर्काभिधं कुसुममष्टाचत्वारिंशम् ।

[88]

यद्यस्योचितभेतेन तत्र स्थेयं न जातुचित् ।
अनौचित्सापरं देयं तदनर्थाय केवलम् ॥ १ ॥
प्राप्यापि दैवयोगेन महासत्त्वोचितं धनम् ।
न स्वसीमा बुधेहेंया यथापत्सहसा पतेत् ॥ २ ॥
तथा च श्रूयतामत्र कथा स्वपरहर्षदा ।
प्राम्यः कश्चित्खनन्भूमिं प्राप्यालंकरणं महत् ॥ ३ ॥
चौरानीतं राजगृहात्तत्र स्थापितमस्ति यत् ।
सोत्तानधीस्तदासैव स्वां भार्यां पर्यभूषयत् ॥ ४ ॥
वबन्धं मेखलां मूर्झि हारं च जघनस्थले ।
[५१ अ]नूपुरी कर्णयोस्तद्दत्करयोरिप हंसकौ ॥ ५ ॥

हसिद्धः ख्यापिते होकैर्बुद्धा राजा न केवछम् ! संजहार धनं तस्य यच किंचिचितं शनैः । सर्वे तद्धारयामास काराबद्धं चकार तम् ॥ ६ ॥ इति ग्राम्यमूर्खाभिधमेकोनपश्चाशं कुसुमम् ।

[40]

विचित्रं विधिवैचित्रयं धनं यदानभुक्तये ।
तद्रूहत्य बुधो येन स इहामुत्र खिद्यते ॥ १ ॥
किंवा मृद्धमतेश्चित्रं यदसौ राति नो धनम् ।
यः स्वयं नोपभुङक्ते तत्तस्य दानं खपुष्पवत् ॥ २ ॥
तथा च मूर्खः कोऽप्यासीदितः सत्कोशवानिष ।
न ददौ न च खादापि तथा तस्यौचिती यथा ॥ ३ ॥
एकदा जगदुश्चैवं मन्त्रिणस्तं हितैषिणः ।
दानं दहति देवेह दुर्गतिं पारङौकिकीम् ॥ ४ ॥
तदेहि दानमायूषि भङ्गराणि धनानि च ।
तच्छ्र्वा स नृपोऽवादीद्दानं दास्याम्यहं तदा ।
दुर्गतिं प्राप्तमात्मानं मृतो द्रक्ष्याम्यहं यदा ॥ ५ ॥
ततश्चान्तर्हन्तस्ते तृष्णीमासत मंत्रिणः ।
एवं नोज्झति मृदोऽर्थान्यावद्यें स नोज्झ्यते ॥ ६ ॥

इति धनमूर्वकुसुमं पश्चाशम्।

[48]

अन्यच श्रूयतां द्रव्यमूर्खो योऽसौ प्रतारितः । जीवनेव निजैर्थमूर्खीख्यामाप यो सुवि ॥ १ ॥

अभूत्पर्वतदेशीयो राजा दैवात्प्रतापपान् । येनेयं पृथिवी सर्वी पूरिताभूद्रसुंधरा ॥ २ ॥ स कार्पण्यधृतास्थानो मुमुदे केवछं हृदि । कोशागारकतैस्तैस्तैईव्यराशिभिरुवतः ॥ ३ ॥ रात्रिन्दिनं च ताचिन्तातुरः कथमयं मम । न कोशो भरितोऽस्तीति धिङ्मामिति विचिन्तयन् ॥ ४ ॥ महाकष्टेन दत्ते स्म भृति भृत्यजनाय सः। प्राणसंधारणार्थं च बुभुजे न तु भोगभुक् ॥ ५ ॥ इत्थं बला ५१बोत्स भूपालधुरं दैवात्समाश्रितः । ऐहिकीं वर्तयामास वर्तनीं मन्त्रिशासनात् ॥ ६ ॥ कादः क चापि गन्तव्यं को नामासौ पराभिधः। लोक इत्यमुशास्तुन्स बोधयामास बद्धर्धाः ॥ ७ ॥ नासौ ददे परत्रार्थं वराटमपि कस्यचित् । केवलं दैहिकीं चर्यों चारयामास तद्भयात् ॥ ८ ॥ जातु रोगसमापत्तौ ददौ वैद्यौषधादिना । न जातु विप्रदेवाग्रिमुखेनासौ कदाचन ॥ ९॥ इत्थं वर्तयतस्तस्य छोकयात्रां कथंचन । प्राणान्तवेलाप्यगमद्भाहेति विलपनभूत् ॥ १० ॥ न कथंचन वैद्यानां क्रियाभूत्तस्य सार्थका । किं नाम क्रियते यत्नैः प्रारब्धे परमे सति ॥ ११ ॥ तामवस्थामवाहोऽसौ बोधितोऽपि बङान्निजै: । मन्त्रिमिर्न चकारासौ परलोकोपयोगदम् ॥ १२ ॥ प्राणान्तपीडामाप्त्वाथ स्खलद्वागादिकित्रयः । बळात्संश्रावितो देहि देहीति पारलौकिकम् !। १३ ॥ कुद्धोऽसौ प्रस्खलद्दाचा तेषामेवानुरोधतः । ददे यदि च कोऽप्यत्र जीवते प्रतिदास्यति ॥ १४ ॥ यदि जीवासि तत्कश्चिद्यदि द्रव्यं ममार्पयेत् । दास्यामि तदिति ब्रुत किं तूर्णीं भूयतेऽधुना ॥ १५॥

¹ Corrupt.

अन्तश्च हसतां तेषां कश्चिदुत्थाय दीर्घहक् !
सक्तं ते प्रदास्यामि सक्तं जीवतस्तव ।। १६ ।।
गृहाण तदितं छेष्यमिति शीवं समापिपत् ।
विलोक्य छेष्यं मुदितः शशासासी प्रदीयताम् ।। १७ ॥
प्रदीयतामिति मुदा न्याकोशहृदयो यदा ।
अभूत्तदैव द्राक्तस्य प्राणा देहाद्विनिर्ययुः ।। १८ ॥
यद्यस्य संस्तुतं तस्य बलात्तद्विगमेऽथवा ।
इन्छया तस्य सा वेला प्राणान्तस्येति विद्यताम् ।। १९ ॥
प्राणसत्त्वेऽपि यत्तेन द्रन्यं तत्कल्यापितम् ।
[५२अ]तदर्थमूर्खतामेति पूर्णोऽत्रापि न राति यः ।। २० ॥

इत्यर्थमूर्वाभिधं कुसुममेकपश्चाशत्तमम्।

[42]

असंबद्धं वदन्त्येव स्वपरान्हासयन्ति च ।
अलारोहन्ति पृष्टाश्चेन्मूर्जाः पश्वधमा मताः ॥ १ ॥
तथा च जनमध्यस्थो मूर्जः कश्चित्ररोत्तमम् ।
दूरादायान्तमालोक्य भातेष मम संगतः ॥ २ ॥
अर्थदायी भवाम्यस्य न चैष मम कश्चन ।
ततो नास्य तु भागो मे पश्यतान्तरमत्र मे ॥ ३ ॥
अहमनेन सहशो नासौ मत्सहशस्त्विति ।
वदन्पुरोगतां ल्लोष्ठपाषाणानप्यहासयत् ॥ ४ ॥

[43]

इति दायभागिनामम्काभिधं द्वापश्चाशत्तमं कुसुमम्।

कश्चित्पितृगुणाष्यानप्रवृत्तः सिखमध्यगः । तत्र स्विपतुरुत्कर्षे वर्णयनेवमभ्यधात् ॥ १ ॥ आबाल्याद्रसचारी में पिता नान्योऽस्ति तत्समः । कुतस्त्वमिति पृष्टस्तैर्माता वेचीति संवदन् ॥ २ ॥ सुखमशुंकबद्धं ते विधाय हसितः स तैः । अहो नैर्लब्यमेतेषामिति तां सोऽप्यल्ज्ययत् ॥ ३ ॥ इति व्याघातिपूर्खाभिधं त्रयःपश्चाश्चमं कुसुमम् ।

[48]

बभ्व नाम गणकः कश्चिद्विज्ञानवर्जितः ।
सभायीपुत्रसाहितः स्वदेशे वृत्त्यभावतः ॥ १ ॥
गत्वा देशान्तरं सोऽथ मिथ्याविज्ञानमात्मनः ।
कृतकप्रत्ययेनार्थपूजामाप्तुमदर्शयत् ॥ २ ॥
परिष्वज्य स्तं बाछं तत्र सर्वजनाप्रतः ।
रुरोद पृष्टश्च[५२ब]जनैरेवं प्रायो जगाद सः ॥ ३ ॥
भूतं भव्यं भविष्यच जानेऽहं तदयं शिद्धः ।
विपत्स्यते च दिवसे सप्तमे तेन रोदिमि ॥ ४ ॥
इत्युक्त्वा तत्र विस्माय्य छोकं प्राप्तेऽहि सप्तमे ।
प्रभात एव सुप्तं तं स संव्यापादितवानस्रुतम् ॥ ५ ॥
दृष्ट्रा च तं मृतं बाछं संजातप्रस्थयेर्जनैः ।
पूजितो धनमासाद्य स्वदेशं स्वरमाययौ ॥ ६ ॥
छोकेऽर्थछोभान्मिथ्येव विज्ञानज्ञापनेप्सवः ।
मूर्जाः पुत्रमपि व्रन्ति रज्येकैतेषु बुद्धिमान् ॥ ७ ॥
इति धनसोभपूर्जाभिधं चतुष्पश्चाश्चतमं कुसुमम् ।

[५५]

केचिच बालिशाः प्राज्ञमानिनो जगतीतले । यैः सुन्यक्तोऽपि दोषः स्वः कौशलानैव बुष्यते ॥ १ ॥ तथा च श्रुण्वतः पुंसो बाह्यार्थस्य च कस्यचित् ।
अभ्यन्तरे गुणान्कश्चिन्छशंस सुजनात्रतः ॥ २ ॥
तदा चैकोऽत्रवीत्तत्र सत्यं स गुणवान्सखे ।
किंतु द्वौ तस्य दोषौ स्तः साहसी क्रोधनश्च यत् ॥ ३ ॥
इति वादिनमेवैनं बहिर्वर्ता निशम्य सः ।
पुमान्प्रविश्य सहसा वाससावेष्टयद्गळे ॥ ४ ॥
रे जाल्म साहसं किं मे क्रोधः कश्च मया कृतः ।
इत्युवाच च साक्षेपमसौ क्रोधाग्निना ज्वळन् ॥ ५ ॥
ततो हसन्तस्तत्रान्ये तमृचुः किं त्रवीत्यदः ।
प्रस्थक्षदर्शितकोधसाहसोऽपि भवानिति ॥ ६ ॥

इति साहसिम्र्काभिधं पश्चपञ्चाशत्तमं कुसुमम्।

[48]

(५३ अ)मोर्ज्यमेतन्मनुष्याणामस्तु स्वपरद्दानिदम् । हिताय च भवत्येतन्महत्सु विहितस्थिति ।। १ ॥ अत्रास्त्राभाणकं छोके मूढानां चेत्र मातरः । प्रसूयन्ते प्रवीणानां गेहाः स्युः पूरिताः कथम् ॥ २ ॥ तया च कस्यचिद्राज्ञः कन्याभूदितिरूपभाक् । स वर्धियतुकामस्तामितिस्नेहेन सत्वरम् ॥ ३ ॥ वैद्यानानाय्य न्यपितः प्रीतिपूर्वमभाषत । सदौषघप्रयोगं तं कंचित्कुरुत येन मे ॥ ४ ॥ स्तैषा वर्धते शींघं सद्धत्रें च प्रदीयते । तच्छुत्वा तेऽत्रुवन्वैद्या उपजीवियतुं प्रसुम् ॥ ५ ॥ अस्त्यौषधिमतो दूरदेशात्तत्रापि छम्यते । आनयामश्च यावत्त्तावदेषा सुता तव ॥ ६ ॥ अदृश्या स्थापनीयैषा विधानं तत्र हीदशम् । इत्युक्तवा स्थापयामास च्छनां ते तां नृपात्मजाम् ॥ ७ ॥ इत्युक्तवा स्थापयामास च्छनां ते तां नृपात्मजाम् ॥ ७ ॥

संवत्सरानत्र बहूनौषधप्राप्तिशंसिनः । यौवनस्थां च तां प्राप्तामौषधेन प्रवर्धिताम् ॥ ८ ॥ ब्रुवाणा दर्शयामासुः स्तृतां तस्म महीभृते । सोऽपि तान्प्रयामास वैद्यांस्तुष्टो धनोचयैः । इति व्याजाज्जडिधयो धूर्तिर्भुज्यन्त ईश्वराः ॥ ९ ॥ इति राजमृखीभिधं षट्पश्चाशत्तमं कुसुमम् ।

[५७]

बहु क्षपयते मूर्बः स्वल्पस्यार्थे धनांधधीः । केनचिद्भृतको प्राम्यः पणेन पाणितः समाम् ॥ १ ॥ वृत्त्यतोषात्तमापृच्छ्य ययौ स च गृहं स्वकम् । गते तिस्मश्च पप्रच्छ भार्यो तिन्वगतः समा ॥ २ ॥ स्वतः किंचिद्गृहीत्वेति साप्यर्धपणमभ्यधात् । मुद्धोऽर्धपणमेतस्मास्प्रत्यानेतुं स तीव्रधीः ॥ ३ ॥ चक्रे दशपणांस्तत्र पाथेयं तदवासये । गत्वा च मृतकात्तस्मात्तमर्धपणमानयत् । तचार्थकौशलं शंसन्ययौ लोकहास्यताम् ॥ ४ ॥ इति धनमूर्खाभिधं सप्तपश्चाशत्तमं कुसुमम् ।

[46]

मूर्खाणां जन्म ये प्राहुर्व्यर्थं ते न मता मम ।
आकल्पं हास्यदानात्तज्जन्म हर्षाय धीमताम् ॥ १ ॥
तथा च कस्यचिद्यानपात्रेणान्धि तरिष्यतः ।
सौर्वणं पात्रमपतज्जन्ने तत्रैव स द्रुतम् ॥ २ ॥
आवर्तं जल्गर्तेनामिमुखं चिद्धमादधौ ।
[५३ ब]अस्त्वागमनवेलायामुद्धरामीति निश्चितः ॥ ३ ॥

नारं प्राप्याम्बुधेस्तीरे दृष्ट्वावर्तादि वारिणि ।

मज्जयामास सोऽबुद्धिनदीस्तांस्ततत्र सः ॥ ४ ॥

पृष्टः स तैः कथं कुल चोक्त्वा तद्वृत्तमादृतः ।

हाससापेत हर्षाय मूढजन्म मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

इति मूर्खजन्मसाफल्याभिधमष्टपश्चाशत्तमं कुसुमम् ।

[49]

न राज्ञां प्रस्थयो प्राह्यो निम्नहे वाप्यनुम्रहे ।

शायो विमूढमतयस्ते भाग्योदयजीविनः ॥ १ ॥

तथा च कश्चिद्भृत्यं स्वं हतमांसं महानसात् ।

विलोक्याज्ञापयामास देहादेतिनमतं पलम् ॥ २ ॥

कर्त्यतामिति देसेद्वः पलपंचक उत्कृते ।

दृष्ट्या तं पतितं भूमौ क्रन्दन्तं चाप्यसौ पुनः ॥ ३ ॥

जातानुकम्पो द्वाःस्थं तं प्राह पश्चपली द्वतम् ।

देह्यस्मै चेन्न तुष्येत तदतोप्यधिकं पलम् ॥ ४ ॥

किं जीवित शिरिच्छनो दत्तैरिप शिरःशतैः ।

विमृष्य दास्य इत्युक्त्वा गत्वा क्षत्ता हसद्वहिः ॥ ५ ॥

तं समाश्वास्य वैद्येम्यः कृतं मांसं व्यचीकलत् ।

एवं मूढप्रभुवेति निम्नहं नाप्यनुम्नहम् ॥ ६ ॥

इति मूढप्रभुवेति निम्नहं नाप्यनुम्नहम् ॥ ६ ॥

[६0]

प्रायेण मूढमतयो राजानः प्रभवन्ति हि । प्रभावयुक्तमतिमानराजा खल्वः सुदुर्छभः ॥ १ ॥ तथा च श्रूयतां भाग्यपुंजोऽभूत्किश्चिदीश्वरः । यस्यौदार्यं दिगन्तेषु साम्प्रतं च स्थितिं गतम् ॥ २ ॥ तमेकदा सुखासीनं लिखित्वाक्षोटपत्रिकाम् ।
स कायस्थेऽपियामास मुद्रां कुर्तिति चार्थितः ॥ ३ ॥
विलोक्याक्षोटसाहस्रं किं दास्ये ते मतिः कुतः ।
हौम्बन्या प्रणयो भाति तैल्लमादीयतां त्वया ॥ ४ ॥
तैलार्थे तेऽप्यमी प्राह्या वद किं दूरधावनात् ।
यथैच्लं तैल्लमादस्य न ते किश्चिद्भयं मम ॥ ५ ॥
इति श्रुत्वा समाश्वस्योपविष्टोंऽजलिभाग्दुतम् ।
आलिएय तैलपत्रीं स समर्पयदथाञ्जसा ॥ ६ ॥
त्रिशदद्गोणिमता दृष्टानयास्त्वा चरस्व भोः ।
इत्युक्तवाश्वर्पयन्मुद्रां नयेत्युक्तवा निचिक्षिपे ॥ ७ ॥

इति संख्याविश्रमराजमूर्खाभिधं कुसुमं षष्टितमम्।

[६१]

ध्रुवमल्पधियां द्रव्यं (५८अ) सपदोषाविमोहिनी ।
ययैते वञ्चायित्वा स्वान्परं न्यस्तं विधाय तत् ॥ १ ॥
स्वमिहामुत्र गर्हार्हे कृत्वाकिञ्चनतां गताः ।
स्ववृत्तं गोपयन्त्येव मरणान्तमिति स्थितिः ॥ २ ॥
तथा च कश्चिद्धीक्षुदः संचित्य द्रविणं बहु ।
पित्रादिभ्योऽथ कस्मिश्चिन्मित्रे विश्वस्तसंविदा ॥ ३ ॥
संस्थाप्य नैव वाच्यं ते पितृभात्रादिसंनिधौ ।
धनमस्येति नियमं कारयामास तं पुनः ॥ ४ ॥
तत्राप्यविश्वस्तमितमां शङ्कीति च तं पुनः ।
स मुद्राङ्कं ददौ पत्रं मयासाद्वतं धनम् ॥ ५ ॥
एतावदिति पित्रादीन्ज्ञापयामास संज्ञ्या ।
इत्थं गते प्रहृष्टोऽसौ वंचिताः स्वपरे मया ॥ ६ ॥

¹ Corrupt.

वर्तयामास तेनासौ विश्वस्तद्दयः सुखम्। अथ कालान्तरे दैवाद्व्ययातीं ऽसी ऽमुमभ्यगात् ।। ७ ॥ व्ययार्थं पूर्वमेवणं तावन्मोचयं संकुलः । संबद्धपाणिरधुनाहमप्यस्मीति चाह तम् ॥ ८ ॥ किं वक्षीति⁹ ज्वलंचास्मै यदा नैवं श्रुतिंगतः । तदा विवादवृद्धौ स मुद्रांकं पत्रमम्रतः । विधाय हेपयामास तं महाजनसनिधौ ॥ ९ ॥ इति क्षुद्रधियो मूढा वश्चयित्वा स्वकानमुधा। स्वेनापि वश्चिता लोके हास्यतां यान्ति निश्चितम् ॥ १० ॥ इत्यं मूर्खचिरित्राणां निबद्धानां दढं च तैः। शांतरज्ञा भवन्त्यज्ञा विशेषज्ञं विना भुवि ॥ ११ ॥

इति स्ववश्रकपृर्खाभिधमेकषष्टितमं कुसुमम्।

[६२]

निष्प्रज्ञो नाशयत्यर्थं प्रभोः स्वस्यापि चेटकः । तथा च केनचिद्भत्यष्टंकार्थे प्रेषितोऽभवत् ॥ १ ॥ मिष्टमिष्टानि टंकान्यानयस्वेति स बुद्धधीः । हृदि कृत्वा प्रभोराज्ञां हुठान्येत्र विशाकरोत् ॥ २ ॥ ं एकैकं दशनच्छेदैरास्वाद्यानीतवाञ्जनः। आस्वाच मधुराण्येतान्यानीतानीक्षतो प्रमु: ॥ ३ ॥ सोऽनवीत्सोऽपि तान्यधीिकष्टान्याळीक्य कुत्सया । जहौ गृहपतिस्तेन मृतेनाबुद्धिना समम् ॥ ४ ॥

इत्युच्छिष्टक्षन्मूर्जीभिधं द्विषष्टितमं कुसुमम् ।

Corrupt.

[६३]

मृढः सुहःप्रमाणेन सदसद्गावि वांछति ।
तथा च श्रूयतां कोऽपि कर्णाटः स्वप्रमुं रणे ॥ १ ॥
तोषयामास तं सोऽपि वृण्विष्टं[५४व]ते ददे वरम् ।
इत्युक्तोऽसौ नृपं ववे विद्यासी नापितं स्वकम् ॥ २ ॥
क्षौरकृद्देवेमप्येष क्षौरशोभमकरोद्बद्धम् ।
इत्युक्तः स्वीचकारासौ प्रसन्बद्धयो हसन् ।
इत्यल्पचिताः स्वल्पेन प्रीतिं यान्ति विद्यासिनः ॥ ३ ॥
इति विद्यासिमूर्क्षाभिधं त्रिषष्टितमं कुसुमम् ।

[48]

धीमद्भिधीः परिक्षिता यथा मूर्का अपि स्वयम् ।
विज्ञाध्य न चेद्वाचाख्यापयेयु निजारायम् ॥ २ ॥
तथा च केनिचचैत्यगर्दमः पुष्टये कृशः ।
परसस्येषु मुक्तोऽमूदाच्छाद्य द्विपिचर्मणा ॥ २ ॥
स तानि खादन्द्वीपीति जनैस्नासान वारितः ।
एकेन दृश्यते जातु कार्षिकेन धनुर्मृता ॥ ३ ॥
स तं द्वीपीति मन्वानः कुर्ज्ञाभूय भयानतः ।
कंबछावेष्टितशिरो गन्तुं प्रवृत्तते ततः ॥ ४ ॥
तं च दृष्ट्वा ततो यान्तं खरोऽयमिति चिन्तयत् ।
खरस्तु स्वकृतेनोचैर्व्याद्वरत्सस्यपोषितः ॥ ५ ॥
तच्छूत्वा गर्दमं मत्वा तमुपैति स कार्षिकः ।
अवधीच्छरघातेन कृतवैरं स्वया धिया ॥ ६ ॥
इति मिज्ञमतिः साधुफ्लेश्वेन्नं जडारायः ।
अंतरागस्य तां दैवात्स्फोटयेदिति निश्चयः ॥ ७ ॥
इति इदयस्फोटिमूर्काभिधं चतुःषष्टितमं कुसुमम् ।

¹ Corrupt.

[६५]

धूर्तानां कौशलं छद्म तेनामी छलयन्ति यत्। येन च्छलेन जहते वियं ते मूर्खशेखराः ॥ १ ॥ तथा चादाय याज्येभ्यश्छागं कोऽपि व्रजन्द्रिजः। बहुभिर्ददशे मार्गे धूर्तैश्छागं जिहीर्षुभिः ॥ २ ॥ एकश्रेतेम्य आगत्य तमुवाच ससंभ्रमम्। ब्रह्मक्रथमयं स्कन्धे गृहीतः श्वा त्वया त्यज ॥ ३ ॥ तच्छ्ता तमनादृत्य स द्विजः प्राक्रमद्यदा । ततोऽन्यौ द्वावुपेत्याम्रे तद्वदेव तमूचतुः ॥ ४॥ ततः ससंशयो यावद्याति छागं निरूपयन् । तावदन्ये त्रयोऽभ्येत्य तमेवमवदञ्ज्ञठाः ॥ ५ ॥ क्यं यज्ञोपवीतं त्वं श्वानं च वहसे सहम्। नूनं व्याधो न विप्रस्त्वं हंस्यनेन शुना मृगान् ॥ ६ ॥ तच्छूत्वा स द्विजो दध्यौ नूनं भूतेन केनचित्। भ्रामितोऽहं दृशं हृत्वा सर्वे पश्यन्ति कि मृधा ॥ ७ ॥ इति विप्रः स तं हित्वा छागं स्नात्वा गृहं ययौ । [५५अ]धूर्ताश्च नीत्वा तमजं यथेच्छं समभक्षयन् ॥ ८॥ इति पूर्वशेखराभिधं पश्चषष्टितमं कुसुमम् ।

[६६]

प्राणान्ददित नो द्रव्यमात्रं क्षुद्धाः कथंचन ।
तथा च शृणतेमां भोः कथां कार्पण्याचित्रिताम् ॥ १ ॥
कदर्यः कोऽप्यूभूत्कापि मूर्खष्ठको महाधनः ।
समार्यः स सदा भुंको सक्तुं छवणवर्जितान् ॥ २ ॥
अन्यस्यानस्य बुबुधे नैवास्वादं कथंचन् ।
एकदा प्रेरितो धात्रा स भार्यामत्रवानिजाम् ॥ ३ ॥

क्षीरिणीं प्रति जाता मे श्रद्धा तामद्य मे पच । तथेति तस्य सा भार्या पेचे तां क्षीरिणीं तदा ॥ ४ ॥ तस्थौ चाभ्यंतरे गुप्तं स ठकः शयनं गतः। दङ्घा प्राघूर्णकं कंचिदत्रासी मा व्रजेदिति ॥ ५ ॥ तावत्तस्य मुहर्धूर्तोऽन्यठक्कस्तत आययौ । क ते भर्तेति पप्रच्छ स च तां तस्य गेहिनीम् ॥ ६ ॥ साप्यदत्तोत्तरा तस्य प्राविशलाखुरन्तिकम् । आख्याय मित्रागमनं भार्यां सोऽपि जगाद ताम् ॥ ७ ॥ उपविश्येह रुदती पादावादाय तिष्ठ मे । भर्ता में मृत इत्येव वेदश्व सुहृदं मम ॥ ८॥ ततो गतेऽस्मित्रावाभ्यां भोक्तव्या क्षीरिणी सखम । इस्युक्ता तेन तावत्सा प्रवृत्ता रोदितुं तथा ॥ ९ ॥ तावत्प्रविश्य सोऽपृच्छात्कमेतदिति तां सहत्। भर्ता मृतो मे पश्येति तयोक्तः स व्यचिन्तयत् ॥ १० ॥ क पचन्ती मया दष्टा सुखिता श्लीरिणीमिमाम्। काधुनैव विपन्नोऽयमेतद्भर्ता रुजं विना ॥ ११ ॥ न्नं मां प्राघृणिकं दृष्टा कृतमाभ्यामिदं मृषा । तन्मया नैव गन्तव्यमित्याळोच्योपविश्य सः ॥ १२ ॥ धूर्ती हा मित्र हा मित्रेखाक्रन्दंस्तत्र तस्थिवान् । श्रुताक्रन्दाः प्रविश्यात बान्धवा मृतवस्थितम् ॥ १३ ॥ श्मशानं मौनठकं ते नेतुमासन्समुद्यताः । उत्तिष्ट बान्धवैर्यावदेतैनीत्वा न दह्यसे ॥ १४ ॥ इत्युपांश्ववदत्कलमूले भायी तदा च तम्। मैवं शठोऽयं ठको मे क्षीरिणीं भोक्तुमिन्छति ॥ १५ ॥ नोत्तिष्ठामि तदेतस्मिन्नगतेतः प्रिये यदि । प्राणेभ्योऽप्यन्नमृष्टिहिं मादशानां गरीयसी ॥ १६ ॥

इति प्रतिभवेद्धार्यामुपांश्वेव तदा जडः । ततस्ते[५५व]न कुमित्रेण नीत्वा तैः स्वजनैश्व सः ॥ १७॥ दह्यमानोऽपि निश्वेष्टो ददौ नामरणाद्वचः । एवं स मूढो विजहौ प्राणान्न क्षीरिणीं पुनः ॥ क्वेशाऽर्जितं च बुभुजे तस्यान्यैईलया धनम् ॥ १८॥

इति कदर्यमूर्जाभिधं पद्षष्टितमं कुसुमम् ।

[६७]

दोषाय निर्विमशीनामकस्मादागतं भवेत् । यिकिचिद्भक्ष्यभोज्यादि स्वाद्विष्टं तिन्नशम्यताम् ॥ १ ॥ तडाककारिणोऽमुत्र पुण्यं स्यात्कोटिसंगुणम् । इति कश्चिज्जडः श्रुत्वा मठधारी धनोद्धतः ॥ २ ॥ अस्त्वहं चापि तत्कुर्वे तडाकं मठपार्श्वगम् । येनाह्मेव भोक्ष्यामि तत्फळं चात्रजन्मानि ॥ ३ ॥

चैवार्थे अत्रैव जनमनीति ।

धनमस्तीदमपि मे महत्तिक्यताप्यहम् । अत्रैव वृद्धिं नेष्यामि परेषां वार्यदानतः ॥ ४ ॥

अयं भावाः यदि परेष्यतो वार्यादास्यन्ति तत्तेषामपि सामान्यन्यायादमु-त्रवृद्धिरिति तनिरोधात्सर्वं पुण्यफळं मे दकळग्नं भविष्यतीतिहैव धनसमृद्धिमेम भूयादिति ।

इति कृत्वा मितं मूढः कारयामास सिनधौ।
मठस्यान्यनिषेधाय मित्तीः सर्वत्र आदधे॥ ५॥
ततो रहःस्थानमिदमिति मत्वा गर्ते वृषः।
हरस्य स्फिटिकादेश्व पानार्थं तत्पयः ययौ॥ ६॥
पीत्वा च रह आलोक्य क्रीडां कृत्वा तटोपगाम्।
जगामन्येशुर्यवमेवं चक्रे रहोगतः॥ ७॥

द्रीं दर्शे च तत्रासी कोऽयमाह्नित मे तटान् । रोहत्राद्वारमेतस्मिस्तटाक इति दुःखितः ॥ ८॥ शंकमानो ददशीशुमायान्तं वृषपुंगवम् । एकदा पुच्छमालंब्य व्यागृह्णात्तं निप्रहेच्छया ॥ ९ ॥ सोत्फाल्यागातुमाकृष्य कैलासं हरवाहनः। तत्राप्यसौ मुनीन्पश्यनमोदमानोऽर्चितश्च तै: ॥ १०॥ दिव्यमोदकदानेन तृप्तोऽत्यर्थे जहर्ष च। एकदा बांधवास्तस्य स्मृतिमापुः कथं नु ते ॥ ११ ॥ यामि तद्वार्तयास्यैव पुच्छलंबीति निश्चितः । विधाय च तथाप्त्वैव बंधुपृष्टो जगाद तत् ॥ १२ ॥ सर्वे ते विस्मिताश्चकुर्धियं तद्गमनाय वै। ततः सर्वे श्रुताश्चर्या भौतास्ते[५६अ]प्रार्थयन्त तम् ॥ १३ ॥ प्रसीद नय तत्रास्मानपि भोजय मोदकान् । तच्छूत्वा स तथेत्येतान्युक्तिमुक्त्वा परेऽह्नि ॥ १४॥ तडाकोपान्तमनयस्स च तत्राययौ वृषः। मुखे जग्राह लाङ्क्लूं तत्र प्राणभयेन सः ॥ १५॥ तस्याप्यगृह्णाचरणावन्यस्तस्यापि चेतरः । इत्यन्योन्यांत्रिलग्नैस्तैभौतिर्थावच शृङ्खला ॥ १६॥ रचिता स वृषस्तावदुरपपात नभो जवात् । याति तर्सिमश्च वृषमे लांगूलालंबिमीतके ॥ १७॥ मुख्य भौतं तमप्रक्षीदेको भौतोऽथदैवतः। कियत्प्रमाणा भवता भक्षिता मोदका इति ॥ १८ ॥ स च भ्रष्टानुसंघानो वृषपुच्छं विमुच्य तम् । पद्माकारौ करौ घृत्वा संश्विष्टौ मौतनायकः ॥ १९ ॥ इयत्प्रमाणा इत्याञ्च यावत्तान्प्रतिवाक्ति सः । तावत्सोऽन्ये च ते सर्वे खानिपत्य विपेदिरे ॥ २० ॥ इति जलरोधकमूर्जामिधं सप्तपष्टितमं कुसुमम्।

[६८]

द्वी छोकी नारायन्त्येव मूर्खी मूर्खीपदेशतः ।
तस्मान्मूर्खान्नसेवेत प्राज्ञः सेवेत पण्डितान् ।। १ ।।
तथा च श्रातरो विप्रावभूतां यद्धनं महत् ।
पित्रं तयोर्विवद्तोः करुहः समजायत ।। २ ।।
करुहे वृद्धिमायाते बांधवीयैच खिद्यति १ ।
अनुरागातुयोरन्यः स्वोपाध्यायो बुधोपमः ।। ३ ॥
सैवं कुरुत मात्रास्ति विचारो भागसाम्यता ।
वस्तु वस्तु समे द्वे द्वे एवं कृत्वा विभज्यताम् ।। ४ ।।
युवाम्यां रह आगस्य न यथा करुहो भवेत् ।
गुरूक्तं तौ प्रतिश्रुत्य रहः शक्त्यादि मांडकम् ॥ ५ ॥
एक्तमेकं द्विधा कृत्वा मूटी विभजतः स्म तौ ।
सर्व विभज्य तौ चार्षे पश्रून्कृत्वा तथेव तौ ॥ ६ ॥
दास्येका च तयोरासीत्सापि ताम्यां तथा कृता ।
तद्वद्वा दंडितौ राज्ञा सर्वस्वं तावुभाविप ॥ ७ ॥

इति सामिकारिमूर्खाभिधमष्टाषष्टितमं कुसुमम्।

[६९]

मितरेषा मितमतां यत्संतोषरितः सदा । असंतोषो हि दोषाय तथा चात्र निशम्यताम् ॥ १ ॥ आसन्प्रताजकः केचिद्धिक्षासंतोषपीवराः । तान्दृष्ट्वा पुरुषः काश्विदन्योन्यसुहृदोऽत्र[५६व]वीत् ॥ २ ॥ अहो मिक्षाशिनोऽप्येते पीनाः प्रताजका इति । एकस्तेषु ततोवादीत्कौतुकं दर्शयामि वः ॥ ३ ॥ अहं कृशीकरोम्येतां मुंजानानिप पूर्ववत् । इत्युक्त्वा स निमन्त्र्येतान्प्रवाजकान्गृही एकाहं भोजयामास षड्रसाहारमृत्तम् ॥ ४ ॥

नीतिकल्पतरः।

तथा मूर्जी तदास्वादं स्मरन्तो भक्ष्यभोजनम् । तत्त्रथाभिळवन्ति स्म ते तहुर्बळतां गताः ॥ ५ ॥ तस्मात्प्राज्ञः सुखं वाञ्छन्सन्तोषे स्थापयेन्मनः। ळोकद्वयेऽप्यसंतोषो दुःसहः श्रमदुःखदः॥ ६॥

इत्यसंतोषिमूर्खाभिधं कुसुमम्।

[%]

अज्ञातस्वाराया मूर्जास्तथा कार्याणि कुर्वते ।
यथा स्वपरहासः स्यात्तथा चेदं निशम्यताम् ॥ १ ॥
क्रीणाति स्मायुगः कश्चित्पणेनाष्टावपूपिकाः ।
तेषां च यावत्षड् मुङ्के तावनमेनेऽर्धतृप्तताम् ॥ २ ॥
सप्तमेनाथ मुङ्केन तृप्तिस्तस्योदपयत ।
ततश्चक्रन्द स जडो मुषितोऽस्मि न किं मया ॥ ३ ॥
नैष एकादितो मुक्तोऽपूपो येनास्मि तर्पितः ।
नाशिताः किं वृथैवान्ये मया मूर्खेण किं कृतम् ॥ ४ ॥
अथवा नापराधो मे कथमेनं न बाधये ।
येनासौ निहितो लोभात्सक्षभेऽत्र तले मम ॥ ५ ॥
व्यर्थ बताहं मुषितोऽनेनापूपिकदस्युना ।
तदसौ चेत्र कलितो लोकानेवं प्रतारयेत् ॥ ६ ॥
इत्युक्त्वाशु लगुडं गृहीत्वाभिययौ जवात् ।
तथा गते जनस्तत्र तं जध्नुर्मिलिता इति ।
जहसे च क्रमातृप्ति बोधितो विरराम ह ॥ ७ ॥

इत्यपूपमूर्काभिधं सप्ततितमं कुसुमम्।

[98]

अनर्थायैव राव्दैकपरोऽतात्पर्यविज्ञडः ।
तथा च दासो विणिजो मूर्खः केनाप्यभण्यत ॥ १ ॥
रक्षेविपिणयन्त्रं त्वं रात्री गेहं विशाम्यहम् ।
इत्युक्तवित यातेऽस्मिन्त्रणिजि द्वारयन्त्रकम् ॥ २ ॥
विपणीतो गृहीत्वासौ दासो दृष्टमगात्तटम् ।
आगतोऽसौ प्रगे दृष्ट्वा विपाणि मुषितां निशि ।
विलपन्न समाहूय तमाह किमिदं कुतः ॥ ३ ॥
स्वामिस्त्वदुक्तं सर्वं मे कृतं यन्त्रं तटीकृताम् ।
रक्षैतदिति चोक्तं ते पालितं किं मया कृतम् ॥ ४ ॥
इत्यनर्थेकफलकं मूर्खीणां चिरतं महत् ।
[५७अ] विज्ञाय धीमता भाव्यं सदाविहतचेतसा ॥ ५ ॥

इति पतियन्त्ररक्षकम् क्षिभधमेकसप्ततितमं कुसुमम्।

[७२]

अरहस्यं निग्रहन्ति गुह्यं प्रकटयन्ति च ।
मौद्ध्यांभिमानेनादत्ते मृखींऽप्रत्ययमात्मनि ॥ १ ॥
तथा च कंचिद्रृहिणी चण्डी मृर्खमभाषत ।
प्रतिनेशिगृहं यास्याम्युत्सवेऽस्मि निमन्त्रिता ॥ २ ॥
तस्वयोत्पल्रमालैका नानीता चेत्ततोऽसि मे ।
तम्म भार्यास्मि ते भर्ता नाप्तो मम भवानिति ॥ ३ ॥
ततस्तदर्थं रात्रौ स राजकीयसरो ययौ ।
तस्प्रविष्टश्च कोऽसीति दृष्ट्वापृच्छत रक्षकैः ॥ ४ ॥
चक्राह्वोऽस्मीति च वदन्बच्चानीतः प्रगे स तैः ।
राजाप्रे पृच्छणमानश्च चक्रवाकरुतं व्यधात् ॥ ५ ॥

ततः स राज्ञा वृत्तान्तं स्वयं पृष्टोऽनुबन्धतः।
मूर्खः कथितवृत्तान्तो मुक्तादेशो दयालुना ॥ ६ ॥
इति चक्राह्वमूर्खाभिधं द्वासप्ततितमं कुसुमम्।

[७३]

हासायैवाप्यशक्यार्थप्रतिज्ञानविकत्थनम् ।
तदीदृशैर्मूढमार्गैः संचरेत न बुद्धिमान् ॥ १ ॥
किश्चित्र लुब्धधीवैद्यः केनाप्यूचे द्विजन्मना ।
किकुदं मम पुत्रस्य कुब्जमम्यन्तरं नय ॥ २ ॥
एतच्छुद्वाऽत्रवीद्वैद्यो दश देहि पणान्मम ।
ददामि ते शतगुणान्साधयामि न चेद्वचः ॥ ३ ॥
एवं कृत्वा पणं तस्माद्गृहीत्वा तान्पणानिजान् ।
स तं स्वेदाम्बुभिः कुब्जमरुजत्केवलं भिषक् ॥ ४ ॥
न चाशकदृजुकर्तुं ददौ शतगुणान्पणान् ।
को हि वक्रमृजुं कर्तुं शक्नुयादिह धीधनः ॥ ५ ॥
इति पणपूर्वकृन्मूर्खाभिधं कुसुमं त्रिसप्ततितमम् ।

[88]

न जातु प्रस्ययः कार्यः कीनाशोक्ती कथंचन ।
सन्त्येवाढ्याः पृथं प्रामकृपणार्श्वं तथा पृथक् ॥ १ ॥
तथा च श्रूतयां गा...यो तुषकाख्यो जडाशयः ।
कश्चिद्रान्धविकेनाढ्यो गीतवाद्येन तोषितः ॥ २ ॥
भाण्डागारिकमाहूय तःसमक्षमभाषत ।
देहि गान्धविकायास्मै दे सहस्रे पणानिति ॥ ३ ॥
एवं करोमीत्युक्त्वा च स भाण्डागारिको ययौ ।
गान्धविकोऽथ गत्वा तान्पणानस्मादयाचत ॥ १ ॥

न चास्मै स्थितसंवित्तान्पणानेष ददौ तदा ।

[५७व]अथाढयस्तेन विज्ञप्तस्तःकृते वैणिकेन सः ॥ ५ ॥
उवाच किं त्वया दत्तं येन प्रतिददामि ते ।
गीतवाद्येन मे क्षिपं त्वया श्रुतिसुखं कृतम् ॥ ६ ॥
तथैव पारितोषेण कृतं क्षिप्रं मयापि ते ।
तच्छूत्वा विहिताशोऽपि हसित्वा वैणिको ययौ ॥ ७ ॥
कीनाशोक्त्यानया किं न हासो ... जायते ।
आढयत्वं नाम तदिदं वित्तौदार्यं प्रगीयते ।
नाढयत्वं धनवत्त्वं यदकिंचनसमं मतम् ॥ ॥ ८ ॥
इति कीनाशमूर्काभिधं चतुस्सप्ततितमं कुसुमम् ।

[७५]

न चापि मूर्बभृत्यौ द्वौ परस्परिवरोधिनौ ।
रक्ष्यावनर्थपाताय तया रक्षा निराम्यताम् ॥ १ ॥
गुरुः कस्याप्यभूतां द्वौ शिष्यावन्योन्यमन्थरौ ।
तयोरेको गुरोस्तस्य दक्षिणं पादमन्वहम् ॥ २ ॥
अभ्यञ्जं क्षाळ्यामास वामं चैवं तथेतरः ।
दक्षिणाभ्यञ्जके जातु प्रामं संप्रेषिते गुरुः ॥ ३ ॥
अभ्यक्तवामपादं तं द्वितीयं शिष्यमभ्यधात् ।
त्वमेव दक्षिणं पादमभ्यज्य क्षाळ्यस्व मे ॥ ४ ॥
श्रुत्वैतन्मूर्खशिष्योऽसौ स तं स्वैरमभाषत ।
प्रतिपञ्चस्य संबन्धी न पादोऽभ्यञ्ज्य एव मे ॥ ५ ॥
एवमुक्तवतश्चास्य निर्वन्धं सोऽकरोद्धरुः ।
ततो विपक्षस्तिच्छिष्यरोषादादाय तस्य तम् ॥ ६ ॥

¹ Corrupt.

गुरोः शिष्यः स चरणं बळाद्प्राव्णा बमञ्ज ह।

मुक्ताक्रन्दे गुरे तिस्मन्कुशिष्योऽन्यैः प्रविश्य सः ॥ ७ ॥

ताड्यमानः संगोकेन गुरुणानेन मोचितः ।
अन्येद्युः सोऽपरः शिष्यः प्राप्तो प्रामादिलोक्य ताम् ॥८॥

पादपीडां गुरुषृष्टवृत्तान्तः प्रज्वळन्कुधा ।
नाहं धनजिनं पादं तस्य संबिधनो द्विषः ॥ ९ ॥

इत्याकृष्य दितीयाङ्षि गुरोस्तस्य बमञ्ज सः ।

ततोऽत्र ताड्यमानोऽन्यैरि भग्नोभयाङ्ष्रिणा ॥ १० ॥

गुरुणा तेन कृपया दुःशिष्यः सोऽप्यमुच्यत ।
सर्वद्वेष्योपहास्यौ तौ शिष्यौ द्वौ ययतुस्ततः ।
गुरुश्व क्षमया श्लाच्यः स्वस्थः सोऽप्यमवत्क्रमात् ॥ ११ ॥

एवमन्योन्यविद्विष्टो मूर्खः परिजनः प्रभुः ।
स्वामिनोऽर्थं निहन्त्येव न चात्महितमश्चृते ॥ १२ ॥

इत्यन्योन्यविद्वेषिमूर्खाभिधं पश्चसप्तातितमं कुमुमम् ।

[७६]

विशेषज्ञात्यता पुंसां न जातु [५८अ] विफला भवेत्। तद्ञाने ध्रुवं स्थूलद्र्शिनां स्यात्पराभवः ॥ १ ॥ अल्पे।ऽपि हि गुणो जातु कस्यचिद्धितकृन्मनः । नान्तरज्ञेन हेयोसावापातबहुद्र्शिना ॥ २ ॥ तथा च द्विशिरःसर्पवृत्तान्तोऽयं निशम्यताम् । कस्याप्यहेर्द्वे शिरसी अभूतामप्रपुच्छयोः ॥ ३ ॥ पौच्छं शिरस्त्वभूदन्धं चक्षुष्मत्प्रकृतं पुनः । अहं मुख्यमद्दं मुख्यमित्यासीदाप्रहस्तयोः ॥ ४ ॥ स्परतु प्रकृतेनैव मुखेन विचचार सः । एकादास्य शिरः पौच्छं मार्गे कष्टमवापतत् ॥ ५ ॥

वेष्टियित्वा दृढं तच्च सर्पस्यास्मान्कणद्गतिम् ।
ततस्तद्बल्वनमेने स सर्पे तु शिरोजिय ।। ६ ।।
तेनैवान्धेन स ततः समुखेन अमन्निहः ।
अवटाग्नौ परिश्रष्टो मार्गादृष्टेरदृद्धत ।। ७ ।।
एवं गुणस्य येऽल्पस्य बहवो नान्तरं विदुः ।
तद्धीनगुणसङ्गेन मूर्खा यान्ति पराभवम् ।। ८ ।।
इत्यविश्रेषज्ञमूर्खाभिधं षद्सप्ततितमं कुसुमम् ।

[00]

अविधेयं करोत्यज्ञो न च जानाति गृहितुम् ।
तथा च श्रूयतामत्र मूर्खस्तण्डुलभक्षकः ॥ १ ॥
भागात्कश्चित्पुमान्मूर्खः प्रथमं श्वाशुरं गृहम् ।
स तत्र तण्डुलांश्च पाकार्थं स्थापितान्सितान् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा भक्षयितुं तेषां मुष्टिं प्राक्षिपदानने ।
तत्क्षणोपगतायां च श्वश्चां मूर्खः स तण्डुलान् ॥ ३ ॥
नाशकत्तानिगरितुं न चापं ... हिया ।
त गल्लन्त निरालापमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
तद्रोगशङ्कयाहूय पति श्वश्रूः समानयत् ।
सोऽप्यालोक्य निनायाशु वैद्यं वैद्योऽप्यपाटयत् ॥ ५ ॥
शोहशङ्की हनुं तस्य मूलस्याक्रम्य मस्तकम् ।
निर्ययुर्लोकहास्येन समं तस्माच्च तण्डुलाः ॥ ६ ॥
इति तण्डुलभक्षकमूर्खाभिधं समसप्तातितमं कुसुमम् ।

[20]

सद्योगः सविमर्शश्च घेयो मृत्यो मनीषिणा । उद्युक्तेन परं किंचित्कार्यं नैव प्रसिध्यति ॥ १ ॥

¹ Corrupt.

न बानुद्यमिना तर्ककारिणा केवछं तथा ।
तस्माद्विचार्य मितमान्भृत्यं कुर्याद्द्योज्वलम् ॥ २ ॥
दश्यतां स्वामिना भृत्यो जगदे भोस्त्वया प्रगे ।
प्रामे ५८व] गन्तन्यमस्तीतः शीन्नकार्यमुपस्थितम् ॥ ३ ॥
श्रुत्वेत्यपृष्ट्रैव विभु तत्कार्य प्रातरेव सः ।
गत्वा वृथेव तं प्रामं तत आयात्कृतश्रमः ॥ ४ ॥
प्रामं गत्वाहमायात इत्याह स्वामिनं च सः ।
गत्वेऽिप च कि सिद्धि ममेत्याह स्म तं प्रभुः ॥ ५ ॥
तदेति निरतिप्रायचेष्टितो लोकहास्यताम् ।
मृर्खोऽनुभवति क्वेशं कार्यस्यातिक्रमोऽिप च ॥ ६ ॥

इति केवलोद्यमिमूर्खाभिधं कुसुमम्।

[७९]

तथान्यः स्वामिना भृत्यो जगदे श्वस्त्वया प्रगे । अवश्यकार्यं पतितं गन्तव्यं शीव्रमेव तु ॥ १ ॥ संस्थाप्येव च तत्कार्यं परश्वस्तेऽथ नु पुनः । सायमाप्तव्यमत्रेति न वेलातिक्रमेदिति ॥ २ ॥ निशम्य कार्यं तत्तस्य विचार्यं च पुनः पुनः । अहो संकटमेतन्मे कार्यमच पुरःस्थितम् ॥ ३ ॥ उक्तं च स्वामिना शीव्रं परश्वः सायमेव हि । आगन्तव्यं कथं चैतित्सद्ध्येदैवं हि दुर्घटम् ॥ ४ ॥ एतावानेव मार्गोऽयं नात्रास्ति विमतिः परम् । वृष्ट्यातपौ निरुन्ध्यात्कः क्षेपोऽप्यत्र मवेन्मम् ॥ ५ ॥ मास्तां वै तत्कथं नाम मार्गे प्रवहतो मम् । चौरसत्त्वादिभिश्वापि ततः शङ्का कथं न हि ॥ ६ ॥ इत्यादि विमृशकोव दिनं तदम्यवाह्यत् । सायं स्वामिनमागत्य तदाचक्षौ स्वतिकृतम् ॥ ७ ॥

निशम्यासावहो कार्यं नाशितं मे कुबुद्धिना ।
इत्यामृषित्ररासैनं दण्डताडनपूर्वकम् ॥ ८ ॥
इति केवलतिर्कमूर्खाभिधमेकोनाशीतितमं कुसुमम् ।
[८०]

न साहसेन कर्तव्यं कार्यं जात्वपि घीधनैः। सहसा चेष्टमानो हि हन्यते लोकयोर्द्रयोः ॥ १ ॥ तथा च देवशर्माख्यो ब्राह्मणा नगरे काचित् । अभूतस्य च भार्याभूदेवदत्तेति विश्वता ॥ २ ॥ धृतगर्मा च सा तस्य कालेऽस्य सुषुवे सुतम् । दरिद्रोऽपि स तं मेने निधि छन्धमित्र द्विजः ॥ ३ ॥ सूतकान्ते च सा तस्य भार्या स्नातुमगान्नदीम् । देवशर्मापि तस्थौ स गृहे रक्षन्सुतं शिशुम् ॥ ४ ॥ तावद्वाद्वायिका तस्य राजान्तःपुरतो द्वतम् । चेटिका ब्राह्मणस्यागात्स्वास्तिवाचनजीविनः ॥ ५ ॥ ततः स दक्षिणालोभा (५९अ) त्रकुलं रक्षकं शिशोः । स्थापयित्वा ययौ गेहे चिरमाबाल्यसेवितम् ॥ ६ ॥ तस्मिन्गते ततोऽकस्मान्छिशोस्तस्यान्तिकागतम् । सर्पमालोक्य नकुल: स्वामिभक्त्या जघान सः ॥ ७॥ अथ तं देवरार्माणमागतं वीक्ष्य द्रतः। सपीन्नसिक्तो नकुछो इष्टोऽस्य निर्गात्पुरः ॥ ८॥ ः स देवशर्मा तद्भुपं तं दृष्ट्वैवाश्मनावधीत् । ध्रवं हि बालः पुत्रो मे हतोऽनेनेति संभ्रमम् ॥ ९॥ प्रविश्य चान्तर्रेष्ट्वा तं भुजगं नकुछाहतम्। जीवन्तं तं स्थितं वाछं बाह्मणोऽन्तरतप्यत ॥ १०॥ अविचार्योपकारी हि नकुलो कि मया हतः। इत्युपालभतायाता भार्थापि तदवेत्य तम् ॥ ११ ॥ इति साहसिकपूर्वाभिधमशीतितमं कुसुमम्।

[८१]

विचित्रविधिवैचित्रयं भरितेत्र भवा...ति । केचिच मूर्खशीर्षण्यशेखर्त्वमुपागताः ॥ १ ॥ कस्यचिद्विभवोद्धतिथयो यौवनशालिनः । राजदेशस्य जननी मृताभूच्छीलशालिनी ॥ २ ॥ स पारकौकिकं तस्या विधानं विभवोद्धतः । विधाय विधिवद्वादो यत्राभूदिधिना सह ॥ ३॥ औदार्यस्येति स्वस्थोऽभूत्कृतार्थः पितृतत्परः । अथोत्कितः पिता तं ... मार्गणैर्विदधंस्तथा ॥ ४ ॥ द्वेषोऽपि धर्ममाश्रिस्य लज्जयापि मनोऽभवत् । उद्वाहोऽस्य मदेष्यां व्यमानगर्वित चेतसः ॥ ५ ॥ अस्त्वेवं विभवोन्नद्धा भजन्ते वारयोषितः । एषापि समा तत्पक्ष इति मत्वा शक्यं जहाँ ॥ ६ ॥ रात्रिं दिनं दहंश्वापि मन्मातृपदमागता । एषेति धिङ्मां नो साह्यमेतन्मेऽत्र कथंचन ॥ ७ ॥ अन्यचास्या मृतायास्त् कथं पिंडादिसंस्क्रियाम् । विधास्ये मातृनाम्नाहं केवलं योषितः पितुः ॥ ८ ॥ इति चिंतातरः सोऽथ चिंतामग्नो दिने दिने । न लेमे निर्वृतिं रात्रौ दिवा वापि सुदुःखितः ।। ९ ॥ अथासावन्तरज्ञे: स्वै: पृष्ट एवान्तगः सुधी:। किमिदं ते वदाधिं स्वं चिकित्सामोऽन्यथा भरः ॥ १०॥ बलात्स्ववृत्तमाद्याय दुःखितश्च रुदनमुद्धः । कथं पिण्डं ददाम्येनां मातृनाम्नेति मे रुजा ॥ ११ ॥ वेश्यापदं त्वमप्येनां नय येन निवर्तते । प्रेतिपण्डादिशंका ते स्वस्थो भव गतज्वरः ॥ १२ ॥ [५९ब]इसाम्बासितचित्तोऽसौ कृतश्च मुदितस्तथा । विधाय श्लाध्यमात्मानं मत्वा चक्रे स्ववर्तनीम् ॥ १३ ॥

¹ Corrupt.

इत्यैश्वर्यलवं प्राप्य मदमोहितचेतसः ।

किं किं न कुर्वते येन पास्यते स्वः स्वकाश्वये ॥ १४ ॥

इति स्वस्वीयपातककारिमूर्खीनिरूपणं नाम कुसुममेकाशीतितमम् ।

अंगारी तिल्मार्ज नासिपिचुका आंध्यप्रदो लावणी गोदोह्याभरणी स्वमृत्युकलनो तोलप्रकी वाक्जडः । लोमी कोधरतस्तथान्यहितकृत्स्वन्नोऽथ हास्यप्रदोन । दोषज्ञः कलनाजडः स्वहितकृतुन्लिष्टकृदिश्रमी । हत्स्मोटीपरवाक्यमान्यसुद्दोथोवारिरोध्यर्थको । संतोषी त्वपूपमुङ् निगदितो यंत्रावनश्रक्रकः । तस्माचापि पणी ततोऽपि कृपणोतो विग्रही स्थूलहक् । तस्माचं दुल्मुक्ततोऽपि च परौ यौ केवलं चोद्यमी । तकी साहिसकः कलंकधृदिमे मूर्खा बुधैर्दिशिता । श्रत्वारिशदिहोदिता मयका प्रीत्ये विदां संस्कृताः । निष्णाताश्र पुरोदिताः सुमितिभिर्यत्प्रातियोग्याद्भवेद् । वस्तस्थव मनीषिता गितिरिहामुत्रापि याप्यापरा । ।

इति नीतिकल्पे मौर्ल्यनिरूपणाभिधो द्वितीयः प्रप्रकांडः ॥

[८२]

उक्तं पाण्डित्यं समर्ज्यं नो मौर्स्यमिति । तदुष्ठभयस्रक्षणं च साक्षादा-र्थिकं च सिनर्देशनं निगदितम् । तत्र कथमेतदुभयसमर्जनत्यागौ सिद्धयत इत्ये-दर्थमुत्तरारम्भः । सिद्धत्यादि । धुजनशुभशास्त्रार्थनिपुणैः सदा सङ्गो धार्य इति पांडित्यसमर्जननिमित्तम् । पाषांडप्रवणमितिभिवञ्चनपरैर्मूर्खैः सह सङ्गो न धार्य इति मौर्स्यत्यागनिमित्तम् । तत्र सुजनाः कामादिव्यसनानिभभूताः । एतत्प्रभवत्वात्सर्वदोषाणाम्, तथा च गीतम्:-

¹ Corrupt,

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा छोभस्तस्मादेतस्त्रयं त्यजेत् ॥ १ ॥ इति

एतस्रभवांश्चानर्थान्भगुराहः---

दशकामसमुत्थानि तथाष्टी क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरंतानि[६० अ]प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ २ ॥

कामः सुखेच्छा ।

कामजेषु प्रसक्तो हिं न्यसनेषु महीपतिः । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनेव हि ॥ ३ ॥ मृगयाक्षा दिवास्वप्तः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्याश्च कामजो दशको गणः ॥ ४ ॥

अक्षाः पासकादिक्रीडा सकलकार्यविधातिनी । पैज्ञुन्यं साहसं द्रोह इर्षासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः ।। ५ ॥

अर्थदूषणमर्थपारुष्यम् ।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेछोमं तज्जावेतावुमौ गणौ ।! ६ ।। पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याचतुष्कं कामजो गणे ॥ ७ ।। दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारूप्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यादेतत्कष्टं त्रिकं सदा ॥ ८ ॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषांगणः । वृत्वं पृत्वं गुरुतरं विद्याद्वयसनमात्मवान् ॥ ९ ॥

सप्तको वर्गः पानादि वर्गः तल पूर्वः पूर्वो गुरुतरो । पानं मद्यपानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्ययेष्टचेष्टया देहधनादि निरोधः । द्यूते तु पाक्षिकी श्रनाप्तिरप्यस्ति । एवमुत्तरेष्वापे स्वयमृह्यम् ।

> व्यसनस्य च मृत्योश्च कष्टं व्यसनमुच्यते । व्यसन्यघोषो वजति स्वर्यास्यव्यसनी मृतः ॥ १० ॥ इति

न केवलं व्यसनत्याग एव सुजनत्वसंपादको यावद्धर्माविद्धर्मसेवनं तत्त्वापादकं सन्ति च कोचिद्यथा जाता एव पञ्चधर्माणो न हि ते सुजनेषु प्रविशन्तीति। उभयमृष्टा ह्यमी। तथा च मनुः—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमभिद्धिजै:।

दश्च छक्षणको धर्मः सेव्यतन्यः प्रयत्नतः ॥ ११ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचिमिन्द्रियसंयमः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोघो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १२ ॥

इति सुजनतानिरूपणाभिषं कुसुमम्।

[٤٤]

सौजन्यसंपत्तिनिमित्तं च शुभशास्त्राणि यान्यास्तिक्यप्रवर्धकानि इति शुभशास्त्रेत्यवतारितं तानि च यानि धर्मनिरूपणैकतत्पराणि । (६०व) तान्युद्दिस्यति स्म याज्ञवल्क्यः !

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ १॥ इति अत्र मीमांसा वाक्यविचाररूपत्वात्पूर्वोत्तरभेदभिनाया उभय्या अपि प्रहणम्।

तेन विद्यान्तविद्ययोऽपि न पृथायत्निष्णाद्यत्वभिति ध्येयम् । तथा च ब्राह्ये ---

एवं चतुर्दशैतानि धर्मस्थानानि सुवत ।

वेदान्तः पञ्चदशमं विद्या षोडशिका भवेत् ।। इति

पृथिङ्निर्देशेऽपि न संख्याधिक्यमिति । तत्र वेदान्तः शारिकम्, विद्या बृहदारण्यकादि रहस्यम् । इत्थं च

> एतेम्योऽपि यदन्यत्स्यात्किचिद्धमीभिधायकम् । तद्दरतरतो विद्धि मोहस्तस्याश्रयो मतः ॥ २ ॥ इति

एतेभ्यः पुराणादिभ्या यदन्यत्तरपौरुषेयत्वाद्धेयमिति स्थिते शैवपांचरात्र-पाञ्चपतादीनामतिष्रमाणत्वावदूषणमेव स्वीकारिनिमित्तमिति समाधेयम् । तथा च.— सांद्ध्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।

अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विचाल्येत् ॥ ३ ॥

तथाः- द्वतेन त्रपुणापूर्णवक्त्रास्तिष्ठन्ति दुःखिताः। देष्टारः शिवशास्त्राणां ये च वेदविदूषकाः॥ ४ ॥

इति कृतं बहुना ।

शुभशास्त्राणां चामीषामवश्यमर्थज्ञानवता भाव्यम् । अन्यथा एतद्रतेर-किंचित्करत्वादित्याशयो नार्थनिपुणैरित्युक्तम् । तथा च भगवान्व्यासः ।

न वेदपाठमात्रेण संतोषं कारयेदिइजः।

पाठमात्रावसानो हि पंके गौरिव सीदति ॥ ५ ॥ इति

तथा यथा पशुभीरवाही न तस्य भजते फल्रम्।

द्विजस्तथार्थानभिज्ञो न वेदफल्रमश्नुते ॥ ६ ॥ इति

तथा अधीस यत्किचदपि वेदार्थाधिगमे रतः।

स्वर्गलोकमवाप्रोति धर्मानुष्ठानविद्धि सः ॥ ७ ॥ इति

अमीषां च शुभशास्त्राणामुदेशमात्रेण स्वरूपं 'भारतीनूपुरझांकारे' यथा ।

नियतपदाऋक्सामानियतं छंदोवन्तं यज्जश्चेतत् । त्रितयं सुक्रममक्रममयो चतुर्थं च यद्रक्ष ॥ ८ ॥

सुक्रम[६१ अ]मिति शोभनक्रमं प्रवृत्तिमार्गेण चतुर्वगसाधनमित्यर्थः। अथो इति पूर्वन्यतिरिक्तलक्षणसूचनार्थम्। चतुर्थं ब्रह्माथर्वास्यमक्रमं न्यभिक्षारादि कर्मोपदेशसाधनात्वानिवृत्तिमार्गप्रधानत्वाच । तत्त्वादेव च । अस्य ब्रह्मेति ब्रह्मोपदेशकत्वं प्राधान्येनेति ध्येयम्। तथा शिक्षादीनां च तत्रैव लक्षणम्।

शिक्षाक्षरजनिबोद्धी, कल्पो यागिक्रयोपदेशकरः । शब्दान्वाख्यानपरं व्याकरणमयो निरुक्ताख्यम् ॥ व्युत्पत्तिसाधनमयो ज्योतिषमुदितादिसिद्धिकुच्छंदः । देवस्वरूपमन्त्रावरणमिमान्याहुरङ्गानि ॥ ९ ॥

सर्गादिरुक्षणं खद्ध पुराणेषूक्तं तदनुषक्ता इतिहासाः प्राग्वताकरुनाश्च तिबृंह्कं द्वितयम् । इति मीमांसान्यायधर्मविद्यानां रुक्षणानि सर्वतः प्रकाशान्ये-वेति नेहापस्तमिति ।

्रहति सच्छास्रोदेशाभिधं कुसुमं **च्याश्चीतितमम्** ।

¹ Corrupt.

[82]

न भूतेंरिति । :— धूतैः सह सङ्गो न कदापि धार्यः । तत्सङ्गस्येहामुत्रापि सर्वथानर्थदायित्वात् । तद्विहितशास्त्राणामसच्छास्त्रत्वात् । ते च चार्वाकबौद्धकापाल्टिकादिभेदेनानेकविधाः । तच्छ्वणस्याप्यद्यावहत्वाद्विनेयबोधार्थं किंचिनमत्रे तन्मतं प्रदर्शते । तथा च भारतिनूपुरझांकारे किंचिन्मात्रेण
प्रदर्शितम् । तत्रादौ चार्वाकमतम् ः—

भूतचतुष्कं तत्त्वान्यथ मानं चैकमध्यक्षम् । मदशक्ति यत्परस्परयोगे चैतन्यमात्मनो भवति ॥ १ ॥ परलेककथा व्यर्था नो दृष्टा दग्धतरूफलोत्पत्तिः । मरणं मुक्तिर्जागृतत्यक्तभयाश्चेति चार्वाकाः ॥ २ ॥

अव जैनमतम्। —

दोषाष्टादशरहितो जिनदेवस्तस्वदर्शको येषाम् ।
तन्मतमिधास्येह् य आईताः क्षपणकाश्चोक्ताः ॥ ३ ॥
वादोपवर्गमार्गश्चारित्रं ज्ञानदक्ष्यमाणे हे ।
स्पष्टास्पष्टतया खळु जगद्दिधा सप्ततस्वानि ॥ ४ ॥
जीवाजीवास्त्रवसंस्रवनिर्जरबंधमोक्षनामानि— ।
द्वावाधौ सं[६१व]क्षेपाद्व्यासः पंचास्तिकायाद्याः ॥ ५ ॥
बन्धोऽष्टविधो हेधा तन्मुक्तिमुक्तिरुच्यते नित्या ।
अन्तर्भावाद्धमाद्ययोर्न युक्तं च नवधात्वम् ॥ ६ ॥
त्रय एते छुंचितमूर्धजाश्च मैक्षाशिनः क्षमाशिष्टाः ।
अथवा शयपत्रास्ते प्रोक्ता जिनसाधवो नाम ॥ ७ ॥
सह योषयाशनमियं नो मुक्तिं चरति केवळा जातु ।
महदुपपदशुक्वांवरमिश्चूणां भिन्नता सेषा ॥ ८ ॥
दीप इवात्मा मान्योऽस्मिनगृहमध्ये नवद्वारे ।
आत्मा मळस्वभावो व्यर्था शुद्धिर्वरं सुखाचरणम् ॥ ९ ॥

¹ Corrupt.

अथ बौद्धमतम्।

सुगते। देवो विश्वं तत्त्वचतुष्कं क्षणक्षयीदमपि । वैनाशिकमतमेतद्भिनं सौलान्तिकादिभेदेन ॥ १० ॥ पारोक्ष्यापारोक्ष्याद्वाह्यार्थे भिन्नतोभयोर्बाह्यम् । नास्तीत्याकारगतान्ययोस्त्वसौ यदन्यदविशिष्टम् ॥ ११ ॥ अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते। सौत्रान्तिकेन प्रतिभाप्राद्योऽर्थो न बहिर्गतः ॥ १२ ॥ इति दुःखमथाप्यायतनं समुदयमार्गो चतुष्कमथीनाम्। दुःखं पञ्चस्कन्धा आयतनं द्वादशोंद्रियादिनि ॥ १३ ॥ बाह्यान्तरताप्येषां क्षणिकत्वात्कलपनासारा । निर्विषयाधीधारा गलिताखिलवासना मोक्षः ॥ १८ ॥ भावाक्षविणरमेद्धा निरात्मका बहिरिवामान्ति । कृत्तिकमंडलुचीरं मौंजी पूर्वाह्मभोजनं संगः। रक्तांशुक ते....तीयं वर्षेषां दे प्रमाणे च ॥ १५ ॥ मृष्टं गृहं च भावानुसारिणी वाणिजी सुगतिः। क्षक्षिकाभावानात्मास्थायीर्षायन्मलं ैनाम ॥ १६ ॥ इति चर्यया विचरतां जात्वस्यां संततौ कश्चित्। ज्ञानक्षणः समुच्छित्रवासनो मुक्तये भवति ॥ १७ ॥ मुद्राकंकणकटकादीनां भेदे मिथः सुवर्णस्य। न भिदास्ति तथा भिन्नं जगन्मिथोऽस्माद्भिन्नं च॥१८॥

अथ कापालिकमतम् ।

पितृवनवासो माला नरास्थिभिः पारणा सुरामांसै: ।
पात्रं कपालमध्यों नरबिलना भैरवो देवः ॥ १९ ॥
दृष्टं विना तिद्वषयैः कापि सुखं नोचिता शिलावस्था ।
सोमः कथयांचके चर्या मगवान्सु[६२ अ]भक्तेम्यः॥२०॥ इति
अतिगहनं चेदमाधुनिकबुद्धिदुरवगाहमिति विरम्यते । एतःचर्चा च कृष्ण-

मिश्रेः संक्षेपेण निबद्धा । यथाः —

¹ Corrupt.

वेश्यावेश्मसु शीधुगंधळळनावक्कासवामोदिनैनीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुनिदचन्द्राः क्षणाः ।
सर्वज्ञा इति तापसा इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति दीक्षिता इति दिवा धूतैर्जगद्दञ्च्यते ॥ २१ ॥
नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनं
तत्त्वं ज्ञानमहो न शारिकिगरां वाचस्पतेः का कथा ।
सूक्तं नापि महोदधेरिधगतं माहावती नेक्षिता
सूक्ष्मा वस्तु विचारणा नृपशुभिः सुस्थैः कथं स्थीयते ॥२२॥इति
प्रस्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः ।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ॥ २३ ॥
स्वर्गः कर्तृिक्रयाद्वयविनाशे यदि यञ्चनाम् ।
तदा दावाग्निदग्धानां फलं स्याद्भूरिभूरुद्दाम् ॥ २४ ॥
मृतानां यदि जन्तुनां श्राद्धं स्थात्तृतिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेद्दः संवर्भयेचिन्छखाम् ॥ २५ ॥

इत्यतं श्रवणमात्रेणाप्यनिष्टदायिनानेन वादजालेन । इत्थं दूरपरिद्वार्यतया दुष्टभूर्तमतप्रदर्शितमिति । प्रमाणसिद्धेषु शैवादिषु शैवादीनां प्रसिद्धत्वादिदानीं बाशुपतं पश्चरात्रमतं च प्रदर्शते ।

> कार्यं करणयोगौ विधिदुःस्वान्तौ पंचतत्त्वानि । पशुपाशविमोक्षार्थं पशुपतिनोक्तानि तेनेशाः ॥ २६ ॥

तत्र विधिरन्तःकरणशोधनार्थं, योग ईश्वरसमाधिस्तःप्रतीस्यर्थम् । 'समाधि-नैव मुक्तिर्दुःखान्त इति कथ्यते ' । सांख्यासु प्रकृतिपुरुषान्यज्ञाता ज्ञानं मुक्ति-रिखाङ्गरिति । मुक्तावेव ततोऽमीषां भेदोऽन्यत्समानम् ।

भागवता मन्यन्ते 'भगवानेकोऽस्ति वासुदेवाख्यः स चतुर्धा स्वयं न्यूहो-त्पनः संकर्षणादि भेदेन '।

> इत्यंभूततमिममिगमनादानयोगाधैः । इष्ट्राक्षीणक्रे[६२व]शाः प्रतिपद्यंते तमीशानम् ॥ इति

'पाषंडिनो विकर्मस्थान्बैडाळव्रतिकोन्छठान् । हेतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् '।। २६ ॥ तत्र वेदवाद्यागमोक्तकारी पांपडी, आश्रम व्यक्तिरिक्तो वा, युक्तिबळेन श्रुतिसमृत्युक्तधर्मदूषियता हैतुकः । 'न वार्यपि प्रयच्छेतु बैडाछत्रतिके द्विजे । तथा न बकत्रतिके विष्रे नावेदविदि वेदवित् ॥ २७ ॥ धर्मध्वजी सदालुब्धश्छामिको लोकदांभिकः । तथा वैडाल्वतिको ज्ञेयो हिंसः सर्वामिसन्धकः ॥ २८॥ यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः । प्रच्छनानि च पापानि बैडालं नाम तद्वतम् ॥ २९ ॥ अघोद्दष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च बकवृत्तिरुदाहृतः ॥ ३०॥ ये बकत्रतिनो विप्रा ये च मार्जारिङ्किनः । ते पतन्त्यन्घतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ ३१॥ अलिङ्गी लिङ्गवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति । स किङ्किनां हरत्येनिसर्यग्योनौ च जायते '।। ३२ ॥ इति धूर्तवर्जनाभिधं कुसुमम् चतुराशीतितमम्।

[८५]

अथ च सुजनशुभशासार्थनिरतैरित्युक्तं तत्र यद्र्थमुक्तळक्षणशुभशासार्थने सेवा येन च तत्सेविनां सुजनत्वम् । तत्पर्यन्तकाष्टाप्यात्मशास्त्रं सर्वमूर्धनि यद्दर्तते तदिदानीं सनत्सुजातायादि मुखेन किंचिन्निदर्श्यते। तत्र घृतराष्ट्रवाक्यम् 'सनत्सुजात यदिदं शृणोमि न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम् । देवासुरा ह्याचरन्त्रद्यचर्यममृत्यवे तत्कतरन्तुसत्यम् '॥ १॥ तव प्रवादः शिष्यानप्रति त्वयोपदिष्टमिति विदुराच्छ्रतम् । देवासुराश्च मृत्युजयार्थं ब्रह्मचर्यं, गुरौ वासादिकमाचरन् कृतवन्त इत्यसतो निवर्तनासंभवान्यस्यरस्तीति ळक्ष्यतेऽतः संदेहः ।

[६३ अ]सनत्सुजातः। — 'अप्रच्छः कर्मणा यन्मां मृत्युनिस्तिति चापरम् । शृणु मे ब्रुवतो राजन्यथैतन्मा विशिक्क्षयाः'॥ २ ॥ कर्मणा ब्रह्मचर्यादिना मृत्युनिस्तीति मृत्युसंभावमपरं नात्स्येव मृत्युरिति। 'उमे सत्ये क्षत्रिय तस्य विद्धि मोहान्मृत्युः संमतो यत्कवीनाम् । प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि '॥ ३ ॥

यत् यस्मात्कवीनां मोहान्मिथ्याज्ञानानमृत्युः संमतस्तस्मादुभे सत्ये, मोह-सत्वे मृत्युरस्ति तन्निवृत्तौ नास्तीति फिलेतमाह। प्रमादमिति। प्रमादः स्वाभावि-कस्वरूपविस्मृतिः, अप्रमादः स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थानमिति।

'प्रमादाद्वा असुराः पराभवन्तप्रमादाद्वह्यभूताः सुराश्च । नैवं मृत्योर्न्याघादिनोद्विजन्ति नाप्यस्य रूपसुपरुम्यते हि '॥॥ ये प्रमादिनोऽसुरास्ते, ये पुनरप्रमादिनस्ते सुरा इति । एवमिल्यप्रमादे । प्रमादे पुनः

'यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मावासममृतं ब्रह्मचर्यम् । पितृष्ठोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम्'॥५॥ आत्मावासं शारीरिणम् । चरणमाचरणं चरस्तमईतिति चर्यः । अमृतं ब्रह्मचर्यम् तदाचरणार्दः अस्मदादिवत्तदुपासनपर इत्यर्थः । असमञ्चः समास-आर्थः ।

ततश्च 'कामाजुसारी पुरुषः कामानजुविनश्यति । कामान्ध्युदस्य धुनुते यक्किंचित्पुरुषो रजः '॥ ६ ॥ भयं च कामः—'तमोऽप्रकाशो म्तानां नरकोऽयं प्रदश्यते ।

> गृह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः स्वभवत्सुखम्' । ७ ॥ मेनाकार्यकरणादसौ कामस्तमो भत्वा नरकक्रपण परिणामने

कामेनाकार्यकरणादसौ कामस्तमो भूत्वा नरकरूपेण परिणमते । तन्न गृह्यन्तोऽन्येन बङाद्गृहीता इव सुखार्थ धावन्तीति । एतदेवं संगृह्णाति ।

' अविद्या वै प्रथमं हन्ति छोकान्कामकोघाववगृह्यासु पश्चात् । एते बळानमृत्यवे प्राप्तुवन्ति घीरास्तु धैर्येण चरन्ति [६३व]तस्वम् १६८॥

चरन्त्थाचरन्ति तत्त्वमात्मज्ञानम् ।

' अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्यनाधीयते बारू इवारमन्याघ्रम् । क्रोधाञ्चोभान्मोहभयान्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वन्छरीरे य एषः '॥ ९॥

अमन्यमान आत्मनोडन्यितिचिद्जानन् असावन्यितिचिद्विषयजातं नार्धाः मीत न प्राप्तुयात् । अत्र व्यतिरेकदृष्टान्तः । यथा बास्रोऽश्मव्यात्रं व्याव्यवेत् जानाति प्रमादे सत्यमृत्यु ... ष्टमान प्रवास्तु इत्याह् । क्रोधिति मृत्युस्त्वच्छरीरे य एष इति प्रमादेन मृत्युस्त्वमुपपादितम् । तत्र कोऽसौ प्रमाद इति प्रमाद्-स्वरूपं 'भारतीनूपुरझांकारे 'स्फुटमुक्तम् । यथा

> ' वस्तुन्यवस्तुकल्छनाज्ञानं शक्तिद्वयेन तत्सकल्म् । आभास इति निरासे तस्याद्वैतं परं ब्रह्म ॥ १०॥

अत्रार्थः ।— यथा व्यावहारिकवस्तुत्वेनाभिमते रज्जो भ्रमेण अवस्तु भूतसर्पकळना तथा सिचदानंदात्मकब्रह्मवस्तुनि अवस्तु भूतसकळजडं पदार्थकळनाज्ञानमित्युच्यते । कथ्मिदं तथात्वेनोळ्ळसतीत्माह शक्ताति । अस्याज्ञानस्य तथा भासनायामावरणविक्षेपाच्ये शक्ति द्वे स्तो याभ्यामर्थोळासयतीति । तत्र यथा रज्जुस्त्रुपस्य विद्या तदावरणकर्तीत्वादावरणशक्तिस्तत्र सर्पाकारमासेन परिणममान्यः
सर्पाकारिववर्तेन विक्षिपति । तथाभासे मरणपर्यन्तदुःखदानेन व्याकुळयतीति
विक्षेपशक्तिः तथा सिचदानंदस्वरूपस्य तदावरणकर्त्रीत्वादावरणशक्तिब्रह्मादिस्थावरान्तनामरूपात्मकजगदाकाराभासेन परिणममाना जगदाकारिववर्तेन विक्षिपति, तत्स्युद्वानेकविधदुःखदानेन व्याकुळयतीति शक्तिद्वयोपेतमज्ञानमञ्जानं
सकळमाभासयतीति कथनस्याशयः । रज्जुस्वरूपावरणेन सर्पाकारिववर्तेनं कथ्या रज्जुस्वरूपे न काचन हानिर्देष्टा [६४अ] बुद्धेरेवावरणिनक्षेपसमापातिस्वर्तेन विक्षास्वरूपावरणेन जगदाकारिववर्तनं न ब्रह्मणो वस्तुनः स्वरूपे हानिः प्रमाबुत्रुके
रेवावरणविक्षेपसमापात्तिरिति । तथा चाचार्याः—

' घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमकै यथा मन्यते निष्प्रमं चातिमूदः । तथा बद्धवद्गाति यो मूदबुद्धेः स नित्योपङ्गिस्वरूपोऽहमात्मा॥१ १॥ इति

¹ Corrupt.

इत्यमध्यारोपेणाद्वैतं समर्थ्यापवादेन तिन्त्रसप्रकारमाह । तस्येति । यथाप्तोपदेशेन स्वयम्हितेन वा नायं सर्पः किन्तु रज्जुरिति विशेषदर्शन-कालेऽधिष्ठानरज्जुसाक्षात्कारेण रज्जुज्ञाननिवृत्तौ सर्पभ्रान्तिनिवृत्तिपूर्वे तज्ज-नितं दुःखादिकं निवर्तते । तथाप्तोपदेशेन स्वयम्हितेन वा विशेषदर्शनकालेनेदं भानं सकलं स्वात्मना किं च न ब्रह्मैवेदं सर्वमिति साक्षात्कारेण तदज्ञाननिवृत्तौ जगद्भान्तिनिवृत्तिपूर्वे तज्जानितदुःखादिकं निवर्तते इति । तथाचार्याः—

' ब्रह्मण्यवस्थिता मायाविक्षेपावृत्तिरूपिका । आवृत्याखंडतां तस्मिञ्जगजीवो प्रकल्पयेत्'॥ १२ ॥ इति । जीवगतश्च विशेषस्तैरेव विवृतो यथा ।—

> 'अवन्छिन्नश्चिदामासस्तृतीयः स्त्रप्तकलिपतः । विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः '॥ १३ ॥

अविष्ठिनो घटाकाशादिवत्प्राणादिसंघाताविष्ठिनः प्रत्यगात्मेत्येकः । उदक इव सूर्यदिर्वुद्धयाद्युपाधौ चित्प्रतिविम्बोपाधिधर्मास्कंदितो द्वितीयः । देवोऽद्दं मनुष्योऽहमित्येवं स्वप्त इव स्थूब्संघाताभेदेन कल्पितो जीवस्तृतीयः । तत्राचोऽनिष्ठिनः पारमार्थिकमुक्तियोग्य इत्यर्थः । कथमविष्ठिकस्य पारमार्थि-कतेस्यत्रापि तैरेव समर्थितम् । —

' अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेषं तु वास्तवम् । तस्मिक्षीवत्वमारोपात्त्रहात्वं तु स्वभावतः' ॥ १४ ॥

कल्पित इति निरवयवस्यावच्छेदायोगादुपाधिपरिच्छेदेनैव तत्परिच्छेद इति भावः । वास्तवमिति त्ववच्छेदस्य । कल्पितत्वेऽपि तदवच्छेदं वास्तवं चरणावरणसमारोपे चरणवेष्टनस्यावास्तवत्वेऽपि चरणत्वेन वेष्टयमानं वास्तव-मेवेति । [६४ व] तस्मादिदमत्र सिद्धमित्याद्वः ।

> अविच्छित्रस्य जीवस्य तादात्म्यं ब्रह्मणा सह । तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ॥ १५ ॥

इतरजीवयोश्चिदाभासस्वमकल्पितयोः सृष्टिप्रस्यजागरस्वमञ्यवस्था पुनर्त्रे-त्यमिति च तैरुक्तमिति निशम्यताम् । ' चिदामासे स्थिता निद्रा निक्षेपावृत्तिरूपिणा । आवृत्य जीवजगती पूर्व नूत्नेन कल्पयेत् ' ॥१६॥

पूर्व सुषुतिप्रलययोः प्रविकल्प्य स्वात्मसात्कृत्वा पुनः प्रबोधसृष्ट्येर्नूतन-रूपेण कल्पयेत् । पुनर्जीवजगद्वयवहारं प्रवर्तयेत् । अत एवानयोः प्रातिभा-सिकत्वमित्याहुः ।

> ' प्रतीतकाल एवेते स्थितत्वात्प्रातिभासिके । न हि स्वप्तप्रबुद्धस्य पुनः स्वाप्तस्थितिस्तयोः ॥१७॥ तस्मात्प्रातिभासिकजीवस्तु जगत्तत्प्रातिभासिकम् । वास्तवं मन्यते यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः ' ॥ १८॥

स प्रातिभासिकजीवो यस्तत्स्वप्तकल्पितं जगत् देहोऽहं मनुष्योऽहमित्या-दिलक्षणम् ।

> ' वास्तवं मन्यते यः पुनिरदं जगन्मिध्येति मन्यते । स्वप्नमतस्य जाग्रद्वयवहाराभावात् '॥ १९॥

असी न्यावहारिकजीवः परलोकादिन्यवहारासमर्थकत्वात् । तथा च न्यावहारिकजीवलक्षणम् । भोक्तेत्यादिन्यवहारोचितः परलोकगामीचेति । तथा च 'भारतीनूपुरझांकारेः'—

' कर्तृत्वाद्याभिमानादिह परगामी च धीगता छाया । जीवो व्यवहर्तासौ न भिद्यते जातुचित्तरमात्'॥ २० ॥ इति

न भिद्यते जातुचित्तस्मादित्युक्तिस्तु पारमार्थिकजीवेनास्य व्यावहारिक-जीवस्यैकसमारापेण सामान्यतयेति समावेयम् । ततश्च

> ' व्यावहारिकजीवस्तु जगद्वयावहारिकम् । सत्यं प्रत्येति मिध्येति मन्यते पारमार्थिकः ' ॥ २१ ॥

सत्यं काळत्रयाबाध्यम् । य इत्थं मन्यते स व्यावहारिकजीव इति योजना । यस्तु मिध्येति मन्यतेऽसौ पारमार्थिकः इत्थं च

[६५अ] ' पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैकं पारमार्थिकम् । प्रत्येति वीक्ष्यते नान्यद्विक्षते त्वनृतात्मना ' ।। २२ ॥

¹ Corrupt.

न वीक्षत एव यदि कदाचिद्युक्त्या दशा...... वीक्षतेऽपि वा तद-नृतात्मना वीक्षते इति । अयमत्र संक्षेपः

' आद्यः संघातदर्श्युक्तो द्वितीयः करणात्मकः ।

ब्रह्मैकदर्शी गदितस्तृतीयः पारमार्थिकः ' ॥ २३ ॥ इति

तत्राद्ययोरिवद्याकल्पितत्वेन जडत्वेऽपि जीवत्वसाधकैश्च तस्पयो—गो—

दृष्टान्तद्वाराचार्यैर्दर्शितो यथा।—

' माधुर्यद्रव्यशैत्यादि जीवधर्मा तरक्क । अनुगम्यापि तित्रिष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा ॥ २८ ॥ साक्षिस्थाः सिचदानंदाः संबद्धा व्यावहारिके । तद्वारेणानुगष्छन्ति तथैव प्रातिभासिके '॥ २५ ॥ इति

इत्यनुकोमऋमेण यथा सिचदानंदानां यथावतरणं तथा प्रतिकोमऋमेणारो-हणमपि येन मोक्षठाभ इति रियतम् । तथा च

> ' प्रातिभासिकजीवस्य छये स्युर्व्यावहारिके । तस्त्रये सिचदानंदाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि '।। २६ ।। इति

इति पार गार्थेक्ट्रांडित्यकथनाभिघाने तृतीयप्रकांडे सच्छासार्थ-वर्णनाभिघो जीवनसीक्यवर्णनाभिधम पंचाक्रीतितमो गुच्छकः।

[६६]

इस्यं पारमार्थिकपाण्डित्यं कृतिनिर्णयं पारमार्थिकमौद्ध्यंस्यावसरप्राप्तौ सस्या-मध्यसः छास्त्रपारतयेव तळ्ळाणं गतप्रायं सञ्जुपादेयत्वेन च पुनर्निदर्शनान् हे तत्, तस्माद्यात्वित्तिः सम्छास्त्रार्थव्यतिरिक्तविहित्तविपरीतप्रतिषिद्धसेवनळ्ळाणं विहिता-सेवनळक्षणं वा । तत्र दुष्टयोनिनरकपश्चस्थावरादियोनिप्रापकं तस्सर्वे पारमार्थिकमौद्ध्यमिति स्थितम् । अतिगारवार्तिकचिद्वितन्यते दिङ्गात्रेण, चोप-हसिता एव त इति किचिनमात्रेण निदर्श्यते ।

h spiewer

¹ Corrupt.

' उज्झित्वात्मसमाधानं घ्यायन्त्यन्यान्यदेवताः । भिक्षन्ते भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वाऽपि बुमुक्षिताः ॥ १ ॥ योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रति [६५ ब] पद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ' ॥ २ ॥

इति कृतं बहुना।

इयत्पुनरत्र शिष्टं वर्तते । साक्षात्कृतस्वस्य तत्त्वसाक्षात्कारो वा गति-प्रदो मरणवेळा वेति । तत्र तावदुत्तानबुद्धयः केचित्

> ' यं यं वापि स्मरन्भावं स्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तैय तदा तद्भावभावितः ' ॥ ६ ॥

इति स्मृतिप्रामाण्यात्पर्यंतिक्येव वेळा गतिकारणमिति। न चाप्यसौ नियमः साक्षात्कृततत्त्वस्यासौ वेळाऽवश्यं स्मृतिदायिनीति महात्मनामपि तद्वेळायामिति-गहनत्वात् । अत्रामियुक्तः साक्षात्कार एव गतिकारणमिति । तथा च कृतना-शाकृताभ्यागमप्रसंगो निरवकाशो भवति । पतंजिलना चेदमेव निवदस्य ।

> ' करणगणसंप्रमोषः स्मृतिनाशः श्वासकिक्वताच्छेदः । समर्मरुजाविशेषाः शरीरसंस्कारजो भोगः ॥ ॥ स कथं विप्रह्योगे सित न भन्नेत्तेन मोह्योगेऽपि । मरणावसरे योगी न च्यवते स्वात्मपरमार्थात् '॥ ५ ॥ इति ॥

न चास्य तीर्थपरिष्रहादि नियमोऽपि कश्चित् अधिगतस्य स्वात्मपरमार्थस्य सर्वतीर्थतीर्थस्यत् ।

तथा च 'स एव तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरिप परित्यजन्देहम् । ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः '॥ ६ ॥ इति

वसिष्ठोऽपि तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गुहेऽथवा । ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥ ७॥ इति

तीर्थादि नियमः पार्यन्तिकवेळारमरणादिकं चाज्ञाततस्वानामुपकारकं ज्ञान-तस्वानां पुनस्तस्वसाक्षात्कार एव फळवानिति । तथा च पतंजिळरेवः—

> ' पुण्याय तीर्थसेना, निरयाय श्वपचसदनत्तिधनगतिः । पुण्यापुण्यकल्ड्कस्पर्शीभावे तु किं तेन '॥ ८॥ इति

न च यं यं वापीति स्मृतिचिरोधः । तत्राप्येतदाशयात् । तथा च यं यं भावं स्वास्थ्यवेद्यामसौ स्मरनासीत् तस्यां पुनरसौ तं तं भावं स्मरन्वापि [६६अ] शरीरसंस्कारादस्मरन्तं तभेवेति न पुनस्तात्कालिकमेवेत्यनेन सूचितम् । अतश्च 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मरेति' निगदितम् । यथा तस्यामपि वेलायां स एव भावितो भावः स्मृतिं यातीति सिद्धं तीर्थादिसेवा, सत्कालवेलासम्प्राति-स्तात्कालिकस्मरणादिकं वा ज्ञाततस्वानां पुण्यवर्धकानीति । तथा ज्ञासतस्वसाक्षान्काराणां सर्वधर्माधर्मकलना यथा स्थितैव न कथंचनापि धर्ममधर्मे वा स्वफल्मस्त्रात्वाराणां विश्वर्गं जायत इति । अत्र बहुश्रुताक्दुश्रुतिविशेषोऽर्किचित्करः । न खलु बहुश्रुतस्य पापं न स्पृश्वतीति, अबहुश्रुतस्य वा स्पृश्वतीति विचारो विमर्दसहः । तथा च धृतराष्ट्र—विद्वर—सनत्सुजातप्रश्नोत्तरिकाख्यायिका । तत्र धृतराष्ट्रः । —

'ऋचो यज्र्य्यवर्वेदं सामवेदं च वेद यः । पापानि कुर्वन्पापेन लिप्यते किं न लिप्यते '॥ ९॥

सनत्युजातः। —

' नैव सामऋचो वापि न यस्षि विचक्षणम् । त्रायन्ते कर्मणः पापान ते मिथ्या त्रवीम्यहम् ॥ १०॥ आधाय स्वधियं धीमान्कुर्याकार्यविनिर्णयम् । अधस्येवान्धळत्रस्य विनिपातः पदे पदे '॥ इति ॥ इति प्रासंगिककथनामिधं षडशातितमं कुसुमम् ।

[05]

इति प्रासंगिकं परिसमाप्य प्रकृतं निगद्यते। एकमित्यादि। अत्रार्थः।— यो धीमान्कळनाभिज्ञः वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणकळनाचतुर एकादिदशान्तं तत्त-त्परिष्ठेपवस्त् नि ज्ञात्वैकादिसप्तकान्तं वा परिष्ठेपवस्तू नि ज्ञात्वा हेयोपादेय-कळनाय वथास्थानं युक्ज्यात्। अस्य धीसाधनस्य स्वबुद्धयुपकारणस्य प्रत्य परळोके इह चेहळोके वा न नरकशास्त्रवादिभवं ईषत् श्रेशमात्रेणापि जायते। मूश्च ज्ञयगता हस्तप्राप्तास्य भवेत्। निःसपत्नमखण्डं भूराष्यं कृत्वा सुगति-मामोतीस्पर्यः। तथा चैकादि[६६व]क्रमेणोदाहरणमेवास्य व्याख्यानम् ।
एकं द्वौ त्रीनप्यत्र चतुरः पंचषद्सप्तम्मूलं
चाष्टौ सम्यग्धीमाभवद्श तथैकादितः सप्त यावत् ।
ज्ञात्वा युंज्याद्य इहकालनाभिज्ञ ईषन्नचास्य
त्रासः प्रेत्येह च श्यगता भूश्य धीसाधनस्य ॥ ४ ॥
'एकमेवाद्वितीयेतद्यदाजन्नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव । १ ॥

भृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयवचनमेतत् । अद्वितीयेति विभक्तिलोपः आर्षः । अथ वाद्वितीयेत्यामंत्रणपदमेतत् ।

तथा।— ' एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विश्वेका परमादृष्टिरिह्सैका सुखावहा।। २।।
एकः क्षमवतां दोषो द्वितीयो नोपलभ्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः।। ३।।
सोऽप्यदोषोऽस्य मन्तन्यः क्षमा द्वि परमं बलम्।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मनमपि योजयेत्'।। ४।।

स्वस्य हिंसादोषः परस्य मृत्युरिति ।

' एकः स्वादु न मुङ्जीत एकश्चार्थान चिंतयेत् । एको न गच्छेदच्वानं नैकः स्रुतेषु जागृयात् '॥ ५॥

इत्येकज्ञानम् ।

' द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नत्र छोके विराजते । अब्रुवन्परुषं कंचिदसतो नार्थयंस्तथा ॥ ६ ॥ द्वाविमौ पुरुषव्यात्र परप्रस्ययकारिणौ । स्त्रियः कामितकामिन्यो छोकः पूजितपूजकः ॥ ७ ॥ द्वाविमौ कण्टकौ राजन्शरीरपरिशोषणौ । यश्वाधनः कामयते यश्चकुप्यत्यनीश्वरः ' ॥ ८ ॥

शरीर स्वशरीरम् ।

' द्वाविमी पुरुषौ राजन्सर्वस्योपरितिष्ठतः । प्रमुख क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रतापवान् '।। ९ ॥ न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यो द्वावितिक्रमौ । अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ १० ॥ द्वाविमौ प्रसते भूमिः सर्पो बिल्हायानिव । राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् '॥ ११ ॥

ब्राह्मणः परिवाट् तस्य परितो भ्रमणौचित्यात् । 'द्वाविमौ पुरुषौ राजन्सूर्यमंडलभेदिनौ । परिवाड् योगयुक्तश्च युद्धे चामिमुखं हतः'॥ १२॥

इति द्विकज्ञानम्।

' त्रयो न्याया[६७अ] मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ । कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति धर्मविदो त्रिदुः '॥ १३॥

न्यायश्वारित्रम् । ज्ञान-योग-कर्मभेदेन त्रिविधमिदम् ।

' त्रिविधाः पुरुषा राजनुत्तमाधममध्यमाः । नियोजयेषथावृत्तं त्रिविधेष्त्रेव कर्मसु ' ॥ १४ ॥

एतनिरूपणमप्रे कर्मभेदनिरूपणे भविष्यति ।

'त्रय एवाधना राजन्मार्या दासस्तथा सुतः । यत्ते समधिगच्छन्ति वस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ १५ ॥ सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । सूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् '॥ ६ ॥

इति त्रिकज्ञानम्।

'चत्वारि राज्ञा तु महाबछेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितास्तानि विद्यात् । न दीर्घसूत्रैः सहमंत्रं प्रकुर्यादल्पप्रज्ञैरल्सेश्वारणैश्व '।। १७॥ अलसैरितिस्थाने रमसैरिति कचित्पाठः। रमसैर्हर्षतरलैः चारणैः सदिस्ततश्च-रणशिलैः।

' चत्व।रि ते तातगृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे । वृद्धो ज्ञातिरवसनः कुळीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या '॥८॥

वृद्धज्ञातेः कुल्धमींपदेशकातात् । अवसन्नः श्रान्तः कुलीनोऽतिथित्वेन, अन्यथा श्रान्तातिथिसत्कारस्यावश्यकार्यस्य कुलीनत्वामावे चौर्याद्यनर्थदोषायत्तेः । सखा दरिद्र ऋणी तस्य तद्र्थे यत्नसंभवात् ।

'चत्वार्योह महाराज सद्यस्कानि बृहस्पतिः। पृच्छ्यते त्रिदरोन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ १९ ॥ देवतानां च संकल्पमनुभावन्तु धीमताम् । विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् '॥ २० ॥ संकल्पश्चिकीर्षितम् । विनाशो मरणं सद्यः फल्टदं भवति नरकहेतुर्भवति ।

इति चतुष्कज्ञानम्।

'पश्चामयो मनुष्येण परिचर्याः समंततः । पितामाताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षम ॥ २१॥ पंचैव पूजयं छोके यशः प्राप्तोति केवलम् । देवान्पितृन्मनुष्यांश्च भिक्कृ्नतिथिपश्चमान् '॥ २२॥

मनुष्या अत्र ऋषयः ।

'पंचोन्द्रियस्य मत्तस्य छि[६७ब]दं चैकैकमिन्द्रियम् । ततोऽस्य क्षरति प्रज्ञा दतेः ... पादादिवोदकम् '॥ २३॥ छिद्रमसंवृत्तम् । पादादाननात् ।

इति पंचकज्ञानम्।

'षट्दोषा पुरुषेणेह हातन्या भूतिमिच्छता। निद्रा तंद्री भयं क्रोध आङस्यं दीर्घसूत्रता '॥ २४॥

भयं स्वोच्छेदबुद्धिः।

'षिडमान्पुरुषो जद्याद्भिना नावमिवार्णवे । अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ २५ ॥ अरिक्षतारं राजानं भायो चाहितवादिनीम् । प्रामकामं च गोपाठं वमकामं च नापितम् '॥ २६ ॥

अप्रवक्तारं रहस्यस्य ।

' षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्वाः कदाचन । सस्यं दानमनाळस्यमनसूया क्षमा घृतिः'।। २७ ॥

¹ Corrupt.

अनालस्यमुद्योगः ।

' षण्णामात्मानि निस्तानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति । न स पापैः कृतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः '॥ २८॥ षण्णामिन्द्रियाणामैश्वर्यं विशिषम् ।

> 'षिंडिमे षद्मु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते । चौरः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ २९ ॥ प्रमदाः काममानेषु यजमानेषु याजकाः । राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः '॥ ३० ॥

इति पद्कज्ञानम् ।

'सप्तदोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः । प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृत्तमूळाश्च पार्थिवाः ॥ ३१ ॥ स्त्रियोऽश्चा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पंचमम् । महस्र दण्डपारुष्यमर्थद्षणमेव च '॥ ३२ ॥ अर्थद्षणमर्थपारुष्यम् ।

इति सप्तकज्ञानम् ।

' अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्येष्ट विमस्यतः । बाह्यणानां प्रथमं देष्टि बाह्यणेश्व विरुध्यते ॥ ३३ ॥ बाह्यणस्वानि चादते बाह्यणांश्व जिद्यांसति । रमते निन्द्या चैषां प्रशंखां नाभिनन्दति ' ॥ ३४ ॥ विरुध्यते कळहं करोति ।

'नैतान्स्मरित कृत्येषु याचितश्चाम्यस्यति ।
एताम्दोषात्रृपः प्राज्ञो बुद्ध्या बुद्धा च वर्जयेत् ' ॥ ३५॥
कृत्येष्वाम्युदायिककर्मस् । अस्यित समक्षमेव द्षयित ।
'अष्टाविमानि हर्षस्य महास्थानानि भारत ।
व[६८अ]र्तमानानि दश्यन्ते तान्येव सुसुखानि च ॥ ३६॥
समागमश्च सिखमिर्महांश्चेव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वंगः सिक्यातश्च मैथुने ॥ ३७॥

समये च प्रियालापः स्वयूथेषु समुन्नतिः । अभिप्रेतस्य लामश्च पूजा च जनसंसदि ' ॥ ३८ ॥

इत्यष्टकज्ञानम्

' नवद्वारिमदं वेश्म त्रिस्थूणं पंचभूमिकम् । क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान्यो वेद स परः कविः '॥ ३९ ॥ त्रिस्थूणाः त्रिगुणाः स्तंभधारणाहेतुत्वात् । पंचभूमिकं पंचमहाभूतरचितम् ।

इति नवकज्ञानम् ।

' दशवर्षे न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् । मत्तः प्रमत्त उन्मतः श्रान्तः कुद्धो बुमुक्षितः । त्वरमाणश्च भीरुश्च छुन्धःकामी च ते दश ' ॥ ४०॥

इति दशकज्ञानम् । इत्येकादिदशपर्यन्तज्ञानं नाम कुसुमम् ।

[66]

अथेकादिसप्तकान्तं तथेकादितः सप्तयावदिति यन्नीतिकुसुममुँहिष्टं तदि-वरणम् ।

यथा:- 'एकया दे विनिश्चित्य त्रीनश्चतुर्भिर्वशी कुरु। पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा धुखी भव'॥ १॥ व्याकोशितं चेदं मार्कंडेयेन यथाः--

> ' एकया प्रज्ञया राजन्कार्याकार्यद्वयं नरः । विनिश्चित्य तु यः कुर्यात्कार्ये त्वत्र स पूजितः ॥ २ ॥ मध्यस्यं यदि वा मित्रं शत्रुं वा कार्यगौरवात् । ज्ञात्वा देशं च कार्छं च द्वुपायरम्युपक्रमेत् ॥ ३ ॥ साम-भेदः प्रदानं च उपायाः परिकीर्तिताः । उपायश्वतुर्थोऽत्र दण्डस्त्वगतिका गतिः ॥ ४ ॥ पंचेन्द्रियजयो येन कृत आदौ जिगीषुणा । तुर्ह्णया विजयस्तस्य न दूरे प्रतिभाति में ॥ ५ ॥

पंचेन्द्रियजयं कृत्वा गुणषट्कमुपाश्रयेत् । बुद्धा बलावलं सम्यगात्मनश्च परस्य च ॥ ६ ॥ राजदोषाश्च ये सप्त येन त्यक्ता नराधिप ! सिद्धिं तस्य समायान्ति यथाकालं गुणा मृप ॥ ७ ॥ मृगयापानमक्षाश्च स्त्रियश्च परुषा गिरः । अर्थसंदूषणं चैव दण्डपारुष्यमेव च ॥ ८ ॥ एते सप्तमहादोषा[६८ब]महीपानां प्रकीर्तिताः । रता येषु महीपाळाः समूळं नाशमामुयुः '॥ ९ ॥

षङ्गुणनिरूपणं चांग्रे सविस्तरं वक्ष्यामः ।

इत्येकादिसप्तकान्तज्ञानाभिधं क्रसुमममष्टाशीतितमम् ॥

[68]

अथ च शयगता भृश्व धीसाधनस्येति शस्त्रादिकं कार्यसाधकं ताव-दस्तु यस्तु तःस्थानीयां घियमेवाधिकां मन्यते तस्य धीसाधनस्य भूर्भूमिः शयगताऽवश्यं इस्तं यास्यतीति ।

' एकं इन्यान वा हन्यादिषुर्मुको धनुर्मृता । बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा इन्याद्राष्ट्रं सराजकम् '।। १ ॥ इति ' एकं विषरसो इन्ति शक्षेणैकश्च वच्यते । तथा:-

सराष्ट्रं सप्रजं इन्ति राजानं मन्त्रविस्रवः '।। २ ॥ मन्त्रविस्रवः मन्त्रप्रसारणम् । एतदाशयेनैव राजपुरुषाणां धीबाणे-

त्याद्या, धीरेव बाणः कार्यसाधकं यस्येति कुला।

इति धीमाहात्म्यकथनाभिधमेकोननवतितमं कुसुमम्।

[90]

इस्यं पण्डितापण्डितळक्षणं समूळं निदर्शनं प्रदर्शेदानीं नीतौ दर्शय-तन्यायां राजतदुपकरणळक्षणं तावदवतारयति राजेति द्वाभ्याम् ।

राजा मन्त्रिपुरोधसौ च गणको राज्ञी गजाश्रौ रथः छत्रं चामरमासनं शरधनुरस्त्रानि खड्गास्तथा। सेनानीर्भृतकः सहायसुहृदोऽश्रो यामिको द्वाःस्थितो दृतः सन्धिकराश्रराश्र पुरपो नागाश्रपौ सारिशः॥५। धर्मायन्ययदुर्गवस्विधकृताः सदाश्र पौरोगवोऽ-स्नाचार्यः स्थपतिश्र लेखकसभास्ताराश्र वैद्योऽस्त्रपः। शुद्धांताधिकृताः प्रसादमृगयाविज्ञास्तथा येऽपरे संग्राह्या निपुणं सुधीभिरपि यै राज्यद्विवृद्धिर्भवेत्॥६॥

यैरमीभिः सल्लक्षणराजादिभिः राज्यवृद्धी राजभावकर्मळक्षणस्य राज्यस्य वृद्धिः सर्वोत्कर्षो भवेत् ते संग्राह्या इति संबन्धः ।

तत्र प्रकृतिकार्यं राजसंग्रहः राजकार्यंच सङ्कक्षणप्रकृतिसंग्रहो विधेय इति[६९अ]विधिः । किलेक्यप्रतिपत्तौ । अत्रोभयस्मिन्न कस्यचिद्विमतिरिति । तत्र राज्ञः सङ्कक्षणप्रकृतिसंग्रहः स्वाधीन एव मनाक् स्वविधेयविच्युतौ न तत्स्थाने परासंजनात् । प्रकृतीनां तु परम्परागते राज्ञि प्रकृतिच्युते (चाल्नार्य) यद्यपि दिक्पालांशत्वादस्य न स्वातन्त्र्यं स्वाधीनं, तथा सन्मार्गगामित्वमेव-दिक्पालांशात्वे चालपत्विनयामकं परथा तु दिक्पालानामेव तत्न कुपितत्वाद्वेयते प्रकृतिमिरप्यसौ च्यावियतुं शक्यत एतेत्युभयविधिवचनमनवद्यम् । तथा च

'आदौ सर्वप्रयत्नेन राष्ट्रमुख्यैनिरेश्वरः। परीक्ष्य सर्वेः कर्तव्यो धार्मिकः सत्यसंगरः'।

इति राजा संप्राह्य इत्युक्तम् । तत्रापि प्रथमं राजत्वसाधकं प्रजारस्ननं यस्य भवेदसा यौगिक्या संज्ञया राजेत्युच्यते इति मुख्यलक्षणं राज्ञः । यथा चाभियुक्ता रघुवर्णने ।

' यथा प्रह्लादनाचन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा। तथेव सोऽभूदन्वर्थो राजप्रकृतिरञ्जनात् '।। १।। इति यथा मनुः। —' मौलाञ्च्लास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्ष्यान्कुलोद्रतान्। सचिवानसप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् '।। २।। इति

¹ Corrupt.

तत्साधकानि च छक्षणानि यथाः—

' सर्वलक्षणलक्षण्यो विनेता प्रियदर्शनः । अदीर्घसूत्री धर्मात्मा जितकोधो जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥ स्थूललक्ष्यो महोत्साहः स्मितपूर्वाभिभाषकः । सुरूपः शीलसंपन्नः क्षिप्रकारी महाबलः' ॥ ४ ॥

स्थूळळक्य उदारचेता बहुप्रद इत्यर्थः ।

' ब्रह्मण्यश्वाविसंवादी दृढमिक्तः प्रियंवदः । अळोळुपः संयतवागाभीरोद्धतशासनः ॥ ५ ॥ नातिदण्डो न निर्दण्डश्वारचक्षुरिज्ञह्मगः । व्यवहारे समः प्राप्ते पुत्रस्य रिपुणासह ॥ ६ ॥ पूज्यपूजियता नित्यं दण्ड्यं दण्डियता तथा । षाड्गुण्यस्य प्रयोक्ता च शक्त्युपेतस्तयैव च ॥ ७ ॥ प्रजानां रक्षणार्थाय विष्णु[६९ व]तेजः प्रवेशितः । मानुष्ये जायते राजा देवसत्ववपुर्धरः ' ॥ ८ ॥

विदुरः। — ' यस्तात नो कुध्यित सर्वकाळं मृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तिस्मन्भृत्या भर्तिरि विश्वसन्ति न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥९॥
न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन बाह्यं जनं संजिध्क्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति द्दीनमुचितावरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिभोगहीनाः'।१०
उचिता इत्यवरुद्धा उचितावरुद्धाः । राजाधीनमेव जगद्वर्तत इत्याद्द भगवान्व्यासः ।

> 'अराजकेषु राष्ट्रेषु नैव कन्या प्रदीयते । विद्यते समता नैव तथा वित्तेषु कस्यचित् ॥ ११ ॥ मात्स्यो न्यायः प्रवर्तेत विश्वछोपस्तथैव च । छोके न कश्चिद्विद्येत गुरोर्वचनकारकः ॥ १२ ॥ नाधीधीरं खर्यी विद्यां त्रयोवणी द्विजातयः । देवानां पूजनं न स्यादनावृष्टिस्ततो भवेत् ॥ नृष्टोकः सुरखोकश्च स्यातां संश्वितावुभौ'॥ १३ ॥

प्रजातरोर्म्, लिमहावनी शस्तद्रक्षणादृद्धि मुपैति राष्ट्रम् । तस्मात्प्रयत्नेन नृपस्य रक्षा सर्वेश्व कार्या विधिवत्समेतैः '।।१४॥ इति इत्थं तावदिह सामान्येन राजलक्षणं दर्शितम् यश्चात्र विशेषः सोऽमे भविष्यति ।

इति राजलक्षणाभिधं नवतितमं कुसुमम्।

[९१]

मन्त्री राज्ञा विधातन्यो विनीतः प्रियदर्शनः । उत्साही स्वामिभक्तश्च प्रियवादी सुलक्षणः ॥ १ ॥ राजदेषेण यः कार्यं न च हन्ति महीक्षितुः । न लोकापवादभयं राजार्थे यस्य जायते ॥ २ ॥ क्रेशक्षमस्तथा चायं विजितात्मा जितेन्द्रियः। गूढमन्त्रश्च दक्षश्च प्राज्ञा रक्तो जनप्रियः ॥ ३ ॥ इङ्गिताकारतत्त्वज्ञ ऊहापोहविशारदः । शूरश्च कृतविद्यश्च न च मानी विमत्सरः ॥ ४ ॥ कुत्र विस्तारो देयः कुल च संक्षेप इत्यत्र विशारदः । चारप्रचारकुशलः प्रणिधिप्रणयात्मवान् । षाङ्गुण्यविधितत्वज्ञ उपायकुशलस्तथा ॥ ५ ॥ [७०अ] वक्ता विधाता कार्याणां न च कार्यातिपातिता। समश्च राजभृत्यानां कृतज्ञश्च गुणियः ॥ ६ ॥ कृतानां चाकृतानां च कर्माणां चानुवेक्षिता । यथानुरूपमहाणां पुरुषाणां नियोजिता ॥ ७ ॥ राज्ञः परोक्षं कार्याणि कृत्वा च समरे त्वरन्। निवेदितस्य वेत्ता च कर्मणा गुरुळाघवम् ॥ ८ ॥ विदितानि तथा कुर्यानाज्ञातानि महीक्षिता । अज्ञातानि नरेन्द्रस्य कृत्वा कार्याणि मन्त्र्यसौ । अचिरेणैव विद्वेषं राज्ञः गच्छस्यसंशयम् ॥ ९ ॥

एवं गुणो यस्य भवेच मन्त्री कार्ये च तस्याभिरतो विशेषात् । राज्यं स्थिरं स्याद्विपुळा च ळक्ष्मीर्यशस्त्र दीतं सुवनत्रयेऽपि ॥१०॥

इति तृतीयप्रकाण्डे राजसमृद्धिशाखायां मन्त्रिलक्षणं नाम कुसुमम्।

[९२]

कल्पज्ञो लक्षणोपेतोऽनुकूलश्चास्तिकस्तथा।
दैवज्ञानुगतो यस्तु स पुरोहित इष्यते।। १।।
यश्चाभिमानी दीप्ताज्ञः प्रतिकूलोऽस्य स दुतम्।
राज्ञा त्याज्यो भवेन्नूनं नात्र कार्या विचारणा।। २।।
नक्षत्रवैतानसंहितांगिरः-क्षान्तिकल्पभेदेनपंचकल्पास्तद्देदी कल्पज्ञः।
नित्यनैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं विदधीत सः।
दैवज्ञवचनात्कर्म यथा राज्यं स्थिरीभवेत्।। ३।।
इति पुरोहितलक्षणाभिधं कुसुमम्।

[९३]

अथ गणकळक्षणम् ।

विमा चन्द्रं यथा रात्रिमुंकुटं नायकं विना ।
विना ज्योतिष्यकमेतद्राज्यं तद्दद्धिनिर्दिशेत् ॥ १ ॥
सुळक्षणो विनीतश्च त्रिस्कंधज्योतिषश्रमी ।
अदीनवादी धर्मको जितनिद्रो जितेन्द्रियः ॥ २ ॥
अव्यक्को नाधिकाङ्गश्च वेदवेदाङ्गपारगः ।
चतुषष्टयङ्गतत्वज्ञ ऊहापोह्दविचक्षणः ॥ ३ ॥
भूतमन्यभविष्यक्को गणितक्को विशेषतः ।
आस्तिकः श्रद्धधानश्च प्रतिभावानृतार्यवान् ॥ १ ॥
दैवं पुरुषकारेण जेतुं यो वेति तत्त्वतः ।
तमेव रक्षेद्राजा सदा देवार्चने[७०व]रतम् ॥ ५ ॥

न तत्र नागाः सुष्टता न योधा राज्ञो न माता न पिता न बंधुः। यत्रास्य साध्ये भवतीह विद्वान्सांवत्सरो धर्मविदप्रमत्तः॥ ६ ॥

इति दैवज्ञलक्षणं नाम कुसुमम्।

[88]

अथ राज्ञीळक्षणम् ।

विनीता गुरुभक्ता च ईर्षाक्रोधविवर्जिता।
राज्ञः प्रियहिते सक्ता सुवेशा वसुळक्षणा॥१॥
स्ताम्रतकदानज्ञा मृत्यानामन्ववेक्षिणी।
अमृतानां जनानां च न्यक्तिकर्मप्रवर्तिनी॥२॥
रागद्वेषवियुक्ता च सपत्नीनां सदैव या।
भोजनाशनपानेन सर्वासामन्ववेक्षिणी॥३॥
सपत्निपुत्रेष्विप या पुत्रवर्त्पारवर्तते।
मन्त्रिसांवरसराचार्यानन्यान्पूजयते सदा॥४॥
ब्रह्मण्या च दयायुक्ता सर्वभूतानुकम्पिनी।
कृताकृतज्ञा या राज्ञश्च विदिता मण्डळेष्विप ॥ ५॥
परराज्यकळतेषु प्रीयमाना मुदान्विता।
दूतादिप्रेषणकरी राजद्वारेषु सर्वदा।
तद्वारेण नरेन्द्राणां कार्यज्ञा च विशेषतः॥६॥।

इति राञ्चीलक्षणं नाम कुसुमम्।

[94]

इत्यं चक्षितलक्षणयुताश्च नार्यो विकारिका दृष्टाः । दुर्चभतराश्च नृपरा स्तरमाद्रक्षेत्समागमस्तासाम् ॥ १ ॥

¹ Corrupt.

प्रकृत्या कुटिना नार्यः प्रकृत्या सरना नराः । तस्मात्समागमं यायात्परीक्ष्य पुरुषः ख्रियम् ॥ २ ॥ ' शस्त्रेण वेणीविनिगृहितेन विदूरधं स्वा महिषी जघान । तथा च। विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम् ॥ ३ ॥ एवं विरक्ता जनयन्ति दोषान्प्राणि छदोऽन्येरनुकीर्तितैः किम् । रक्ता विरक्ता पुरुषेरतोऽर्थात् परीक्षितन्याः प्रमदाः प्रयत्नात् ॥४॥ स्नेहं मनोभवकृतं कथयन्ति भावा नाभीभुजस्तनविभूषणदर्शनानि । वस्राभिसंयमनकेराविमोचनानि भूक्षेपकंपनकटाक्षनिरीक्षितानि॥५॥ उचैः ष्ठीवनमुत्कटप्रहसनं राय्यासनोत्सर्पणं गोत्रस्फोटनजृम्भणानि धुलभद्रन्याल्पसंप्रार्थना । बाळाळिङ्गनचुम्बनान्यभिमुखे सद्याः समालोकनं दृक्पाताश्च पराङ्मुखे गुणकथा कर्णस्य कण्डूयनम् ॥ ६ ॥ इमां च विद्यादनुरागचेष्टां प्रियाणि वक्ति स्वधनं ददाति । षिलोक्य संहष्यति वीतरोषा प्रमार्धि दोषान्गुणकीर्तनेन ॥ ७ ॥ तन्मित्रपूजा तदरिद्धिषत्वं कृतस्मृतिः प्रोषितदौर्मनस्यम् । स्तनौष्ठदानान्युपगूहनं च स्वेदोऽथ चुम्बाप्रथमामियोगः '॥ ८॥ इति प्रेमचेष्टालक्षणम् । ' विरक्तचेष्टा भुकुटीमुखस्वं पराङ्मुखत्वं कृतविस्मृतिश्च। असभ्रमो दुष्परितोषिता च तद्दिष्टमैत्री परुषं च वाक्यम् ॥ ९ ॥ स्पृष्टाथवालोक्य धुनोति गात्रं करोति गर्वे न रुणाद्धि यान्तम् । मुम्बाविरामे वदनं प्रमार्ष्टि पश्चारसमुत्तिष्ठति पूर्वसुप्ता ।। १०॥ मिञ्जाणिका प्रविज्ञा दासी धात्री कुमारिका रजकी। माठाकारी दुष्टाङ्गाना सखी नापिती दूखः ॥ ११ ॥ कुछजनविनाशहेतुर्दूत्यो यस्मादतः प्रयत्नेन । ताम्यः स्त्रियोऽभिरक्ष्या वंशयशोमानवृद्धयर्थम् ॥ १२ ॥ दुष्टस्वमावाः परिवर्जनीया विमर्दकालेषु न च क्षामा याः । यासामसुग्वासितनीलपीतमाताम्रवर्णं च न ताः प्रशस्ताः '।। १३ ।। इति नारीरागविरागकथनं नाम कुसुमम्।

[९६]

अथ पुरुषलक्षणं संक्षेपेण तावत् । –
एकाढयो द्विसितश्च निम्नविपुलन्यापिप्रलम्ब्यानताभिज्ञस्निष्वय यश्चतुर्ष्वविषमः कृष्णः सुगन्धस्तथा
हस्वं पञ्चसु सौक्ष्म्यभागपि च तथा दीर्घस्तथा चोन्नतः
षद्धु स्नेहयुतश्च सप्तसु तथा वंशोन्नतश्चाष्टसु ॥ १ ।
ग्रुद्धस्यानवके बृहच दशके पद्मप्रभश्चापि यः
स्यादचापि समश्चतुर्दशमुखः स्यात्षोडशाक्षस्तथा
तेनेयं जगती जिता विजयते भूमण्डलेऽसौ सदा
याप्यं व्यस्ततया फलं खल्ल समग्राद्या जना दुर्लभाः ॥ २ ॥

अत्रार्थ: । एते गुणा महापुरुषाणां महाराज्ञां वा विषया: । परं ते तत्सा-मस्त्यं मनुष्याणां [७१ व] भुवि दुर्छभम् । देवतोपलक्षकत्वादमीषामिति । अन्तरे पुनरेतत्प्रचुरा महापुरुषा महाराजानो वा भवन्ति । अल्पतया चैतःसत्वे मध्यममन्ष्यत्वम् । असत्वे पुनर्धमस्विमिति । तत्र सांसारिकाणां धर्मार्थकाम-सारत्वं नियतम् । तन्मध्ये धर्माध्यक्ष्यवानेकाढ्यं इति । कनीनिके विना शुक्रनेत्रः शुक्रदशनश्च द्विसित इति । त्रिष्विति निम्नादिषु संबध्यते । त्रिनिम्नः त्रिविपुछः त्रिव्यापी त्रिप्रछंबी त्र्यानतः त्र्यभिज्ञ इति । तत्र नाभीस्वरसस्य-गभीरिखनिम्नः । तथाच वराहाचार्यः । 'नाभीस्वरः सस्विमिति प्रशस्तं गर्भीर-मेतित्रितयं नराणाम् '। वक्तोरोळ्ळाटविस्तीर्णसिविपुळः। तथा च स एव बदतीति 'उरो लक्षाटं वदनं च पुंसां विस्तीर्णमेतात्रितयं प्रशस्तं' । तेजोयशः-श्रीभिः सर्वव्यापकस्त्रिव्यापी । प्रलंबमान मुजवृषणक पिस्निप्रलंबी । देविहिज-गुरुप्रश्रयी आनतः। धर्मार्थकामसेवाकाळवित् अभिज्ञ इति सिद्धम्। निम्न-विपुछन्यापिप्रसंब्यानतामिज्ञास्त्रिन्विति । अय यश्चतुर्षु अविषमः कृष्णः सुगन्यः हस्य इति । तत्राज्ञालिहदयपृष्ठकटीष्वविषमश्चतुरविषमः । कनीनिकाभूकरेशस्भू-कृष्णश्चतःकृष्णः । नासास्यस्वेदकक्ष्यासीगन्ध्यवांश्चतुर्गन्धः । लिङ्गप्रीवाजेशोः भयह्रस्वश्वतुर्हस्य इति । पश्चसु सौक्ष्म्यभागपि तथा दीर्घ इति पश्चसूक्ष्मः पञ्च-दीर्घश्चेति । अङ्गुलि-केश-नख-द्विज-त्वक्षु सूक्ष्मः पश्चसूक्ष्मः । हनुनेत्र-ळळाटनासास्तनांतरदीर्घः पंचदीर्घः । तथा च वराहाचार्यः

'हनुलोचनबाहुनासिकाः स्तनयोरन्तरमत्र पश्चमम्।

इति दीर्घमिदं तु पञ्चकं न भवत्येव नृणामभूभृताम् '।।३॥ इति
[७२अ] षट्सूनत इति वक्षोकक्ष्यनखनासाक्रकाटिका इति । सप्तसु
स्नेहयुत इति । त्वक्क्षेरालोमदन्तदग्वाणीनखेषु स्निग्ध इति । वंशोन्नतश्वाष्टसु इति । जानुभुजोरुपृष्टनासा वंशवत्सरला उन्नताश्च यस्यासावष्टवंशोनत इति । ग्राद्धःस्यानवके इति । नवसंख्याङ्केऽङ्गजाते नेन्ननासाकर्णोभयमेट्रपायुमुखिन्छद्रलक्षणे यः ग्राद्धो मलरहित इति । तथा च खृद्दशक इति ।
दशसंख्याङ्के गणे वृहन्महामानः । तच्च दशकम् । पाणिपादमुख्यीवाश्रवणहद्यशिरोळ्ळाटोदरपृष्टळक्षणम् । अमीषु महामान इति पीवर इति यावत् ।

दशके च पद्मामः । तम्र जिह्वौष्ठताछनेत्रान्तपाणिपादस्तनाशिश्नाप्रवक्षो-लक्षणमनेन खछ पद्मवर्णाभेन सद्भाग्याः पुरुषा भवन्तीति । समश्चतुर्दशस्त्रिति । पाद-गुल्फ-स्फिक्यांश्चष्टपोक्षणद्दनुकर्णोष्ठसाक्तिजंबाद्दस्तभुजञ्जूयुगुलानि यस्य परस्परसमानि स भाग्यवानिति । षोडशाक्षस्तथेति ।

> 'विद्यास्थानानि यानीह कथितानि चतुर्दश । तत्पूर्वे नेत्रयुग्मेन यः पश्यति स पूरुषः' ॥४॥ इति षोडशनेत्रः।

इति महापुरुषमहाराजळक्षणानि तावत्सामान्येनोदितानि यश्चात्र विशे-षोऽसौ समनन्तरमेवायास्यतीत्यास्तां तावत् । तत्र मानेनापि चोत्तममच्यमाधमत्वं ळक्ष्यते । तत्र वराहमिहिरः।—

> ' अष्टरातं पण्णवतिः परिमाणं चतुरशीतिरिति पुसाम् । उत्तमसमद्दीनानामङ्गुळसंख्या स्वमानेन '॥ ५ ॥

अष्टाधिकं शतमष्टशतमिति मध्यमपदलेषी समासः।

तथा।— ' भारार्धततुः सुखभाक्तुिकतोऽतोदुःखभाग्भवस्यूनः। भारोऽतीवाढयानामध्यर्धः सर्वधरणीशः'।। ६।।

तत्र भारमानं[७२व]खारी=आढकौ(२)पछाः(२०)भाराधिमेतदर्धं द्रेाणः आढकः १ पछाः१० अध्यर्धभारः खारी १ द्रोणः १ इति । एतदुभयमान-परीक्षां च स एवाह ।

'विंशतिवर्षा नारी पुरुषः खछ पञ्चविंशतिभिरन्दैः। अर्हति मानात्मानं जीवितभागे चतुर्थे वा '॥ ७॥ इति

तत्र मानं तुला । मानमुरमानमङ्गुलमानम् । इति महाराजलक्षणाभिधं कुसुमम् ।

[99]

अत्रैव प्रसङ्गाद्वाज्ञीलक्षणमि मात्रया लिख्यते ।

' भृङ्गारासानवाजिकुंजररयश्रीवृक्षयूपेषुभि
मीला कुण्डलचामरांकुशयवैः शैल्वेजैस्तोरणैः ।

मत्स्यस्वित्तिकवेदी काव्यजनकैः शंखातपत्राम्बुजैः

पादे पाणितलेऽथवा युवतयो गच्छिन्त राज्ञीपदम् ॥ १ ॥

तथा निगूढमणिबन्धनौ तरुणपद्मगर्भोपमौ

करौ नृपतियोषितस्तनुविकृष्टपर्वाङ्गुली ।

न निम्नमितनोन्नतं करतलं सुरेखान्वितं

करोत्थविधवां चिरं सुतसुखार्थसंभीगिनीम् ॥ २ ॥

मध्याङ्गुलिं या मणिबन्धनोत्था रेखागता पाणितलेऽङ्गनायाः।

ऊर्ध्वा स्थिता पाणितलेऽथवा या पुंसोऽथवा राज्यसुखाय सा स्यात् ।।३॥

इति राज्ञीलक्षुणाभिधं कुसुमम् ।

[९७ अ]

अथ इस्तिलक्षणम्।

राज्यं हस्तिविराजितं वजित यत्कीर्तं च सांप्रामिकीम् यात्रा तैः समये विराजितितरां तळ्ळ्ञणं तद्ब्रुवे । मद्राचैः ग्रुमळक्षणेभविति तद्बृद्धं विहीनं तथा राण्ठाचैरिति तत्परीक्षणमतो हर्षाय संख्यावताम् ॥ १ ॥ मृणो मन्दश्च भद्रश्च संकीर्तिश्च ग्रुमां इमे । गन्धेभोऽभ्यर्चितास्तेषां राज्यश्रीकीर्तिवर्धनाः ॥ २ ॥ वामनो मत्कुणो मृढो पाळकः कुल्बकस्तया । सत्कुदन्तौ वामकुटोऽस्नस्प्रक्कूटोऽधं शण्ठकः ॥ ३ ॥

¹ Corrupt.

विकटश्चेति विज्ञेया द्वानिदा दृस्तिनी च या ।
हस्तिलक्षणसंयुक्ता[७३अ]गर्भिणी चात्र नो शुभा '।। ४॥
अथैषां लक्षणानि ।

'पञ्चोन्नतिः सप्त मृगस्य दैर्ध्यमष्टौ च हस्ताः परिणाहमानम् ।
एकद्विवृद्धावथ मन्दभद्दौ संकीर्णनागोऽनियतप्रमाणः' ॥ ५ ॥
एकेति । एवं मन्दस्य षडुण्छायः । अष्टौ दैर्ध्यं नवपरिणाहः । भद्रस्य
सप्तोच्छायः । नवदैर्ध्यं दशपरिणाहः । तत्र च मानकलना यथा

' मुखादासेचकं दैर्ध्यं पृश्चिपार्श्वीदरान्तरम् । अनाह उच्छ्यः पादाहिङ्गेयो यावदासनम्' ॥ ६ ॥ इति ॥ अनियतप्रमाण इति संमिश्रप्रमाणः ।

'कृष्णे। मदश्चाभिहितो मृगस्य मन्दस्य हारिद्रकसिकाशः। भद्रस्य वर्णो हरितो मदश्च संकीर्णनागस्य सदा विमिश्रः'॥ ७॥ एतन्मध्य एवैकः कश्चिदतिमदो गन्धगजः।

तथा

'पुरीषगन्धमादाय यस्यारण्येऽपि हिंसकाः। दूरादेव पलायन्ते व्याघाषा गांधिकस्त्वसौ ॥ ८ ॥ विस्तीर्णनाभिहनुकर्णछलाटगुद्धाः क्रूमींक्तैर्द्धिनवविंशतिभिनेखैश्च। रेखात्रयोपचितवृत्तकराः सुवाळा धन्या भवन्ति मदपुष्करमारुताश्च'॥९॥ द्विनवाष्टादशक्रूमींक्तैर्मध्योक्नतैः रेखात्रयं च दैध्येण स्थितमिति ध्येयम्।

पाराशरः ।-

' विंशस्यष्टादशनसाः स्थिराः क्र्मीन्नतान्तराः ।
गजानां पूजिताः पादा ये च स्युरकचाविलाः ॥ १० ॥
दीघीङ्गुलिरक्तपुष्कराः सजकाम्भोदनिनादबृहिणः ।
बृहदायतवृत्तकन्धरा धन्या भूमिपतेर्मतङ्गजाः '॥ ११ ॥
पुष्करं करान्तः, अङ्गुलिः करान्तगता मांसपीशी ।
मार्भण्डेयः ।—

कर्णी च विपुन्ने येषां सूक्ष्मबिंदूचितत्वचौ । ते प्रशस्ता महानागा तथा सप्तसु सुन्थिताः ।। १२ ॥

सप्तसुस्थितळक्षणं यथाः-

'वर्णः सत्वं बळं रूपं कान्तिः संहननं जयः।
सत्तैतानि सदा यस्य स गजः[७३व]सप्तसुस्थितः।। १३॥
वेषां भवेदक्षिणपार्श्वभागे रोम्णां च पुञ्जः पिटकोऽथ वापि।
ते नागमुख्या विजयाय युद्धे भवन्ति राज्ञां न हि संशयोऽत्र॥१४॥
दन्तच्छेदेषु दश्यन्ते येषां स्वतिकलक्षणम्।
मृङ्गारबाळव्यजनांकुशास्ते स्युः सुलक्षणाः '॥ १५॥

अत्र भार्गवः।-

'गजमाने ह्यङ्गुळं स्यादष्टभिस्तु यवोदरैः। चतुर्विशत्यङ्गुळैस्तैः करः प्रोक्तो मनीषिभिः।। १६॥ बृहद्गण्डवाळस्तु धृतशीघ्रगतिः सदा। गजश्रेष्ठस्तु सर्वेषां शुभळक्षणसंयुतः'॥ १७॥

इति शुभगजलक्षणम्।

अय वामनादीनां छक्षणम् । तत्रादौ सामान्येनानिष्टगजछक्षणम् ।

आनाहायामसंयुक्तो योऽतिहस्वो भवेद्रजः ।

वामनः स गजो प्रोक्तो भर्तुर्नार्थयशप्रदः ॥ १८ ॥

सर्वछक्षणसंपूणों दन्तैस्तु परिवर्जितः ।

मत्कुणः स समाख्यातः संप्रामे प्राणहारकः ॥ १९ ॥

नीछताछ नीछजिह्वो वक्रदन्तो ह्यदन्तकः ।

छु... क्रूरमदस्तथा पृष्टविधूननः ॥ २० ॥

दशाष्टो न नखो मन्दो भूविशोधकपुच्छकः ।

एवंविधो गजोऽनिष्टो विपरीतः शुभावहः ॥ २१ ॥

दशां चतुर्थां संप्राप्य वर्धेत यस्य न दिजौ ।

स्थूछावनायतौ स्यातां स मूढाख्यो गजाधमः ॥ २२ ॥

अकपाछेन विशालेन दन्तेनैकेन वारणः ।

पराजयप्रदो ज्ञेयो राज्ञां संप्रामयायिनाम् ॥ २३ ॥

¹ Corrupt.

संक्षितवक्षोजघनः पृष्ठमध्यसमुन्नतः ।

प्रमाणहीन उनाभिः स कुन्जो वारणाधमः ॥ २४ ॥
उध्वीनताभ्यां सदन्तः कुदन्तो बाह्यसन्नतः ।
वामोन्नतरदो नागो वामकूटश्च कथ्यते ॥ २५ ॥
दन्तावस्तरपृशौ यस्य सोऽस्तरपृक् कथितो बुधैः ।
एकदन्तस्तथा नागः कूट इत्यभिधीयते ॥ २६ ॥
पादयोः सन्निकर्षः स्या[७४अ] धस्य नागस्य गच्छतः ।
स शंठो घ्वनियुद्धे च लक्षणज्ञैन पूजितः ॥ २७ ॥
अस्तत्र्यभ्यधिकं यस्य विस्तरेण स्तनान्तरम् ।
विकरः स विनिर्दिष्ठो दुर्गतिर्निन्दितो गजः ॥ २८ ॥

अल वराहाचार्यः---

' स्वल्पवक्त्ररुमहृत्कुणशण्ठान् हृस्तिनीं च गजळक्षणयुक्ताम् । गर्भिणीं च नृपतिः परदेशं प्रापयेदतिविरूपफलास्ते '॥ २९॥ गजलक्षणयुक्ता स्थूळदन्ता समदा चेत्यर्थः ।

इत्यशुभगजलक्षणानि ।

अत्रैव महायतीनां महीपतीनां शुभाशुभन्नानाय हस्तिचेष्टितं कथ्यते । तत्रादी दन्तकल्पनम् ।

> 'दन्तस्य मूळपरिधिं द्विरायतं प्रीष्ट्य कल्पयेच्छेषम् । अधिकमनूपचराणां न्यूनं गिरिचारिणां किश्चित्'॥ ३०॥

परिधिमितं दिगुणं कृत्वा तत्प्रमाणं त्यक्त्वा शेषं कल्पयेत् छिद्यात् । अनूपचराणां जल्बराणाम् । श्रीवत्सवर्धमानस्त्रम्बजचामरानुरूपेषु च्छेदेषु दृष्टेष्वाराग्यविजयधनवृद्धिसौद्ध्यानि । प्रहरणसदृशेषु जयो । नन्द्यावर्ते प्रणष्ट-देशाप्तिः । छोष्टे व्यव्यपूर्वस्य देशस्य संप्राप्तिः भवति । छोष्टे मृतस्वण्डौ कृतौ स्त्रीरूपेषु विनाशो । भृङ्गारेऽभ्युत्थिते सुतोत्पत्तिः । कुम्भेन निधिप्राप्तिर्यात्रा-विग्नं च दण्डेन । खीरूपे योषिदाकृतौ । कृकलासकपिभुजङ्गेषु सुभिक्षव्या-धयो रिपुवशित्वम्। गृधोद्धकष्वांक्षश्येनाकारेषु जनमारकः 'पाशे बाधकबन्धे जन-

¹ Corrupt.

'मूलमध्यद्शनाग्रसंस्थिता देवदैत्यमनुजाः क्रमात्ततः । स्फीतमध्यपीर्[७४ब]पेळवं फळं शीव्रमध्यचिरकाळसंभवम्' ॥३२॥ फळं शुभमशुमं वा ।

दन्तभङ्गफलमत्र दक्षिणे भूपदेशबलविद्रवप्रदम् । वामतः सुतपुरोहिते भयान् हन्ति साटविकदारनायकान् '॥३३॥ अत्रापि मूलमध्यप्रान्तकल्पना क्रमेणोद्या । साटविकेत्याद्यापि वामत एव । एवमेव प्रागतिदिष्टगलनम्लानफलमिप वाच्यम् ।

' आदिरोदुभयभद्भदर्शनात्पार्थिवस्य सकलं कुलक्षयम् । सौम्यलग्नतिथिभादिभिः शुभं वर्धते शुभमतोऽन्यथा वदेत् ' ॥३४॥ उभयभद्भदर्शनादिति—उभयोर्दन्तयोः स्फोटदर्शनात्। शुभमिति शुभाचिहं वर्धते, उत्पन्नं वृद्धिं याति । पापलग्नादिभिरशुभं चिह्नं वृद्धिं याति अन्योन्यतायां याष्यमिति भावः ।

' क्षीरमृष्टफलपुष्पपादपेष्त्रापगातटिवघट्टनेन वा । वाममध्यरदभङ्गखण्डनं रात्रुनाराकृदतोऽन्यथा परम्'॥ ३५॥ वामदन्तस्य मध्ये स्फोटनमेतैर्यदि स्यात्। अन्यथेति दुष्टवृक्षैर्मूलाप्रयोस्तस्या दक्षिणदन्तमूलमध्याप्रेषु न शुभमिति ।

> ' स्खिलतगतिरकसाद्रस्तकणोंऽतिदीनः । श्रमिति मृदु सुदीर्घं न्यस्तहस्तः पृथिन्याम् । द्वतमुकलितदृष्टिः स्वमशीलो विलोमो भयकृदृहितभक्षी नैकशोऽसृक्शकृतकृत् ' ।। ३६ ॥

¹ Corrupt,

वर्गीकस्थाणुगुरमक्षुपतरुमथनस्वेन्छयादृष्ठदृष्टि-र्यायाद्यात्रानुलोमं त्विरतपदगतिर्वक्त्रमुन्नाम्यचोचेः कक्ष्यासन्नाहकाले जनयति मुद्धः शीकरं बृंहितं वा तस्काले वा मदाप्तिजेयकृद्थ रदं वेष्टयन्दक्षिणं च ॥ ३७॥

वेष्टयन्करेणालम्बयन् ।

' प्रवेश[७५अ]नं वारिणि वारणस्य प्राहेण नाशाय भवेतृपस्य । प्राहं गृहीत्वोत्तरणं गजस्य तोयात्स्थछं वृद्धिकरं नृभर्तुः '।।३८॥

इति राजोपकरणवर्णनाख्ये तृतीयप्रकाण्डे गजरुक्षणाभिधाना शाखा।

[९८]

' सन्त्येव यानानि महीपतीनां महार्घछम्यानि परंतु वाजी । अनर्ध्य इत्येष महामणीनां मूर्घेति तक्कक्षणमुख्यतेऽद्धा '॥ १॥ अद्धा तस्वतः ।

'दीर्घप्रीवाक्षिक्रदाक्षिकहृदयपृथुस्ताम्रतात्वोष्ठजिद्धः सूक्ष्मत्वक्षेशवालः सुशक्षगतिमुखो हृस्वकर्णोष्ठपुष्छः। जंघाजान् रुवृत्तः समसितदशनश्चारुसंस्थानरूपो वाजी सर्वाङ्गशुद्धो भवति नरपतेः शत्रुनाशाय नृनम्'॥ र ॥ केशा मूर्घजा, बाळाः पुष्छजात्वौष्ठः उत्तरीष्ठः, पुष्छः पुष्छस्यलम् यत्रा-स्थिष्ठग्ना बाला जायन्ते, सुप्रमाणेन सुलक्षणेन शक्षगतिमुखानि यस्य। अथ मानादिवर्णनम्।—

> ' जघन्यमध्यज्येष्टानामश्वानामायातिर्भवेत् । अङ्गुळानां शतं हीनं विश्वत्यादशमिस्त्रिभिः ॥ ३ ॥ परिणाहाङ्गुळानि स्युः सप्ततिः पश्चसप्ततिः । एकाशीति समानेन त्रिविधः स्याद्यथाक्रमम् ॥ ४ ॥ तथा षष्टिश्चतुषष्टिरष्टाषष्ठः समुच्छ्यः । द्विषञ्चसप्तकयुता विशतिः स्यान्मुखायतिः । शमश्रुहीनं मुखं कान्तं प्रलम्बं तुक्कनासिकम् '॥ ५ ॥ इति

अथावतंळक्षणम्

'रन्ध्रोपरन्ध्रयोद्घीँद्घौद्घौद्घौ सप्तकवक्षसोः । प्रमाणे च छ्छाटे च ध्रुवावर्ता दशस्मृताः ॥ ६ ॥ एकोऽपि न भवेषस्य ध्रुवावर्तस्तु वाजिनः । नासौ प्रशस्तो गदितः तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥

रोमवर्ती ध्रुवावर्तः प्रमाणमुत्तरौष्ठाधो भागः । तत्र कुक्षिनामिमध्यभागे रन्ध्रस्थानम् । तदुपर्युपरन्ध्रम् ।

तथा च पराशरः —

' कुक्षिनाभ्यन्तरे रन्ध्रमुपरन्धं तथोपरि '। इति
एवं एको [७५व] रन्ध्र एकोऽप्युपरन्धे द्वयोः पार्श्वयोश्वत्वार इति ।
'ये प्रमाणगळकर्णसंस्थिताः पृष्ठमध्यनयनोपरिस्थिताः ।
ओष्ठसिक्तमुजकुक्षिपार्श्वगास्ते ळळाटसिहताः सुशोभनाः '।।८।।
प्रमाणमुक्तळक्षणम् । गळो निगाळाक्षः, पृष्ठं पर्याणस्थानम्, नयनोपरि
भूसमीपे, भुजौ प्राग्मागे, जानूपरि कुक्षिरत्र यामभागे, ळळाटं भूमध्यम् ।
अस्रुपातश्वक्षुरधीं भागः, गळं इत्कण्ठसिन्धः, कर्णनिकटभागः शङ्ककः,
जानुनी जङ्कासन्धी, ककुत् बाहुपृष्टभागः, चरणाः सर्वे पादाः ।

'कृष्णतास्तिद्विदन्तश्च यमजः कृष्णजिह्नकः। द्वानदन्तो द्विदन्तश्च द्विरापः श्वित्रवांस्तथा ॥ ९ ॥ ककुदि कृष्णपुच्छश्च मूकस्तितिरिसिन्नभः। विषमश्चेतपादश्च ध्रुवावर्तविवर्जितः । अशुभावर्तसंयुक्तो वर्जनीयस्तुरङ्गमः ॥ १० ॥ आवर्तस्तु निगास्तर्थो ज्ञेयो देवमणिः शुभः । कण्ठतो रोदमानश्च ज्ञेयावेतौ शुभाशुभौ ॥ ११ ॥ शुकेन्द्रगोपसंकाशा ये च वायससनिभाः। सुवर्णवर्णाः स्निग्धाश्च प्रशस्यन्ते सदैव ते '॥ १२ ॥

अत्र शालिहोत्रः ।-

'यः सन्नद्धो हयो रावमूर्ध्ववक्त्रं करोति हि । ख़ुरात्रेण स्पृशन्भूमिं स शंसति रणे जयम् ॥ १३ ॥

यः करोत्यसकुनमूत्रं पुरीषं चास्रमोचनम् । स शंस्रति पराभृति तथोपहतोऽपि यः ॥ १४ ॥ निमिर्मित्तं निर्शाये यो हेषते भूपतेईयः । स शंसति ध्रुवं तस्य स्थिरस्यापि प्रयाणकम् ॥ १५ ॥ स्फुल्लिङ्गा यस्य दश्यन्ते पुच्छतो विह्नसंभवाः । निर्गच्छन्तः प्रभोनीशं ते वदन्ति निशागमे ॥ ६ ॥ अश्वशालां समासाच यदा च मधुमिक्षकाः। मधुजालं प्रबच्नान्ति तदाश्वा[७६अ]न्हन्ति सर्वशः ॥ १७ ॥ ब्राह्मणं वाचयेत्तत्र नित्यं वेदविचक्षणम् । तिलहोमं तथा कुर्याज्ञपेच अतरादियम् ॥ १८ ॥ सितो रकस्तथा पीतः सारङ्गः पिङ्गः एव च। मीलः कृष्णोऽय सर्वेषां खेतः श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥ १९॥ येतः पालेयसंकाशो रक्तः कुंकुमसनिभः। इरिद्रासनिभः पीतः सारङ्गश्चित्रितः स्मृतः ॥ २०॥ पिङ्गश्च कपिलाकारो नीलो दुर्वाग्रसन्निभः । कृष्णो हस्वफलाकारः शास्त्रज्ञैः समुदाहृतः ॥ २१ ॥ पीताभः खेतपादो यस्तथा स्यात्सितछोचनः । चक्रवाकः स विज्ञेयो राजाहीं वाजिसत्तमः ॥ २२ ॥ मुखे चन्द्रकरावर्ते जम्बूफळसमाकृतिः। श्वेतपादः स विज्ञेयो मक्षिकाक्षः सुपूजितः ॥ २३ ॥ भ्रत्वारोप्यसिताः पादाः सर्वश्वेतस्य वाजिनः । भवन्ति यस्य स स्याज्यो यमदूतः स दूरतः ॥ २४ ॥ यस्य पादाः सिताः सर्वे पुच्छं वक्षो मुखं तथा । मूर्धजास्तु सिता यस्य तं विद्यादिष्टमङ्गळम् ॥ २५ ॥ भस्माभं तुर्गं जद्यात्सुचिरेण नराधिपः । यदि कर्माणि वाष्ट्रेत् स तत्करोति महद्भयम् ॥ २६ ॥

यस्य वर्णविभेदेन जायते रोमसंचयः । पुष्पाक्षः स परित्याज्यः सर्ववाजिभयावहः ॥ २७ ॥ यस्य पादाः सिताः सर्वे तथा वक्त्रं च मध्यतः । पञ्चकल्याणकः प्रोक्तः शतकल्याणकृद्धयः ॥ २८ ॥ विमिश्रवर्णकाः सर्वे प्रशस्ता वाजिनः स्मृताः । कृष्णनीलस्य मिश्रत्वमेवमुक्त्वा सुदूरतः ॥ २९ ॥ यस्य कृष्णेतरा वर्णा वृद्धिं यान्ति शनैः शनैः । नाशयन्ति तथा नीचान्स करोति जयं मुद्धः ॥ ३० ॥ यस्याधमेन वर्णेन च्छाद्यन्ते हि प्रधानकाः । वृद्धि गच्छन्ति ते सोऽपि करोति हयसंक्षयम् ॥ ३१ ॥ त्रयो यस्य ल्लाटेस्यरावर्ताश्चोत्तरोत्तराः । त्रिकृदः स परिश्वेयो वाजिन्याधिकरः परम् ॥ ३२ ॥ एवमेव प्रकारेण त्रयो ग्रीवासमाश्रयाः । वदावर्ताः स वाजीशो जायते भूपमन्दिरे ॥ ३३ ॥ लटा (७६व)टे युगलावर्तश्चन्द्रकोशः प्रकीर्तितः । वाजिनो यदि तौ स्यातां वाजिवृद्धिकरौ मतौ ॥ ३४ ॥ रोमावर्ती भवेद्यस्य वाजिनो दक्षिणाश्रयः । स करोति महत्सीख्यं स्वामिनः शिवसंज्ञितः ॥ ३५ ॥ तद्वामाश्रयः ऋरः स करोति धनक्षयम्। इन्द्राख्यावुभौ शस्तौ नृपराज्यविवृद्धिदौ ।। ३६ ॥ कर्णमूळे यदावर्तस्तन्मध्ये च तथा परः। विजयाख्याव्यो शस्तौ युद्धकाले जयप्रदौ ॥ ३७ ॥ स्कन्धपार्श्वे यदावर्त एको वा यदि वा त्रयः। चक्रवर्ती स विज्ञेयो वाजी भूपालवृद्धिदः ॥ ३८ ॥ स्कन्धे यस्य महावर्त एको वाष्टी भवन्ति च। चिन्तामणिः स विज्ञेयो वित्तवृद्धिकरो हि सः ॥ ३९ ॥ शुक्राक्षी तालुकेशस्थी चावर्ती कीर्तिवृद्धिदौ । यो हयः स्वामिभक्तोऽसौ सदैव च सुखावहः ॥ ४० ॥

जानुदेशे यदावर्ती भवेषस्य च वाजिनः ।
प्रवासं सततं ब्रूते स भर्तुः क्वेशसंयुतम् ॥ ४१ ॥
वाजी मेढ्रतलावर्ती वर्जनीयो महीभुजा ।
स करोति परं नाशं परस्परसमुद्भवम् ॥ ६२ ॥
पृष्ठवंशे यदावर्ती यस्यैकः संप्रजायते ।
धूमकेतुरिति ख्यातः स त्याज्यो दूरतः बुधैः ॥ ४३ ॥
ग्रुह्णे पन्ने गन्ने यस्य भवन्त्यावर्तकास्त्रयः ।
स कृतान्तसुरूपेण वर्जनीयस्तुरङ्गमः ॥ ४४ ॥
षट्पदाभो भवेषस्य कृष्णतालुने दुष्यति ।
शुक्रपादमुखो वाथ आवर्तेः कुत्सितैः परैः ' ॥ ४५ ॥

अत्र वराहाचार्यः।---

' चन्द्रांशुश्चास्तुरगाः प्रशस्ताः कर्णान्तकेशैर्गवळाळिवणैः । ये रक्तवणीश्च समप्रपादैः शुक्काश्च वर्णेन महानुभाषाः '॥१६॥ कान्तिळक्षणमाह वर्रुचेः ।—

> ' बालाकीभिप्रवालद्वतकनकिमा विद्विजयर्यवृद्धयै नीलाम्भोजाभवणी भवति सिल्लिजा सर्वदुःखापद्दर्शि । गम्भीरा नीलवर्णा दिशति च तुरगे पार्थिवी सर्वकामा वायन्यारूक्षवर्णा त्वशुभफलकरी निन्दिता न्योमजा च' ॥४७॥

गतिरुक्षणं चाह वराहाचार्यः ।---

' त्वरित[७७अ]गतिविद्यासैविक्षिपन्पादमुखैर्वजति नकुलगामी कम्पयन्स्वं शिखाप्रम् ।
अथ विकटखुराप्रैर्दद्यमानो यथोवीम्
स्पृशति चरणपातैस्तैत्तिरं चैव यातम् ॥ ४८॥
स्थिरपदिनहतांसो दूरमुन्नम्य वक्त्रम्
त्रजति च सुविद्यासं बर्दिवद्विद्दिगामी ।
सुगतमथ तुरङ्गं योऽधिरुद्यामिगच्छेत्
स भवति सुखगामी शत्रुनाशं च कुर्याद् '॥ ४९॥

अथ महिषवराहश्चोष्ट्रमाजीरगामी कपिकरटशृगालैरतुल्यगामी च योऽश्वः । स दिशति धननाशं शत्रुनाशं च कुर्यात् भवति न च सुखाय स्वामिनः शोकदाता ' ॥ ५० ॥ शत्रुभ्यो नाशः शत्रुनाश इति पश्चमीति योगविभागात्पञ्चमीसमासः ।

अथ स्वरलक्षणम् ।

' भेरीशङ्खनृसिंहद्विपपवनवृषित्वग्धगम्भीरनादाः वीणा-पुरकोिकछानां मधुरपटुरवा वाजिनो राजवाहाः । काकोछकोष्ट्रमासश्च खरचकरवा रूक्षविच्छिन्नघोषा अन्ये चेत्थं प्रकारास्त्वशुभफरुकरा हानिशोकप्रदाश्च '॥५१॥ सायं ग्रीष्मे तु शरदि प्राताश्चं च वहेत्सदा। वर्षासु न वहेदीषत्तथा विषमभूमिषु॥ ५२॥

अत्रोशनाः । ---

' सायं प्रातश्च हेमन्ते शिशिरे कुसुमागमे । सुगत्याग्निर्वछं दार्द्यमारोग्यं वर्धते हरेः । भारमार्गपरिश्रान्तं शनैश्चंत्रमयेद्धयम् ॥ ५१-॥ गच्छेत्षोडशमात्राभिरुत्तमाश्चो धनुःशतम् । यथा यथा न्यूनगतिरश्चो हीनस्तथा तथा '॥ ५४॥

अथ गतिशिक्षानिद्धपणम् ।

' सहस्रचापप्रमितं मण्डलं गतिशिक्षणे । उत्तमं वाजिनो मध्यं तदर्धं च तदर्धकम् ॥ अल्पं शतधनुः प्रोक्तमल्पं च तदर्धकम् ॥ ५५ ॥ शतयोजनगन्ता स्यादिनैकेन यथा हयः । गतिं संवर्धयेनित्यं तथा मण्डलविक्रमैः ॥ ५६ ॥

अथ क्षाताडनवेला स्था[७७ब]नकथनम्।

' हेषायां स्कन्ध उदिष्टः स्खिलिते जघनान्तरम् । भीतौ वक्षःस्थलं इन्याद्रक्त्रं चोन्मार्गगामिनि ।। ५७ ॥ कुपिते पुच्छसंस्थानं भ्रान्ते जानुद्रयं तथा 1।

अथ भार्गवः |---

हेषिते कक्ष्ययोर्हन्यात्स्खिलेते पक्षयोस्तथा ॥ ५८ ॥
भीतौ कलौत्तरे चैव प्रीवासून्मार्गगामिनि ।
कुपिते बाहुमध्ये च भ्रान्तित्ति तथोदरे ॥ ५९ ॥
अश्वं संताडयेत्प्राज्ञो नान्यस्थानेषु कार्हिचित् ।
सर्वथा प्राप्तदण्डस्य दण्डमेकं निपातयेत् ॥ ६० ॥
अस्थाने ताडितो वाजी बहुदोषं प्रकुप्यति ।
तावद्भवन्ति ते दोषा यावद्वाजी स जीवति ' ॥ ६१ ॥

अथैषां वयोमान छक्षणम् ।

'षड्भिर्दन्तैः सितामैर्भवति हयशिशुस्तैः कषायैर्द्विवर्षः सन्दंरयैर्मध्यमान्त्यैः पतितसमुदितैस्त्रयान्धिपश्चान्दिकाश्वः । सन्दंशानुक्रमेण त्रिकपरिगणिताः कालिकाः पीतशुक्ताः काचा मक्षीकशक्कावटचलनमतो दन्तपातं च विद्धि '।। ६२ ॥

अत्रार्थः । अस्वानामधोदन्तपाल्यां दंष्ट्रोभयमध्ये षट् दन्ताः । तैः षड्भिर्दन्तैरम्नवितिमिर्द्वयोरिप पाल्येः सितामैः शिशुरेकवर्षाराद्यश्चो ह्रेय इति । तैरिति । तैः षड्भिर्दन्तैः कषायैः कृष्णलोहितवर्णैः द्विष्विः । संदंशेति दन्त-पाल्यः सममध्यवर्तिनौ द्वौ द्वौ दन्तौ संदंशानुच्यते । तत्पार्श्ववर्येकैको मध्यमः । तयश्च संदंशैः पतितसमुदितैश्विवर्षः । मध्यमैः पतितसमुदितैश्विद्वर्षः । अन्त्यैः पतितसमुदितैश्ववर्षः । मध्यमैः पतितसमुदितैश्ववर्षः । अन्त्यैः पतितसमुदितैः पश्चाच्द इति संदंशानुक्रमेणेति । अयमर्थः । संदंशदन्तेषु चोत्कालिका कृष्णिबन्दुस्तदा षड्वर्षः । मध्यमेषु चेत्सप्ताच्दः । अन्त्येषु चेदष्टाच्दः । एवं संदंशानुक्रमेण पीतिबम्बावेका-दशाच्दः । तत्राप्ययं क्रमः । संदंशेषु न[७८अ]वमाच्दः । मध्यमेषुः दशाच्दः । अन्त्येष्वेकादशाच्दः । इति । एवमप्रेऽपि । संदंशमध्यमान्यक्रमेण क्रमो ह्रेयः । अतश्व शुक्किवन्दौ चतुर्दशाच्दः । काचवल्लौ सप्तदशाच्दः । मश्चिकाकृतौ विश्वत्यव्दः । शक्वति त्राच्दः । पत्ति व्याच्दः । अवटे च्छिद्विनदौ षड्विशाच्दः । चल्वने कम्पने एकित्रिश्वद्दः । पत्तने द्वात्रिश्चद्दः । एकमन्तरे मध्यमान्तक्रमेण

क्रमो क्रेयः । द्वात्रिंशदब्द एव ह्यश्वस्य परमायुरिति । द्वात्रिंशदब्दप्राप्तः परमायुः प्राप्त इति । तथा च मुनिमतम् ।

'समाः षष्टिद्विन्ना (१२५) मनुजकिरणां पश्च च निशा हयानां(३२)द्वात्रिंशस्वरकरभयोः पश्चककृतिः(२५) । विरूपासाद्वायु (२४) र्वृषभमिहिषयीद्वाद्वश(१२) शुनः स्मृतं छागादीनां दशकसिहताषट्(१६) च परमम् ॥ ६३ ॥ इत्यश्चलक्षणस्त्वकोऽयं समाप्तः

अथास्रोङ्गितच्क्षणम् ।

' उत्सर्गात्र शुभदमासनात्परस्यं वामे च ज्वलनमतोऽपरं प्रशस्तम् । सर्वाङ्गज्वलनमवृद्धिदं हयानां द्वे वर्षे दहनकणाश्च धूपनं वा ' ॥ ६४ ॥ आसनं पर्याणस्थानम् । तस्मात्पश्चिमभागे वामपार्श्वे ज्वलनं शुभम् । अञ्चानामुत्पातवशेन ज्वालारूपमवयवेषु दृश्यते तत्रोत्सर्गोऽयं यदपरभागतद्वामं । पार्श्वज्वलनमशुभमिति ।

' अन्तःपुरं नारामुपैति मेढ्रे कोराः क्षयं यात्युद्धरे प्रदीप्ते । पायौ च पुच्छे च पराजयः स्याद्धक्त्रोत्तमाङ्गञ्बल्धने जयश्व'॥६५॥ उत्पातरूपत्वे सत्यिप जयादिफल्कथनं न विरुध्यते रामसूचकत्वाद्ध्यः पयातस्य । तथा च रामाराभसूचको महाभूतविकार इति तल्लक्षणम्।

' नासापुटप्रोथशिरोऽश्रुपाते[७८व]नेत्रेषु रात्रौ ष्वलनं जयाय । पलाशताम्नासितकर्बुराणां नित्यं सिताभस्य शुकस्य चेष्टम्'। ६६॥ एतद्बाह्याङ्गानामेकतमस्य द्वयोर्बहूनां निशि दिने च व्वलनं शस्तमिति ।

'प्रदेशो यवसाम्भसां प्रपतनं स्वेदो निमित्तं विना कम्पो वा वदनाच रक्तपतनं घूमस्य वा संभवः । अस्वप्रश्च विरोधिनां निशि दिवा निद्रालसध्यानतां सादोऽधोमुखता विचेष्टितमिदं नेष्टं स्मृतं वाजिनाम् '।। ६७॥

यवस्तुणादेः विरोधितां वाजिनां रात्रौ परस्परं वैरं कुर्वन्ता जागरणिनिति ।

' आरोहणमन्यवाजिनां पर्याणादियुतस्य वाजिनः । उपवाद्यतुरङ्गमस्य वा कल्पस्यैव विपन्नशोभना ' ॥ ६८ ॥

¹ Corrupt.

अदिना पुरुषयुतस्यान्यवाजिनामुपर्यारोहणं नेष्टम् । उपवाद्येति यस्मि-न्वत्यहमारुद्यते तस्याकस्मान्मरणं नेष्टमिति ।

'क्रीञ्चवद्रिपुवधाय हेषितं ग्रीवया त्वचलया च सोन्मुखम् । क्रिग्यमुखमनुनादि इष्टवद्ग्रासरुद्धवदनेश्व वाजिभिः ॥ ६९ ॥ पूर्णपात्रदिधितप्रदेवतागन्धपुष्पप्तलकाञ्चनादि वा । इञ्यमिष्टमयवा परं भवेद्धेषतां यदि समीपतो जयः ॥ ७० ॥ भक्ष्यपानखालिनाभिनन्दिनः पत्युरीपयिकनन्दिनोऽयवा । सञ्यपार्श्वगतदृष्टयोऽयवा वाञ्छितार्थप्रलद्गस्तुरङ्गमाः'॥ ७१ ॥

सन्यपार्श्वमात्मीयदक्षिणपार्श्वम् ।

'वामेश्व पादैरमिताडयन्तो मही प्रवासाय भवन्ति मर्तुः । सन्ध्यास दीप्तामवलोकयन्तो हेषन्ति चेर्बन्धपराजयाय । ॥७२॥ सन्ध्यास्विती सूर्योदयमध्याहसायमधरात्रेषु दीप्तां दिशमवलोकयन्तो हेषन्ति । ' अतीव हेषन्ति किरन्ति बालानिदारताश्व प्रवदन्ति यात्राम् । रोमस्यजो दीनखरस्वनाश्व पांसून्प्रसन्तश्व भयाय दृष्टाः' ॥७३॥ बालाः पुण्छस्याः ।

समुद्रवद्दक्षिण[७९अ]पार्श्वशायिनः पदं समुद्धिप्य च दक्षिणं स्थिताः । जयाय रोषेण्यपि वाहनेष्यदं फलं यथासंभवमादिरोद्ध्यः '॥ ७४॥ समुद्रवत् जानुनी योजयित्वा रोषेषु गजकरमादिषु यथा संभवमिति तेषां धूमामिकणामानात् ।

भाराहति क्षितिपतौ विनयोपपनो
यात्रानुगोऽन्यतुरगं प्रतिहेषते च ।
वस्रेण वा रपृशति दक्षिणमात्मपार्श्व
योऽसः स भर्तुः विराद्यविनोति छक्ष्मीम् ॥ ७५ ॥
मुह्रभुंहर्म् त्रशक्तकरोति न ताड्यमानोप्यनुछोमयायी ।
अकार्यमीतोऽश्रुविछोचनश्च शिवं न मर्तुस्तुरगोऽभिधत्ते ' ॥७६॥
अकार्यभीतो मशकसूकरादिविना ।
इति राजोपकरणप्रकाण्ये वाजिलश्रणात्मास्य समामा ।

्इति राजोपकरणप्रकाण्डे वाजिलक्षणशाखा समाप्ता । इसुमं चाष्टानवतितम् ।

[99]

अयोदिष्टक्रमानुसारेणावसरप्राप्तं रयळक्षणं यद्यप्यस्ति तथापि तस्य निर्मेय-त्वानिर्माणस्य च स्वेच्छाघीनत्त्वादिभादिवद्वैयोपादेयतायोगाभावाळक्षणं विस्तर्रम्यात्र वितन्यते । तथापि संक्षेपेण तस्वरूपम् । यथा—

> ' छोहसारमयश्वक्रसुगमो मञ्चकासनः । स्वान्दोछाचित्तरूढस्तु' मध्यमासनसारथिः ।। १ ॥ रास्त्रास्त्रसन्धार्युदर इष्टच्छायो मनोरमः । एवंविधो रथो राज्ञा रक्ष्यो नित्यं सदश्वकः ' ॥ २ ॥

अथ छत्ररुक्षणम्

'मयूरहंसपुच्छस्रशुकसारसपक्षजम् । बलाकापत्रजं वापि छत्रं धार्यं तथैकजम् ॥ ३ ॥ मिश्रपक्षं न कर्तव्यं दुकुलेन तदच्छादयेत् । वृत्तं चित्रपताकाभिभिरितं मौकिकोम्भितम् ॥ ४ ॥ दण्डोऽस्य कार्यः सौवर्णो नवसप्ताष्टपर्ववान् । षड्हस्तो चपते राज्ञी-कुमारा विप्रमान्त्रिणाम्' ॥ ५ ॥ सार्धपश्चकहस्तोऽन्याविकृतां पञ्चहस्तकः । चतुर्हस्तो परेषां च विप्राणां चतुरश्रकम् ॥ ६ ॥ वृत्तमेव तथान्येषां व्यासादण्डार्घमेव च । [७९व]स्वर्णरौप्यप्रवालानां ताम्रवेडूर्ययोरिष ॥ ७ ॥ चन्दनक्षीरिवृक्षस्य स्वर्णरुक्मोम्भितोमनः । स्वर्णरौप्यमयश्वापि चित्ररत्नविभूषितः । दण्डः कार्यश्च रक्षेषा भूभुजां भूमिरक्षिणाम् ' ॥ ८ ॥

वराहस्तु पर्वफलमाहः--

'मातृ २ म् ४ धन ६ कुळक्षयावहा १० रोग मृत्युजननाश्च पर्वभिः। द्वयादिभिद्धिकविवर्धितैः क्रमात् द्वादशान्तविरतैः समैः फळम् '।।९।। समैः समसङ्ख्याकैः, तस्माद्वादशान्तं समपर्वकळनायां चतुःषट्दशाष्टद्वाशः सङ्ख्यायां विकल्पः। विषमपूर्वफळं च स एवाह ।

¹ Corrupt.

' यात्रा प्रसिद्धि ३ दिर्षतां विनाशो छाभाः प्रभूता वसुधागमश्च । वृद्धिः पश्च(११)नाममभिवाञ्छिताप्ति(१३)स्त्र्याचेष्वयुग्मेषु-तदीश्वराणाम् ' ॥ १० ॥ इति

तस्मात्त्रयोदशतः परं फलमात्रं न विशेषफलमिति सिद्धम्।

इति छत्रलक्षणाभिधं क्रसुममेकोनश्चतम् ।

[१००]

अथ चामरळक्षणम् ।

' देवैश्वमर्यः किल बालहेतोः सृष्टा हिमक्ष्माधरकन्दरेषु । आपीतवर्णाश्व भवन्ति तासां कृष्णाश्व लाङ्गूलभवाः सिताश्व'।।१॥ इति बालैककारणत्वात्तासां ताभ्यश्वामरार्थं बालादाने न काचिष्लंकेति मुनिमतम् ।

तत्र महाराजचामरे विशेषः ।---

'एकतः शुक्कवर्णं तत्परतोऽसितवर्णकम् ।

भालयेच महीपानां जाप्रतामनुवासरम् ॥ २ ॥

शोभैषेषां स्मृतिश्वेषां शुद्धानां पालनादयः ।

पापिनां तु सदा कार्यमिति तद्द्वयमर्थवत् ॥ ३ ॥

अध्यर्धहस्तप्रमितोऽस्य दण्डो हस्तोऽथवारत्रिसमोऽनुरूपः ।

काष्टाच्छुभात्काञ्चनरोप्यगुप्ताद्रत्नैस्तथा नात्र मतश्च वेणुः '॥ ४ ॥

नात्र मतश्च वेणुरिति विधानाच्छत्रदण्डवेणोरप्योचितीति ।

'यष्ट्यातपत्राङ्कुरावेत्रचापवितानकुन्तच्वजचामराणाम् ।

व्यापीततन्त्री मधुकृष्णवर्णा वर्णक्रमे[८०अ]णैव भवन्ति दण्डाः'॥५ व्यापीतो ब्राह्मणस्येत्यादि क्रमेण वर्णाः। तन्त्रीवर्णः पीतलोहितः, मधुवर्ण ईषत्पीतः।

इति चामरलक्षणम् ।

¹ Corrupt.

[१०१]

अधासनलक्षणम् ।

'क्षीरवृक्षोद्भवं कार्यं राजमद्रासनं शुभम् । अध्यधिहस्तमुच्छाया त्रिहस्तो विस्तरात्त्रया ॥ १ ॥ अधिमायामतस्तच चतुरस्रं हितप्रदम् । नाष्टाश्चिँजा तु तत्कार्यं न वृत्तं दीर्घमेव च ॥ २ ॥ स्ववर्णरौप्यतामैश्च चित्रितं रचनायुतम् । प्रशस्तरत्नभिरतं तच्च कार्यं विचक्षणैः ॥ ३ ॥ न रत्नप्रतिरूपश्च विधेयं तच्छुभार्थिभिः । चत्वारः पुरुषास्तस्य विन्यस्यादिद्रगुणास्तथा ॥ ४ ॥ सिद्दास्तदि्द्रगुणादास्यो विभूतिसुखमिच्छता । तत्रापि त्रष्टभिरतं राज्ञः कार्यं सुखासनम् ॥ ५ ॥ वैय्याघ्रचर्मास्तरणं तदुर्धं च वरासनम् ' ॥ ६ ॥

अत्र वराहाचार्यः काष्ट्रविशेषेण फलमाह ।

'यः सर्वः श्रीपण्या पर्यङ्को निर्मितः स धनदाता । असनकृतो रोगहरितंदुकसारेण वित्तकरः ॥ ७ ॥ यः केवलशिंशपया विनिर्मितो बहुविधं स वृद्धिकरः । चन्दनमयो रिपुन्नो धर्मयशोदीर्घजीवितकृत् ॥ ८ ॥ यः पर्मकपर्यङ्कः स दीर्घमायुः श्रियं श्रुतं वित्तम् । कुरुते शालेन कृतः कल्याणं शाकरिचतश्च ॥ ९ ॥ केवलचन्दनरिचतं काञ्चनगुतं विचित्ररत्नयुतम् । अध्यासन्पर्यङ्कं विज्ववैरिप प्ज्यते नृपितः ॥ १० ॥ शुमदौ तु सालशाकौ परस्परं संयुतौ पृथक्चैव । तद्वत् पृथक्ष्रशरस्तौ सिहतौ च हरिद्रककदम्बौ ॥ ११ ॥ अम्मःस्पन्दनचन्दनवृक्षाणां स्पन्दनाच्छुभाः पादाः । फलतरुणा शयनासनिष्टफलं भवति सर्वेण ॥ १२ ॥ गजदन्तः सर्वेषां प्रोक्ततरूणां प्रशस्यते योगे । कार्योऽलङ्कारविधर्गजदन्तेन प्रशस्तेन ॥ १३ ॥ कार्योऽलङ्कारविधर्गजदन्तेन प्रशस्तेन ॥ १३ ॥

¹ Corrupt.

प्रशस्तेनेत्युक्तं तत्र च्छेदवेलायामङ्कानुसारेण फलं गजचेष्टितेषूह्यम् ।
[८०अ]एकद्रुमेण धन्यं वृक्षद्वयानिर्मितं च धन्यतरम् ।
त्रिमिरात्मजवृद्धिकरं चतुर्मिर्थं यशश्चाप्रयम् ।। १४ ॥
पञ्चवनस्पतिरचिते पञ्चत्वं याति तत्र यः शेते ।
षष्ट्मप्ताष्टनवकाणां काष्टेविटिते कुलविनाशः ।। १५ ॥

इत्यासनलक्षणं कुसुमम्॥

[१०२]

अत्रैव प्रसङ्गात्वस्त्रासनगतः फलविशेषो लिख्यते ।

वलस्य कोणेषु वसन्ति देवा नराश्च पाशान्तदशान्तमध्ये । शेषासयश्चात्र निशान्तरांशास्त्येव शय्यासनपादुकासु ॥ १ ॥ छिते मधीगोमयकर्दमादैश्छिनैः प्रदग्धे स्फुटिते च विन्दात् । पुष्टं नवेऽल्पाल्पतरं च सुङ्के पापं शुमं चाधिकमुत्तरीये ॥२॥ रुप्राक्षसांशेष्वयवापि मृत्युः पुंजन्मतेजश्च मनुष्यमागे । भागेऽमराणामय भोगवृद्धिः प्रान्तेषु सर्वत्र वदन्त्यानिष्टम् ॥ ३ ॥ कञ्चप्रवोद्धककपोतकाकत्रव्यादगोमायुखरोष्ट्रसर्पैः । छेदाक्रुतिर्दैवतभागगापि पुंसां भयं मृत्युसमं करोति ॥ ४ ॥

इति वस्त्रासनलक्षणाभिधं कुसुमम्।

[१०३]

अथ शरलक्षणम्।

शरत्काले प्रहीतन्या वंशाः काञ्चीकीरात्तजाः । कुमारजन्मभूजा वा शरांस्तेषां प्रकल्पयेत् ॥ १ ॥ क्रिम्या निमम्पर्वाणीः सारवन्तः समाहिताः । रजवो मधुवर्णामाः सुजाता शरदादृद्धाः ॥ २ ॥ स्नायुश्चिष्टा सुनेत्राश्च सुपुङ्खा कलनासमाः । तैक्ष्ण्यधौताश्च कर्तन्या रुक्मपुङ्खविभूषिताः ॥ ३ ॥ तथा विषमपर्वाणाः फलैश्च व्रजवर्जितैः ।
एकिष्ठपुङ्खः कर्तव्यो राजहंसच्छरोत्तरः ॥ ४॥
रुक्मपुङ्खः सुवर्णाग्रोऽप्ययाफलसुभूषितः ।
स्नायुबद्धं बलं तस्य रुक्मबद्धं च कारयेत् ॥ ५॥
वर्णेश्च छक्षणोपेतैश्चित्रितं तं प्रकल्पयेत् ।
प्रहणं तस्य कर्तव्यं सांवत्सरकरात्रृषैः ॥
तस्याची च सदा कार्या साभिषेकसमा भवेत् ॥ ६ ॥

इति शरलक्षणाच्यं कुसुमम्।

अथ धनुर्रुक्षणम्

(८१अ) शृङ्गं दारु च लोहं च धनुईव्यं गुणस्य च । वंशत्वग्मङ्गचर्माणि वांशे ये च त्वचो गुणाः ॥ १ ॥ अन्ययोश्वर्ममङ्गोत्थो नो मानं शार्ङ्गलौहयोः । दारुचापश्चतुर्हस्तस्तदधीनस्निधा मतः श्रेष्ठादिमेदात्तन्मध्यं वृत्तं मुष्ट्यर्हमुच्यते ॥ २ ॥ गुणस्य चेति गुणस्य ज्याया अपि द्रव्यं त्रितयमिति शेषः ।

तदाह वंशत्विगति । तत्र वंशरचिते धनुषि वंशत्वगेव गुणः अन्ययोस्तु शार्क्तिछौहयोश्चर्ममयो वंशभङ्गोत्यो वेति । अन्यत्स्पष्टम् ।

> स्वरुपा कोटिस्तु वार्क्षाणां शार्क्क छोहमये पुनः । कामिनीभू छताकारा कोटिः कार्या सुसंस्कृता ॥ ३ ॥ पृथग्वा दारुमिश्रे वा छोहशाङ्गें तु कारयेत् । शार्क्कस्नायुचितं कार्य रौक्यबिंदुविभूषितम् ॥ ४ ॥ विद्युद्दग्धादि वृक्षोत्यं काष्ठं यत्नेन वर्जयेत् । सजातिहतशृक्कं च छोहं तत्स्याचतुर्विधम् ॥ ५ ॥ स्ववर्णं रजतं तामं कार्णायसमथापि वा । सरत्नं तत्र सौवर्णं शार्क्कं त्रिविधमुच्यते ॥ ६ ॥

¹ Corrupt.

माहिषं शारमं चैव रौहितं वृक्षजेषु च ।
अष्टस्वय्यिकमुक्तं चान्द्रनं वैतसं तथा ॥ ७ ॥
सालशाल्मलिशालानां ककुमस्यार्जुनस्य च ।
वंशस्य च तदुत्पन्नं काष्ठं तल शुमं विदुः ॥ ८ ॥
वंशो गङ्गातटाजातो गोमत्याः साल एव च ।
वेतसश्च वितस्ताया धनुष्कमणि शस्यते ॥ ९ ॥
राज्ञा चापस्य कर्तव्या पूजा शरवरस्य च ।
खण्डस्य च विशेषेण स्थितिश्वेषा स्ररालये ॥ १९ ॥

इति धनुरुक्षणकुसुमम्।।

[१०५]

अथ रत्नलक्षणम्।

तत्र पराशरस्तदुत्पत्तिप्रकारमाह ।

मुवः प्रभावाङ्जातानि रत्नानि विविधानि च ।
शिलाश्च रत्नरूपत्यं कालाद्गच्छिन्ति च स्वयम् ॥ १ (।
वजेन्द्रनीरूमरकतर्केकतरपद्मरागरुधिराख्याः ।
वैद्ध्यपुलकविमलकराजमणिस्पिटिकशशिकान्ताः ॥२॥
[८१व] सौगन्धिकगोमेदकशङ्खमहानीलपुष्परागाख्याः ।
ब्रह्ममणि ज्योतीरससस्यकमुक्ताप्रवालानि ॥ ३ ॥
सर्वाण्येतानि शस्तानि धार्याण्येव महीमुना।
सुवर्णप्रतिबद्धानि जयारोग्यसमृद्धये ॥ १ ॥

अत्र वराहमिहिरः।

रत्नेन शुभेन शुभं भवति चृपाणामनिष्टमशुभेन । यस्मादतः परीक्ष्यं दैवं रत्नाश्चितं तज्झेः ॥ ५ ॥ रत्नजातिषु सर्वासु चत्वार्युरकृष्टतापदम् । वज्रं मीक्तिकशोणे च नीकं तल्लक्षणं बुवे ॥ ६ ॥ तेषां गुरुत्वं रागश्च स्वच्छत्वं रिमशालिता ।
अन्तःप्रभत्वं वैमल्यं सुसंस्थानत्वमेव च ॥ ७ ॥
गुणवन्तो विनिर्दिष्टा धार्यास्ते गुणसंयुताः ।
खण्डाः सशर्करा ये च निष्प्रभा मिलनास्तथा ॥
न ते धार्या नरेन्द्राणां जयश्रीजीवितैषिणाम् ॥ ८ ॥
इति सामान्यळक्षणम् । अथ विशेषळक्षणे सर्धरत्नमूर्धन्यवज्रळक्षणम् ।
अम्भस्तरति यद्वज्रमभेषं विमळं च यत् ।
षट्कोणं छघु शुद्धं तद्धार्यं वज्रं महीक्षिता ॥ ९ ॥
प्रभा च शक्वचापामा यस्याकीमिमुखी भवेत् ।
तं वज्रं धारयत्राजा सर्वाक्षयति शास्त्रवान् ॥ १० ॥

अत्र वराहाचार्यः ।---

रक्तं पीतं च शुभं राजन्यानां सितं तु विष्राणाम् । श्रैरीषं वैश्यानां शृदाणां शस्यतेऽसिनिभम् ॥ ११॥

शैरीषं ग्रुक्छपीतम् । अग्रुभवज्रस्क्षणानि स एवाह ।

काकपदमक्षिकाकेशधातुयुक्तानि शर्करैविद्धम् ।

द्वियुणात्रि दग्धकछषत्रस्तविशोणीनि न ग्रुभानि ॥ १२ ॥

हिगुणाश्रिदिगुणाभी रश्मिभर्युतम् ।

यानि च बुद्बुददिलताप्रचिपिटवासीफलप्रदीर्घाणि ।
सर्वेषां चैतेषां मूल्याद्वागोऽष्टमो हानिः ॥ १३ ॥
वक्रं न किञ्चिदपि धारयितव्यमेके
पुत्रार्थिनीमिरवलामिरुशन्ति बज्जाः ।
शृङ्गाटकत्रिपुटधान्यकसंस्थितं य —
च्छ्रोगीनिमं च[८२अ] ग्रुमदं तनयार्थिनीनाम् ॥ १४ ॥
स्वजनविभवजीक्तिक्षयं जनयित वज्रमनिष्टलक्षणम् ।
अश्निमयविषादिनाशनं ग्रुभमुपभोगकरं च भूभुजाम् ॥१५॥
अश्नीतदन्मुल्यकथनम् । तत्रादौ तद्वुपयोगिमानकथनम् ।

सितसर्षपाष्टकं तण्डुको भवेत्तण्डुकैस्तु विंशस्या । तुकितस्य द्वे रुक्षे मूल्यं द्विद्वयूनिते चैतत् ॥ १६ ॥ पादञ्यंशार्थोनं त्रिभागपद्मांशषोडशांशाश्च । भागश्च पञ्चाविशः शतिकः साहस्रिकश्चेवम् ॥ १७ ॥

अत्रार्थः । विंशतितण्डुळप्रमितस्य हीरस्य कार्षापणानां द्वे लक्षे मूल्यम् । द्विद्वयूनितस्यास्य द्वाभ्यां द्वाभ्यां तण्डुलाभ्याम् नितस्य पादेत्यादिमूल्यम् । तथा च अष्टादशतण्डुलमितस्य पादेत्यादिमूल्यम् । तथा च अष्टादशतण्डुलमितस्य पादोनं लक्षद्वयम् । षोडशमितस्य त्रिभागहीनम् । चतुर्दशमितस्याधेमेकलक्षः मितियावत् । द्वादशमितस्य लक्षतृत्वीयांशो मूल्यम् षष्ट्यधिकसषट्शतषट्षष्टिसहस्ताणि । दशमितस्य पश्चांशः चत्वारिंशत्सहस्राणि । अष्टमितस्य षोडशांशाः साधिद्वादशसहस्राणि । षण्मितस्य पश्चविंशो भागः अष्टसहस्राणि । चतुर्मितस्य शतांशः सहस्रद्वयम् । द्विमितस्य सहस्रांशः शतद्वयम् । अन्तरे स्वधियोद्यम् ।

अयेतद्भेदानिरूपणम् ।

वेण्णातटे विशुद्धं शिरीषकुषुमप्रमं कौसलकम् ।
सौराष्ट्रिकमाताम्रं वज्रं कृष्णं तु शूर्परके ॥ १८ ॥
शिरीषकुषुमप्रमं खेतपीतप्रभम् । आताम्रमीषदक्तम् ।
ईषत्ताम्रं हिमवति मतङ्गजं वळ्ळपुष्पसंकाशम् ।
आपीतं च कलिङ्गे स्थामं पौण्ड्रेषु संजातम् ॥ १९ ॥
र्वित्ताम्रमत्राताम्रवर्णम् । वळ्ळपुष्पसंकाशं मनाक् पाण्डुरम् ।
अथैषां देवताकथनम्

ऐदं षडिश्र शुक्तं याम्यं सर्पास्यरूपमसितं च ।

कदलीकाण्डिनिकाशं वैण्णविमिति[८२व]सर्वसंस्थानम् ॥ २०॥

ऐन्द्रिमिन्द्रदैवतम् । सर्पास्यरूपं सर्पमुखरूपम् । कदलीकाण्डिनिकाशं पीतनीलम् ।

वारुणमवलागुद्धोपमं भवेत्काणिकारपुष्पनिभम् । शृङ्गाटकसंस्थानं व्याघाक्षिनिभं च होतभुजम् ॥ २१॥ अवलागुद्योपमं शृङ्गाटकसंस्थानं त्रिकोणम् । व्याघाक्षिनिभं नीललोहितम्। वायन्यं च यवोपममशोककुमुगोपमं समुद्दिष्टम् । स्रोतः खनिः प्रकीर्णकमित्याकरसंभविश्वविधः ॥ २२ ॥ यवोपमं मध्यस्थूलम् । अशोककुमुमोपमं लोहितम् । स्रोतो जलप्रवाहः । खनिराकरः । प्रकीर्णकं यस्यां भूमौ मणयो जायन्ते यथा समुद्रे । इति वज्र-स्त्रिविधः ।

इति हीरमणिनिरूपणारुयं कुसुमम्।

[१०६]

अथैतदधरवार्तमुक्ताळक्षणम् । अत्र वराह एतद्धरपित्रस्थानानि विन्त । हिप्रमुजगशुक्तिशङ्खाभवेणुतिमिस्करप्रस्तानि । मुक्ताफळानि तेषां बहुसाधु च शुक्तिजं भवति ॥ १ ॥ सिंहळकपारलोकिकसौराष्ट्रिकताम्रपणिपारर्शवाः । कौवेर्यपाण्ड्यवाटकहैमक इत्याकरा अष्टौ ॥ २ ॥ हैमको हिमवान् । मार्कण्डेयः ।—

मौक्तिकानां तु सर्वेषां वृत्तत्वं गुण उच्यते । स्वच्छता सुशुक्रत्वं महत्तं चापि कीर्तितम् ॥ ३ ॥

थराहाचार्यः ।-

ऐरावतकुलजानां पुष्यश्रवणेन्दुसूर्यदिवसेषु । ये चोत्तरायणभवा प्रहणेऽर्केन्दोश्व भद्रेभाः ॥ ४ ॥ ऐरावतकुलजातानामेतादशयोगजातानां भद्राख्यजातानां च कुम्भकुहरेषु

मुक्ता जायन्ते । तथा च-

तेषां किल जायन्ते मुक्ताः कुम्भेषु सरदकोशेषु।
बहवो बृहत्प्रमाणा बहुसंस्थानाः प्रभायुक्ताः ॥ ५ ॥
नैषामर्धः कार्यो न च वेघोऽतीव ते प्रभायुक्ताः।
सुतविजयारोग्यकरा महापवित्रा घृता राज्ञाम् ॥ ६ ॥

द्रंष्ट्रामूळे शशिकान्तिसप्रभं बुहुगुणं च वारा[८२अ]हम् । तिमिजं मल्याक्षिनिभं महत्पत्रित्रं विजयदं च ।। ७ ।। वर्षोपलवञ्जातं वायस्कन्धाच सप्तमाद्रष्टम् । हियते किल खाइियोस्ताडिस्प्रमं मेघसंभूतम् ॥ ८ ॥ तक्षकवास्रिककलजाः कामगमा ये च पत्रगास्तेषाम्। स्तिग्वा नीलवत्यो भवन्ति मुक्ताः फणाप्राप्ताः ॥ ९ ॥ शस्तेऽवनिप्रदेशे रजतमये भाजने स्थिते च यदि । वर्षति देवोऽकस्मात्तज्ज्ञेयं नागसंभूतम् ॥ १०॥ अपहरति विषमळक्ष्मीं क्षपयति शूत्रन्यशो विकासयति । भौजङ्गं नृपतीनां धृतमकृतार्घं विजयदं च ॥ ११ ॥ कर्परस्फटिकनिमं चिपिटं विषमं च वेणुजं ज्ञेयम् ! शक्कोद्भवं अशिनिभं वृत्तं श्राजिष्णु रुचिरं च ॥ १२ ॥ शङ्कतिमिवेणवारणवराह्मजगाभजान्यवेष्यानि । अमितगुणत्वात्तेषामर्षः शास्त्रे न निर्दिष्टः ॥ १३ ॥ एतानि सर्वाणि महागुणानि सुतार्थसौभाग्ययशस्कराणि । रुक्शोकहन्तृणि च पार्थिवानां मुक्ताफळानीिष्सतकामदानि ॥१४॥

अत्र मार्कण्डेयः ।---

सर्वेभ्यो भुवि दुष्प्राप्यं मौक्तिकं मेघसंभवम् । धारणात्तस्य नृपतेः सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ १५ ॥ अधेषां धारणार्थं दैवतकक्षनम् ।

> अतसीकुसुमश्यामं वैष्णवमैन्द्रं शशाङ्कसंकाशम् । हरितालिनमं वारुणमसितं यमदैवतं भवति ॥ १६ ॥ परिणतदाडिमगुलिकागुङ्गाताम्रं च वायुदैवत्यम् । निर्धूमानलकमण्डप्रभं च विज्ञेयमाग्नेयम् ॥ १७ ॥ इति

अथ मृल्याहीणां मृल्यकलना ।

माषकचतुष्टयधृतस्यैकस्य शताहता त्रिपद्माशत् । कार्षापणा निगदिता मूल्यं तेजोगुणयुतस्य ॥ १८ ॥

गुस्तापञ्चकं माषः ।

माषकदल्रहान्यातो द्वात्रिंशिद्विंशितस्त्रयोदश च । अष्टौ शतानि च शतत्रयं त्रिपञ्चाशतायुक्तम् ॥ १९ ॥ इत्थं सार्धित्रमाषस्य द्वाविंशन्छतानि त्रिमाषस्य विंशितिः सार्धे द्विमाषस्य [८३ ब]त्रयोदश । द्विमाषस्य अष्टौ । सार्धमाषस्य त्रिपञ्चाशद्युतास्त्रिशतीति ।

> पञ्चित्रिरां रातिमिति चत्वारः कृष्णला नवतिमूल्याः। सार्घास्तिस्रो गुञ्जाः सप्तितिमूल्यावृतं रूपम्।। २०॥ गुञ्जात्रयस्य मूल्यं पञ्चारादूषिका गुणयुतस्य । रूपकपञ्चित्रिरात्त्रयस्य गुञ्जाधिहीनस्य ॥ २१॥ पळदराभागो धरणं तबदि मुक्तास्रयोदशसुरूषाः। त्रिराती सपञ्चितिशा रूपकसङ्ख्याकृतं मूल्यम् ॥ २२॥

अयमर्थः । – द्वात्रिंशदुञ्जा धरणम् , एतन्मानेन यदि त्रयोदशमौक्तिकानि स्युस्तदा सपश्चित्रंशत्का त्रिशती मूल्यमित्येकैकस्येत्यर्थः ।

(८४अ) षोडशकस्य द्विशतीः विंशतिरूपस्य सप्ततिः सराताः यत्पञ्चविंशतिधृतं तस्य शतं व्लिंशतासहितम् ॥ २३ ॥

षोडरामौक्तिकानि चेद्धरणिमदं तदैकैकं द्विगुञ्जामितिमतिमिति एकैकस्य सार्धद्वादरारूपका मूल्यं जायते । विंरातिमौक्तिकानि चेद्धरणिमतत्येकैकं किंचिदिधिकसार्धागुञ्जामितं तत्र प्रत्येकस्य सार्धा अष्टौ रूपका मूल्यम् । पञ्चविंरातिश्चेद्धरणिमतं तदा किंचिद् मात्राधिकसपादगुञ्जामितं तज्जायते । तत्र प्रत्येकस्य सार्धपञ्चरूपका मूल्यं जायते इति ।

त्रिंशत्सप्ततिमूल्यं चत्वारिंशच्छतार्धमूल्यं च । षष्टिः पञ्चोना वा धरणं पञ्चाष्टकं मूल्यम् ॥ २४ ॥ मुक्ताशील्या त्रिंशच्छतस्य सा पञ्चरूपकविद्दीना । द्वित्रिचतुःपञ्चशता द्वादशषट्पञ्चकत्रितयम् ॥ २५ ॥

मौक्तिकलिंशचेद्धरणं किचिद्धिकगुञ्जामितमेकैकं तदा सप्ततिमूल्यमिति । एकैकस्य किंचिद्रनसपादरूपकद्वयं जायते । मौक्तिकचलारिंशचेद्धरणं तदा शतार्धं मृल्यमिति एकैकस्य सपादरूपकं मृल्यम् । पञ्चपञ्चाशचेद्धरणमिति तदा चत्वारिंशन्मूल्यमित्येकैकस्य सार्धेकादशकलामृल्यम् । एवमप्रेऽपि कला-मानं योज्यमिति ।

> पिक्कापिचार्घार्घा रवकः सिक्यं त्रयोदशाद्यानाम् । संज्ञाः परतो निगराश्चृणींशीतिपूर्वाणाम् ॥ २६ ॥

त्रयोदशमौक्तिकानि धरणमिति त्रयोदशकमारभ्य पञ्चपञ्चाशदन्तं पिक्कादिनिगरान्तं क्रमेण मौक्तिकसंज्ञा । त्रयोदशमौक्तिकानां धरणमितत्वे [८४ ब]तन्मौक्तिकानामांपे पिक्का संज्ञा । एवं षोडशानां धरणमितत्वे पिच्छ-संज्ञा । इत्यादि पञ्चपञ्चाशतो धरणमितत्वे रवसंज्ञेत्यन्तम् । अशीतिमौक्तिकानि धरणमित्यारभ्य पञ्चशतीधरणामित्यन्तं चूर्णसंज्ञा मौक्तिकानामिति ।

इति मौक्तिकलक्षणशाखा ॥

[१०७]

अथोदेशक्रमप्राप्तं मरकत्तरुखणम् । शुक्रपक्षनिभः स्त्रिग्धः कान्तिमान् विमलस्तथा। स्ववर्णचूर्णसंकाशेः सूक्ष्मैर्विन्दुभिरान्वितः॥ २ ॥ शस्तो मरकतो श्रेयो गम्भीरश्चोन्तस्तथा। धार्यश्च पृथिवीशानां सर्वोपद्ववनाशनः॥ २ ॥

अत्र वराहाचार्यः ।---

शुकवंशपत्रसद्दशं शिरीषकुसुमोपमं गुणोपेतम् । सुरपितृकार्ये मरकतमतीव शुभदं चुणां विहितम् ॥ ३॥

इति मरकतलक्षणाभिधानं कुसुमम्।

[208]

कुरुविन्दाङ्गवेज्जन्म तथा सौगन्धिकादपि । स्फटिकात्पबरागाणां श्रेष्ठास्ते द्युत्तरोत्तरम् ॥ १ ॥ जडरङ्गा भवन्तीह कुरुविन्दभवाश्च ये ।
कषायरङ्गा निर्दिष्टा ये च सौगन्धिकोद्भवाः ।
स्वच्छाश्च रागवन्तश्च विज्ञेयाः स्फटिकोद्भवाः ॥ २ ॥
अत्र वराहाचार्यः ।—

' सौगन्धिककुरुविन्दरफाटिकेभ्यः पद्मरागसंभूतिः । सौगन्धिकजा अमराञ्जनाब्जजम्बूरसद्युतयः ॥ २ ॥ जम्बूरसद्युतयो लोहितवर्णाः ।

कुरुविन्दभवाः शवला मन्दसुतयश्च धातुभिविद्धाः ।
स्फिटिकभवा सुतिमन्तो [८५अ]नानावर्णा विशुद्धाश्च ॥ ४ ॥
स्किग्धः प्रभानुलेपी स्वन्छोऽर्चिष्मान् गुरुः सुसंस्थानः ।
अन्तःप्रभोऽतिरागो मणिरत्नगुणाः समस्तानाम् ॥ ५ ॥
कलुषा मन्दसुतयो लेखाकीर्णाः सधातवः खण्डाः ।
दुविद्धा न मनोज्ञाः सशर्कराश्चेति मणिदोषाः ॥ ६ ॥
अमरशिखिकण्ठवर्णो दीपशिखासप्रभो भुजङ्गानाम् ।
भवति मणिः किल मूर्धनि योऽनर्धेयः स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

यस्तं बिभर्ति मनुजाधिपतिर्ने तस्य दोषा भवन्ति विषरोगकृताः कदाचित् । राष्ट्रे च नित्यमभिवर्षति तस्य देवः रात्रृंश्च नारायति तस्य मणेः प्रभावात् ॥८॥

अथात्रार्घकलना-

षड्विंशतिः सहस्राण्येकमणेः स्यात्पलप्रमाणस्य । कर्षत्रयस्य विंशतिरुपिदिष्टा पद्मरागस्य ॥ ९ ॥ अर्थपलस्य द्वादश कर्षस्यैकस्य षट्सहस्राणि । यश्राष्ट्रमाषकधृतं तस्य सहस्रत्रयं मृल्यम् ॥ १० ॥ माषकचतुष्टयं दशशतक्रयं द्वौ तु पद्मशतमृल्यौ । परिकल्प्यमन्तराले मृल्यं द्वीनाधिकगुणानाम् ॥ ११ ॥ वर्णन्यूनस्यार्धं तेजोद्दीनस्य मृल्यमष्टांशम् । अल्पगुणो बहुदोषो मृल्यात्प्राप्नोति विंशांशम् ॥ १२ ॥ भाधूमं व्रणबहुरुं स्वल्पगुणं प्राप्तुयास दिशतांशम् । इति पद्यरागम्लयं पूर्वाचार्यः समुदिष्टम् ॥ १३ ॥ इति पद्यरागारुयशोणमाणिलक्षणम्लयकथनाभिधं कुसुमम् ।

[१०९]

अथोदेशकम[८५व]प्राप्तं खङ्गलक्षणम् ।
तत्र गर्गोऽङ्गुलप्रमाणेनास्योत्तमादिलक्षणमाह ।
'अङ्गुलानि च पद्माशत्प्रधानः खड्ग उच्यते ।
तदर्धतो निकृष्टः स्यात्तन्मध्ये मध्यमः स्मृतः ॥ १ ॥
अतोऽधिकं च हीनं च छिनवंशं तथैव च ।
न धारयेद्भुधः खड्गम् स विनाशाय केवलम् '॥ २ ॥
तत्र वराहः —

'निष्पत्तो न च्छेचो निकषैः कार्यः प्रमाणयुक्तः सः ॥ मूछे म्रियते स्वामी जननी तस्याप्रतिश्चित्रे '॥ ३॥ मार्कण्डेयः

> 'शीव्रः सुमधुरो यस्य शब्दः खड्गस्य श्रूयते । किंकिणीसदृशस्तस्य घारणं श्रेष्ठमुच्यते ॥ ४ ॥ खड्गः पद्मपलाशाप्रो मण्डलामश्च शस्यते ॥ [८६अ]करवीरपलाशाप्रसदृशश्चापि शस्यते ॥ ५ ॥ महीधृतसुगन्धश्च पद्मोत्पलसुगन्धमृत् । वर्णतश्चोत्पलाकारः सवर्णो गगनस्य च ॥ ६ ॥ ससमाङ्गलाप्रा शस्यन्ते वणास्वदृष्धवस्थिताः । श्रीवृक्षपर्वताकार। वंशपत्रनिभाश्च ये ॥ ७ ॥

श्रीवृक्षो बिल्वः ।

काकोञ्चककबन्धामा विषमाङ्गुळसंस्थिताः । वंशानुगाः प्रभूताश्च न शस्तास्ते कदाचन ॥ ८॥

¹ Corrupt.

यस्मिन् त्सरुप्रदेशे त्रणो भवेतद्वदेव खुद्गस्य । वनितानामिव तिळको गुद्धे वाच्यो मुखे दृष्ट्वा ॥ ९ ॥ वर्षास्त्रीणां मुखे तिळकं दृष्ट्वा गुद्धेऽप्यस्तीति वाच्यम् । तथाऽत्रापि मुष्टौ वशं विकोक्य मध्येऽप्रे च त्रणो वाच्यः।

अङ्गुलानुसारेण त्रणफलमाह वराहः---

'पुत्रमरणं धनाप्तिर्धनहानिः संपदोऽपि बन्धश्च । एकाद्यङ्गुळसंस्थैर्त्रणैः फळं निर्दिशेत्क्रमशः ॥ १० ॥ सुतळाभः कळहो हस्तिळव्धिपुत्रमरणधनलाभाः । क्रमशो विनाश्चवनिताप्तिचित्तदुःखानि षट्प्रमृति ॥ ११ ॥ छव्धिर्हानिष्टेद्धिः स्त्रीळव्ध्यो वधा मरणपरितोषाः । श्चेयाश्चतुर्दशास्त्रि धनहानिश्चेकविंशे स्यात् ॥ १२ ॥ वित्ताप्तिरनिर्वाणं धनागमो मृत्युसंपदोऽस्वत्वम् । ऐश्वर्यमृत्युराज्यानि च क्रमात्त्रिशदित यावत् ॥ २३ ॥ परतो न विशेषफळं वृद्धिविषमसमस्थाश्च पापश्चभक्तळदाः । कैश्चिदफळाः प्रदिष्टास्त्रिश्चरपरतोऽप्रमिति यावत् '॥ १४ ॥

एतचेष्टितफलं स एवाह—

'काणितं मरणायोक्तं पराजयाय प्रवर्तनं कोशात् । स्वयमुद्गीर्णे युद्धं ष्विछिते विजयो भवति खङ्गे '।। १५ ॥ एतत्परिमार्षा च स एवाह——

' नाकारणं विवृणुयान विघद्दयेच पश्येन तत्र वदनं न वदेच मूल्यम् । देशं न चास्य कथयेन विमानयेच नैव स्पृशेनृपतिरप्रयतोऽसियष्टिम् ॥१६॥

खद्गं प्रशस्तं मणिहेमचित्रं कोशे सदाचन्दनचूर्णयुक्ते ।
संस्थापयेद्भूमिपतिः प्रयत्ना[८६ब]द्रक्षेत्तयैनं स्वशरीरवच्च ॥१७॥
एतरपानमपि स प्वाह——

'इंदमौशनसं च शस्त्रपानं रुधिरेण श्रियामिन्छतः प्रदीप्ताम् । इविषा गुणवत्सुतामिलिप्सोः सलिलेनाक्षयमिन्छतश्च वित्तम् '॥१८॥ 'वडवोष्ट्रकरेणुदुग्धपानं यदि पापेन समीहतेऽर्थसिद्धिम् । झषपित्तमृगाश्ववस्तदुग्धेः करिहस्ताच्छिदये सतालगर्भैः ' ॥ १९ ॥ तालगर्भैस्तालवृक्षनियीयैः ।

आर्के पयो हुडुविषाणमधीसमेतं पारावताखुशकृता च युतः प्रछेपः। शक्षस्य तैलमथितस्य ततोऽस्य पानं पश्चाच्छितस्य न शिलासु भवेद्विघातः॥ २०।

तैळं चात्र तिलस्येव ।

क्षारे कदल्या मिथतेन युक्ते दिनोषिते पायितमायसं तत्। सम्यक् शितं चाश्मनि नैति भङ्गं न चान्यछोहेष्विष तस्य कौण्ठ्यम्।। कदळीं दग्धायसक्षारम् । तन्माथिते तत्सिहिते ।

्रति खन्नलक्षणं नाम कुसुमम्।

[११0]

अय सेनानीलक्षणम् ।

बृहत्तत्वविधानज्ञः फलगुसारविशेषवित् ।
राज्ञा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षित्रियोऽपि वा ॥ १ ॥
कुळीनः शीळसम्पन्ने। धनुर्वेदविशारदः ।
अश्वशिक्षासुशिक्षश्च कुशळः श्वक्षणमाषिता ॥ २ ॥
निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता वैद्यक्षिकित्सिते ।
पुरुषान्तरविज्ञाने षाड्गुण्ये च विनिश्चितः ।
कृतज्ञः कर्मणां शूरस्तथा क्केशसहोऽप्युज्ञः ॥ ३ ॥
इति सेनानीलक्षणाभिधं कुसुसम् ।

[१११]

अथ भृतकलक्षणम् । तत्र मृतकेति मृतकाश्च मृतिकाश्चेत्येकशेषसमासेनोभयोरिप दासीदासयो-केदेशोऽत्र प्राद्यःः। अहार्यश्चानृशंसश्च दृढभक्तश्च पार्थिवे । ताम्बूलादिधरः कार्यो दासी वाष्यथ तद्गुणा ॥ १ ॥ अहार्यः लोभदानादिनापरैः प्रतारयितुमशक्यः । भारते 'अभिप्रायं यो विदित्वा हि भर्तुः सर्वाणि कर्माणि करोत्यत[८७अ]न्द्रः । वक्ता हितानामनुरूप आर्य शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोनुकम्प्यः' ॥२॥ एतावन्मह्यं देयमिति स्वशक्तितुल्यं जानन् ।

वाक्यं तु येनादियते विशिष्टं प्रत्याहतश्चापि नियुज्यमानः।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकृष्टवादी त्याज्यः स ताद्यक् त्वरयेत्र मृत्यः ॥३॥
अपेक्षाराजचिरतं सर्वेऽपि मृतका स्मृताः।
तिन्नप्तयोगक्षेमत्वादिति सामुद्रिकं वदे ॥ ४ ॥
यया तदनुसारेण मन्त्र्यादिमृतकान्तकम् ।
शोधनायां सुजातायां राज्यस्थैर्यं दृढं मवेत् ॥ ५ ॥
किं नामैतन्न विदितं यदनेन न जायते।
यत्राकृत्येव जन्तूनां सदसत्त्वं विभाव्यते ॥ ६ ॥
आहुश्चेयं कृता विद्या समुद्रेणेति तत्र च ।
विवदन्ते महात्मानो ये कर्मशरणा भिव ॥ ७ ॥
सत्यं विधातृविहिता रचने यं ततोऽधिकम् ।
प्रवछं कर्म विद्वेयं न्याय्यं को विनिवारयेत् ॥ ८ ॥

अयमर्थः —

सत्यं प्रार्व्धोपनतं फलमत्रोपमुज्यते ।
तत्तदनुसारेण जन्तूनां रेखाचिह्नादि भाव्यते । ॥ ९ ॥
परन्तु भगवदेकशरणानां न जातु दुष्कर्मफलोदयो भवेत् ।
अस्ति च कर्मानुसारि प्रहृदशादि दृष्टफले—तत्प्रसादकमन्त्राधुपासनेन
दुष्टफलिनृत्या सुफलोदयः । अस्ति च विज्ञानाग्निदग्धानां कर्मणां पुनरङ्करोद्भावना । देहपाताधदर्शनादिस्त प्रारव्धं बलवदिति । तत्रोन्मुक्तवेगाविद्धः
शरन्यायेनावतीर्णवर्षोद्धतनदीवाह्नयायेन वा तस्य प्रत्यावर्तयितुमशक्यतेऽपि
तस्यातिबलवदुन्मुक्तशरेणोन्मार्गविक्षेपणादिना चोन्मुक्तशर्वत् नदीवाह्वच प्रस्थावर्तने लक्ष्यानुगमनं तत्तदनर्थविधानं च यथा दृष्टं तथा प्रारम्धमि शक्यत एव शिथिलयितुमित्यतिप्रबलप्रतियोगिकर्मणां पर्या तु [८७व]तदेव सर्वथा भोग्यमिति । अथवा भाविकर्मणां पर...यकत्वेन परिहारो विधेयः । तथा च दैवपौरुषानुयोगे परशुरामं प्रति पुष्करः । राम उवाच ।

'दैवं पुरुषकारं च किं ज्यायांस्तद्वदस्व में। अत्र में संशयं देव छेतुमईस्यशेषतः॥ १०॥

पुष्कर उवाच

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् ।
तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥ ११ ॥
प्रितकूलं तथा दैवं पौरुषेण विद्दन्यते ।
मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यमुत्थानशालिनाम् ॥ १२ ॥
येषां पूर्वकृतं कर्म सार्त्विकं मनुजोत्तम ।
पौरुषेण विना तेषां केषांचित् दृश्यते फल्णम् ॥ १३ ॥
कर्मणा प्राप्यते लोके राजसस्य तथा फल्णम् ।
षौरुषेणाप्यते लोके मार्गितव्यं नैरः फल्णम् ॥ १४ ॥

सास्विकं प्रारब्धं विनापि स्वयमेव फलतीति पौरुषापेक्षा नास्ति, राजसं तु पौरुषेणैवोद्वुद्धं भवतीति ।

दैवमेव न जानाति नरः पौरुषविज्ञतः ।
तस्मात्पौरुषयुक्तस्य दैवं तुं सफ्छं भवेत् ॥ १५ ॥
पौरुषं दैवसंपस्या काले फलिति भागेव ।
दैवं पुरुषकारश्च कालश्च मनुजोत्तम ।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात्फलावहम् ॥ १६ ॥
कृषिवृष्टिसमायोगा दृश्यन्ते फलिस्दयः ।
तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कदाचन ॥ १७ ॥
तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मे पौरुषं नृभिः ।
विपत्तावपि यस्येह परलोके ध्रुवं फलम् ॥ १८ ॥

¹ Corrupt.

नालसाः प्राप्तुवन्त्यर्थाः न च दैवपरायणाः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पौरुषे यत्नमाचरेत् '।।१९॥

इति पुंस्रीलक्षणशाखायां दैवपौरुषकालानुस्यूतताः भिधानाभिधः स्तवकः।

[११२]

इति प्रारन्धं पौरुषकालनिमित्तेन सफ्लं साम्प्रतिकं तु पौरुषं तरसमर्पित-बुद्धिशिखोन्नतशीर्षाणां मनुष्याणामिहान्यत्सर्वं पश्चात्कृत्य फलति । प्रारम्धातिवाहनं केवलं नतमस्तकानां पशुजातीनामिति सि[८८अ]द्वम् ।

इति सम्यगालोचितोऽयं लक्षणविभागो न व्यभिचरतीति च स्थिते । यथादृष्टमिदं सम्यग्विविच्य च विविच्य च । सामुद्रिकं विनेयानां शिक्षायै दश्यते मया ॥ १ ॥ तथा च विक्रमादित्यभूपतेर्वसरे किल । चुषै: कैश्चिद्यं द्ग्जाविद्या सोऽवर्तयद्ययां ॥ २ ॥

वसर इति भागुरिमतेनावोपसर्गस्याकारलोपेऽवसरे इत्यर्थः । स विक्रमादिस्यः । उदाहृतं चात्र जातु खर्वः कश्चिद् समामितः । पीडितोऽस्मीत्यवेत्युक्तिं चक्रेऽस्य विनयान्वितः ॥ ३ ॥

समामितः सभां प्राप्तः, न्यायस्थानीमागत इति यावत्। अस्य विक्रमादित्यस्य ।

स विलोक्य तले मिथ्यावाद्यसौ कियतां बहिः । इत्याज्ञप्य सदोध्यक्षान्बोधयामास सादरम् ॥ ४ ॥ उक्तं च वैद्यविद्यायां खर्वो जाल्मः कुनीतिमाक् । रन्ध्रक्ललनिम्तानुधावी खर्वः प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥ निश्चितं चामुना कश्चित्पीडितः स्याद्विपर्ययात् । आत्तौसावौचितीयं सा खर्वस्येति निशम्यताम् ॥ ६ ॥

इयमौचिती दूरनिष्कासनात्मिका । विलोक्यतां च संवादात्प्रत्यक्षीक्रियतामिदम् ॥ ७ ॥ निशम्य विस्मितास्ते च संवाद कृतिनिश्चयाः । तथोपळभ्य राजानं मोद्यामासुरादरात् ॥ ८ ॥ अस्तीदं कौश्रलं प्रायो महाविभवभूषणम् । मनसोन्मीलितं किश्चिचचदत्र विशदायते ॥ ९ ॥

महाविभवेति । अचिन्स्यविभवानां भूपतीनां यत्र कौशले बद्धा स्था ते महा-विभवभूषिता भवन्तीत्यर्थः । मनसोन्मीलितं मनः कल्पितं विशदायते तत्प्रत्यक्षी-भवति । इति भूपतिं प्रति सदोष्यक्ष्यमोदेना

उक्तं चात्र तरिङ्गियण्यां किश्वदम्येति वामनः।
भूमीशं श्रीशकेन्द्राख्यमेवेत्युक्त्या व्यजिङ्गपत् ॥ १०॥
निशम्यालोक्य तं प्राह खर्वोपिरं न कस्यचित्।
जाल्महस्तसमायातो जाने व्यत्ययमत्र ते ॥ ११॥
निशम्यासौ हसित्वास्यवन्धं तं च समादधे।
इयदाक्षेपतो मेऽष[८८ब]प्रतीकार्यं त्वयास्त्यलम् ॥ १२॥

आस्यवन्धमिति मुखं वद्भा राजाभिमुखं हासानौचित्यात् । हासश्व राज्ञ आशयबोधनात्।

स मत्तोप्यतिऽखर्नीस्तीत्येवं श्रुत्वा विहस्य च । संविदे पाळ्यामास तमसौ तत्तथामवत् ॥ १३ ॥ पाळ्यामास प्रतीक्षाश्चक्रे ।

इत्याकारगतास्त्येव प्रायोऽन्तः प्रकृतिर्नृणाम् । विज्ञानशास्त्रिनां रिखां न यथा जायते कचिद् ॥ १४॥ यथेत्याकारमात्रेणैवान्तरप्रकृतिबोधात् ।

> आहुश्च वैद्याः सुश्वेतवर्णो यः श्यावलोचनः । सुदुर्दुःखोङ्कःयथानुपरुद्धः वनुषी भवेत् ॥ १५॥

अन्तरान्तरारक्तः कृष्णोवर्णः स्यावः अङ्क्षधः स्वकलङ्कावहः। तत्रैव कुनिखलाद्याधिक्येऽनुपरुद्धो निरनुरोधो गुरूनप्यास्थानेऽपि लज्जयतीति। अन्नापि—

> [८९अ]कुराव्याः कुनखा ज्ञेया कामभोगविवर्जिताः । वकान्तैः स्फुटितैः स्थूलैः नखैर्दारिद्यमोगिनः ॥ १६ ॥

¹ Corrupt,

महापापानि कुर्वन्ति पुरुषा हिरतैर्नखैः । इन्द्रगोपकसंकारौर्नखैर्भवति पार्थिवः ॥ १७ ॥ ताम्रैर्नखैरतथैश्वर्यं प्राप्तुवन्तीह मानवाः । इत्यमङ्करततुर्तीक्षणदृगुद्धायतमस्तकः ॥ १८ ॥ तुवरोऽतिकचः सर्पगोनासाभ्यां विभीषणः । इत्यमङ्कः सुश्चेतवर्ण इत्यादिन्छक्षणलक्षितः ॥ १९ ॥

विशेषः पुनस्तनुरित्यादि तीक्ष्णदिक्निशितब्र्ण इव यस्य दृग्वेधियत्रीव भवति । तुवरः काळे जातस्मश्रः अतिकचोऽतिधनशिरोरुद्दः सर्पगोनासाभ्यामीप पुरुषः कदाचिन्मुच्यते न तु तस्मादिति भावः । दंशं विना न कदाचिद्प्यसौ नरं मुख्रतीत्यर्थः । इति

अय विरोषळक्षणेष्वादै। रोमलक्षणम् ।

दृढपाटळरोमा यः स नीरुग्धृतिमान्भवेत । कातरश्चापि शीताळुरल्पधीर्भृदुरोमवान् ।। २०॥ एकरोमा भवेद्राजा द्विरोमा धनवान्भवेत् । त्रिरोमा पण्डितः प्रोक्तो बहुरोमा च दुर्धियः॥ २१॥

अत्र वराहाचार्यः--

' रोमैकैकं कूपके पार्थिवानां दे दे ज्ञेये पाण्डितश्रोत्रियाणाम् । त्र्याद्यैनिःस्वा मानवा दुःखभाजः केशाश्चैवं निन्दिताः पूजिताश्च'।।२२॥ ग्रीवायां स्कन्धयो रोमबाहुल्यं मौर्क्यच्क्क्षणम् । रुचिर्जाल्म्येऽधिका तानि चेत्स्युः कोष्ठे च वक्षसि ॥ २३॥

कोष्ठमन्तर्जठराभिमुख्ये ।

कुबुद्धयबुद्धी चलता कार्ये कोधविधेयता । समन्ताबस्य रोमाणि काचराणि शरीरिणः ॥ २४ ॥ सुकृष्णरोमा घीदक्षो वध्योक्तौ न्यायपालकः । समरोमा च पुरुषः सर्वत्र समसारवान् ॥ २५॥ धीदक्ष इति धीप्रहणं शीवं चातुर्येण तात्पर्यज्ञता सूचनाय, रोम्णां च समत्त्वं शुक्ककृष्णरक्तवर्णसाम्यमिति । [८९ब]

अथालिकलक्षणम्—

अरीखं दीर्घालिकं वा... मन्दधीधनः । असत्यवाग्स्वल्पायुर्दुःखभाक् चापि जायते ॥ २६ ॥ घटवत्संवृतं यस्य छलाटं चापि वामनम् । स नरो नीचकर्मा स्यास्कृपणश्चातुरस्तथा ॥ २७ ॥ अर्धेन्दुसदशाकारं च्छत्रामं ... भजाम् । अत्युत्रतं चम्पानां संपुटं क्रूरकर्मणाम् ॥ २८ ॥ केम्नम ।

संपुटं निम्नम् ।

समं च दीप्यमानं यद्देखाभिस्तच्छुभोदयम् ।
प्रेमस्वधीकथाशास्त्रचातुर्यायं मनीषिणाम् ॥ २९ ॥
विषमेण छष्ठाटेन नराः स्युद्धीःखजर्जराः ।
प्राप्नुयुर्वधवन्धं तु बछात्ते क्रूरकर्मणा ॥ ३० ॥
सिराभिः सन्ततं यस्य छष्ठाटं सोखवानभवेत् ।
छन्नतामिन्निश्रूछाञ्जस्वस्तिकामाभिरुन्नताः ॥ ३१ ॥
त्रिरेखाभिर्छछाटान्तगामिनीभिः समाः शतम् ।
जीवेश्वतस्मिर्नूनं नवस्यब्दान् सपद्यकान् ॥ ३२ ॥
पद्यभिः सप्ततिं द्वाभ्यां चत्वारिंशतमेकया ।
विंशतिं तास्त्र पद्माद्या सरेखेणापि जीवति ॥ ३३ ॥

हिन्नताः परागस्य... चतस्भिरित्यादाविष छ्छाटान्तगामिनीभिरिति संबध्यते । अत्रापि कोचिद्यस्य स्युः समाः कर्णान्तगोचराः । पञ्चरेखागभीरश्व सुरोऽसौ शतजीन्यिष ॥ ३४॥ रेखाणां छक्षणमिदं दीर्घाणां परिकीर्तितम् ।

वर्षा च वक्रताहासस्तथाधिक्येन वामतः ॥ ३५॥

¹ Corrupt.

इदमुक्तमायुःप्रमाणं दीर्घाणां छछाटान्तगामिनीनां मध्यान्तयोरिच्छ-नानाम्। एतच ऋजुताया अप्युपलक्षणम्। व्यतिरेकेणैतत्स्फुटयति। वर्षा चेति । अत्रापि वक्रताच्छेदस्योपलक्षणम्। हास आयुषः। तत्रापि वामतो वक्रताया-माधिक्येन हासः हासयति चोपलक्षणम् अगम्यागमनस्य। तथा च वराहः—

'विच्छिनाभिश्वागम्यगामिन' इति ।

समुदः-- 'रेखाः पञ्च[९०] छछाटस्थाः समाः कर्णान्तगोचराः। भणितं यस्य गम्भीरं तं विद्यात्सकछायुषम्' ॥३६॥ इति ।

अथ शिरोलक्षणम्—

शिरसा मण्डलाभेन गवाढयरस्त्रतो चुपः।

चिपिटाः पितृमातृष्ठाः करोट्याचिरमृत्यवः ॥ ३७ ॥

मण्डलामं सूर्यचन्द्रबिम्बिमव वर्तुलम् । च्छत्र इति च्छत्रामेन तचोर्घ्वतो विस्तीर्णम् । करोटिः शिरोस्थितघटस्य प्रस्फुटमिव दश्यत इत्यर्थः ।

घटमूर्धा मार्गरुचिद्धिमूर्धा च धनोत्रितः।

महत्त्वाय च निम्नं यदतिनिम्नं धनप्रदम् ॥ ३८ ॥

घटेति तथा च व्यत्ययेन समुद्रवचनम् 'शिरो दीई तु दुःखिनामिति '।

अय भ्रुलक्षणम् —

स्थूळत्वं घनता वापि भूवोर्यस्य विछोक्यते । अतीव कठिनं तस्य दृदयं विनिवदयेत् ॥ ३९ ॥ कर्णनेत्रान्तरार्धेन भूवोर्यस्यास्ति विस्तृतिः । सोऽहंकारेण नृपतीन्पातयेत्रात्र संशयः ॥ ४० ॥

नेत्रादारम्य कर्ण यावदन्तरम् अवकाशस्तद्धमानेन ।

मध्योचभूयुगोपेतो नरोऽल्पायुभेवेद्ध्रुवम् ।

विषमभूयुगोणापि निःस्वो इन्दुप्रभेण च ॥ ४१ ॥

मध्यनिम्नभूवो येऽपि तेऽगम्या रमयन्त्यलम् ।

स्विण्डितभूयुगेणापि धनहींनो विजायते ॥ ४२ ॥

विशेषः पुनरेकोऽत्र-भूवोर्मध्ये यदीक्ष्यते ।

जीर्णाद्ध्यं रोम तेनास्य राज्यलामो मवेद्ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

इन्दुप्रभेणेति बालेन्द्राकृतिसाम्यं बोध्यम् । धनद्दीन इति प्राप्तेर्धनैस्त्यज्यत इत्यर्थः । जीर्णाद्यमिति एष चान्यत्र अमरसंज्ञयोदिष्ट इति रोमावर्तस्तिलकं वास्त्वित्यत्र नास्ति विशेषः ।

> भूम्यां च समकृष्णाभ्यां साधुवृत्तिर्भवेत्ररः । श्रवणश्रुतिशक्तश्च सङ्घक्षणविभूषितः ॥ ४४ ॥ इति

अथ नेत्रलक्षणम्—

अथाक्षिलक्षणं वक्ष्ये सा दृष्टिरतिदोषदा। या पीताभा यया हन्तुमपि ते मुदिताशयाः ॥ ४५ ॥ परमारणे प्रसन्नचेतस इस्पर्थः ।

> स्थू[९०व[छटष्टया भवेनमन्त्री मन्दाक्षो नृपरुद्धधीः । मानी जडोऽरिभावेन वर्तयेनात्र संशयः ॥ ४६॥

मन्दाक्ष इति छक्ष्यपदम् । अवशिष्टं फलम् ।

नेत्रेण मन्दचेष्टेन छक्ष्यं मौर्ध्यं शरीरिणाम् ।

तीक्ष्णेनापि नेत्रेण हेतुन्याजादिमार्गकः ॥ ४७ ॥

रक्तान्तनेत्राः पुरुषा धैर्यीदार्यगुणान्विताः ।

भवन्ति धनिनो येऽपि मधुपिङ्गल्लेचनाः ॥ ४८ ॥

कुक्कुटाक्षाः सदा दक्षा विडालाक्षास्तयाधमाः ।

कुक्कुराक्षाश्च विद्येयास्तस्करा नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

गवाक्षाः सुभगा नित्यं केकराक्षा दुराशयाः ।

सुकृष्णतारकाक्षाश्च प्राप्नुवन्त्यिक्षपाटनाम् ॥ ५० ॥

धुकृष्णेति तारका कनीनिका । तथा च वराहाचार्थः—

' अतिकृष्णतारकाणामक्ष्णामुत्पाटनं भवतीति ' ।
समुद्रः— रक्ताक्षा धनवन्तस्तु व्याघ्राक्षाश्चान्तकोपमाः ।
बिडालसिंहनेत्रा ये भवन्ति पुरुषाधमाः ॥ ५१ ॥
मण्डलाक्षाश्च जिह्याक्षाः कूरप्रकृतयो नराः ।
नीलोत्पलाक्षा विद्वांसः प्रौदाक्षा विभावान्विताः ॥ ५२ ॥

यस्याभितोक्षिक्र्टस्थतिल्काः पीतपीतकाः । दृश्यन्ते कुनयी मूर्धवाली योऽपि नरो ध्रुवम् ।। ५३ ॥ प्रौढाक्षाः स्मितभरित्रनेत्राः । कुनयी परघातककुत्सितनयवान् ।

समाक्षः पुरुषो यस्तु श्रुतिशाल्युपकारधीः।

प्रबुद्धः सत्यभाषी च शान्तिचित्तोऽप्यसौ ध्रुवम् ॥ ५४ ॥ समाक्ष इति विजातीयपशुपक्ष्यादिसादृश्याननुगामिनेत्र इति । अय ओष्ठलक्षणम्—-

बिम्बोपमैरवक्रैश्च नरा ओष्ठैर्महिभुजाः । तन्वोष्ठा दुर्विधा रूक्षा धराधनविवर्जिताः ॥ ५५ ॥ दुर्विधा दरिदाः ।

> मध्यनिम्नाधरो यः स्यात्सुभगोऽसौ न संशयः । स्थूळौष्टः स्फुटितौष्ठश्च नरो घश्चिपि दुःखितः ॥ ५६॥ (९१अ) रक्तौष्ठो यो नरस्तस्य पुण्यवृद्धिः प्रजायते । परोपकारनिरतो मितसत्येष्टमाष्यपि ॥ ५७॥ इति

अय कर्णलक्षणम्----

हस्वकर्णो महामोगी कृपणो दीर्घकर्ण्यपि । धनी क्रूरः सिरानद्धकर्णश्च सततं सुखी ॥ ५८ ॥ रोमशाभ्यां च दीर्घायुर्ग्यालम्बाभ्यां तु सौस्यभाक् । निर्मासाभ्यां पापमृत्यू विशीर्णाभ्यां सुभोगिता ॥ ५९॥

हस्वकर्णो भोगी भवति किन्तु कृपणः । दीर्घकर्णो धनी न तु भोगी। व्यालम्बाम्यां मांसोलद्धाम्यां, विशीर्णाम्यामितस्ततः प्रस्ताम्याम् । समाम्यां चैव कर्णाभ्यां समोचितगुणो मतः। विशेषाकारराहित्यं साम्यं नाम प्रकीर्तितम् ॥ ६० ॥ इति

अथ नासालक्षणम्—

तन्वा नसा मृदुश्वाप्रनतया घृतिमान्धनी । स्थूलया शीलरहितः कामुको जनहार्दमाक् ॥ ६१॥

¹ Corrupt.

शुकाभया च सुखितः शुष्कया चिरजीन्यपि । दीर्घया भोगवांश्चीरस्तथा कुश्चितयानया ॥ ६२ ॥ उच्चया जनवाल्लभ्यं मृद्ध्या सीभाग्यपात्रता । च्छित्रयागम्यगामी च प्रभक्षः सन्यनिश्रया ॥ ६३ ॥

च्छिन्नयेति छिन्नयेवेतीव शब्दोऽत्राध्याहार्यः।

क्रोधी विद्यतरोकाम्यां सीभाग्यं पुटसाम्यतः। अधश्रोध्वे स्तम्भपैन्यं काठोधीं सत्यकक्षणम् ॥ ६४॥

विवृतस्वं वैषम्येणोद्घाटितस्वम् । सौम्यत्वं स्वल्पमण्डलस्वम् । स्तम्भपैन्यं नासास्तम्भस्थौल्यम् ।

> समया नासया दूरदीर्घदिशितत्वमुद्यमः । प्रबुद्धतातितीक्ष्णत्वं सर्ववाल्लम्यमेव च ॥ ६५ ॥

समुद्र:---

'इस्वनासा नरा ये तु धर्मशिष्टा भवन्ति ते । इस्तिनासा नरा ये तु सर्वे ते जनवञ्चभाः '।।६६॥ इति

अय ग्रीवालक्ष्णम्--

हस्वप्रीवच्छ्छान्वेषी हेती स्वल्पेऽपि सद्भयः।

ग्र[९१व]रः स्यान्महिषप्रीवो द्यप्रीवस्तु मृत्युमाक् ॥ ६७ ॥
दीनचित्तस्तनुप्रीवोऽल्पबुद्धिरपि जायते ।

स्यूलप्रीवस्तु प्रहिलो बद्धमुक्त्वापि जायते ॥ ६८ ॥

कम्बुप्रीवानप्रशंसन्ति कुम्भप्रीवी च पार्थिवः।
दीर्घप्रीवात्र शंसन्ति बक्मीवांश्व पण्डिताः ॥ ६९ ॥

प्रस्वकण्ठोवद्...दिः स्विश्वपिटकन्धरः ।
सिरावनद्धप्रीवो वा साम्यं धीमत्वलक्षणम् ॥ ७० ॥ इति

अथास्यलक्षणम्---

समसंवृतवक्त्रेण राजा भवति मानवः । विपरीतमतो यस्त्यात्तेन क्रेशयुजो नराः ॥ ७१ ॥ इति

¹ Currupt.

भय ग्रुखलक्षणम्—

महामुखेन दौर्भाग्यं माण्डल्याच्छाट्यसंरतिः ।
स्नीमुखेनासुतो ज्ञेयो दैर्ध्यं दारिद्यकारकम् ॥ ७२ ॥
भीरुणा पापकृत्वं च चतुरश्रेण धूर्तता ।
निम्नं च वक्त्रं विज्ञेयं तनयक्षेशकारकम् ॥ ७३ ॥
इत्वेनानेन कार्पण्यं संपूर्णेन च भोगिता ।
अभागी मूषकमुखो हयवक्त्रश्च दुर्घियः ॥ ७४ ॥
तनुता पीतता वापि यस्येक्षेत विनामयम् ।
ळक्षणं दुष्टशङ्कायाः वक्तायाः प्रकृतेश्च तत् ॥ ७५ ॥ इति

.थ द्न्तलक्षणम्—

स्निग्धता यापि नैविद्यं तैक्ष्ण्यं साम्यं चतुर्थकम्।

छक्षणं दशनानां च शुभं तैः शुभभागिनः ॥ ७६ ॥

वक्रदन्तश्च पुरुषो हेतुन्याजप्रदूषकः ।

स्थूळर्जदीर्घदन्तो यः स भवेन्न्यायकोविदः ॥ ७७ ॥

द्वात्रिंशदशनो राजा भोगी स्यादेकद्दानितः ।

त्रिंशदन्ता नरा ये ते सुखदुःखप्रभागिणः ॥ ७८ ॥

एकोनत्रिंशदशनाः पुरुषा दुःखर्यातिभाजनम् ॥ ७९ ॥ इति

अय स्वरलक्षणम् —

उच्चवाणिर्महासत्त्वस्तनुवाग्दुष्टचिन्तकः । समवाक्कुराठी तीक्ष्णवागहंकारभाजनम् ॥ ८० ॥ वाचश्च गौरवं चिह्नमुपकारमते खछ । तत्काठे हस्तसंज्ञापि तैक्ष्ण्यगाम्भार्यसूचिका ॥ ८१ ॥ इति

(९२ अ) अय स्कन्धलक्षणम्--

वृषस्कन्धो गजस्कन्धः कदछीस्कन्ध एव च ।
महाभोगा महाधन्याः सर्वे ते पार्थिवोपमाः ॥ ८२ ॥
तन्वंसो विजयी राजा स्वधर्मनियतस्थितिः ।
शुभाशयश्च सुश्चिष्टस्कन्धो वीर्यबङोद्धतः ॥ ८३ ॥ इति

अथ कपोललक्षणम्—

यस्य गह्णो हि सम्पूणौं पद्मपत्रसमप्रभौ । भोगवान्स्त्रीप्रियश्चेव सर्वविद्याधरः स्मृतः ॥ ८४ ॥ सिंहव्याद्यगजेन्द्राणां कपोळसदृशौ यदि । कृषिभोगी भवेत्रित्यं बहुपुत्रश्च जायते ॥ ८५ ॥ इति

अथ जिह्वालक्षणम्--

कृष्णजिह्वा भवेद्यस्य स नरो दुःखभाजनम् ।
समल्यां च जिह्वायाम् पुमान्स्यात्पापकारकः ॥ ८६ ॥
स्यूलजिह्वास्तथा कूरा नरा अनृतभाषिणः ।
सितजिह्वा नरा ये च शौचाचारिवविजिताः ॥ ८७ ॥
पद्मपत्रसमा जिह्वा यस्यासौ मिष्टभोगभुक् ।
रक्तजिह्वा भवेद्योसौ विद्यां लक्ष्मी च प्राप्नुयात् ॥ ८८ ॥ इति

अथ तालुलक्षणम्---

कृष्णं तालु नृणां येषां भवन्ति कुल्लनाशकाः ।
पद्मपत्रसमं यस्य स नरो भूपतिभवेत् ।। ८९ ।।
स्रोतं तालु नृणां येषां धनवन्तो भवन्ति ते ।
रक्तं तालु नृणां येषां धनभोक्तार एव ते ।। ९० ॥
पीतं तालु नृणां येषां ते स्युर्नूनं नराधिपाः ।
भोगिनश्वेव ते ज्ञेयाः समुद्रवचनं यथा ॥ ९१ ॥ इति

अथ स्तनललक्षणम्--

उन्नतोपिनतौ येषां धनस्निग्धौ पयोधरौ । ते नरा मैथुने शूरा भोगवन्तश्च कर्मभिः ॥ ९२ ॥ नोन्नतौ च न वा स्निग्धौ शिथिछौ च पयोधरौ । निर्मासौ च कुरूपौ च ते नरा दुःखभागिनः ॥ ९३ ॥ इति

अथ वक्षोलक्षणम्

विस्तीर्णं मासछं वक्षो भूपतेर्जायते ध्रुवम् । समेन वक्षसा साधुक्रियानिष्ठश्च सन्मतिः ॥ ९४ ॥ अवेपनं चोन्नतं च हृदयं धनिनां मतम् । सिराछं रोमशं चैव दुर्विधानां प्रकीर्तितम् ॥ ९५ ॥ इति अथ कुक्षिलक्षणम्—

> स्थूबकुक्षिप्रही भीतिविकलश्चापि जायते । कुक्षौ गमीरी नृपतिरुत्ताने स्नीमुखेक्षकः ॥ ९६ ॥ समे च कुक्षौ[९२ ब]भोगी स्यानिःस्वो घटगलोदरः । सिहोदरो नरश्चापि धनधान्यसमृद्धिमान् ॥ ९७ ॥

समुद्र:--

मृगोदरो नरो धन्यश्चमूरूदरसन्निभः । मण्डूकसदृशो यस्य स नरः पार्थिवो भवेत् । व्याघोदरो गजपतिः श्वशृगास्रोदरोऽधमः ॥ ९८ ॥ इति

अय पृष्ठलक्षणम्—

सिंहपृष्ठो नरो यस्तु धनं तस्य विनिर्दिशेत्। कूर्मपृष्ठो भवेदाजा धनसीभाग्यवान् भवेत्।। ९९ ॥ इति

अर्थासलक्ष्णम्—

अंसी पृष्ठे द्वयिनदं दीर्घ घीषेर्यकारकम् ।

मालिन्यायतनं येन जायतेऽस्य न संशयः ॥ १०० ॥

तादृशं घीषेर्यकौशलमस्य भवेषेन मालिन्यमेवास्य जायते ।

अरोमशमभग्नं च द्वयमेतत्प्रशस्यते ।

भग्नं सरोमनिर्मासं दारिद्रयाय भवेतृणाम् ॥ १०१ ॥ इति
अथ नामिलक्षणम्—

वर्तुळा च गभीरा च नाभिः पुंसां प्रशस्यते । उन्नता विरळा नाभिः पुंसां दुःखप्रदायिनी ॥ १०२ ॥ इति

अय कटिलक्षणम्—

विस्तीणी कनकिष्मिया ग्रुमा पुंसां किटमीता।
निर्मीसा तु किटियेषां ते नरा दुःखभागिनः ॥ १०३ ॥
सिद्याघ्रसमा येषां किटस्ते दण्डनायकाः।
ऋक्षवानरतुल्या च किटियेषां न ते शुभाः ॥ १०४ ॥ इति

अथ हस्ताधिकारः-

प्रचम्बपीनपाणिश्व नरः सर्वगुणोत्तरः । हस्वरोमशबाह्रश्च दासः प्रेष्योऽपि वा मवेत् ॥ १०५॥ वामावर्तभुजश्चोक्तलक्षणैकिक्षितोऽपि यः। पृथिवीशः स विज्ञेयो गृहे श्रीश्वास्य सुस्यिता ॥ १०६॥ यस्य मीनसमा रेखाः कर्मसिद्धिः शुभास्य तु । धनाढगश्च स विज्ञेयो वहुपुत्रो न संशयः ॥ १०७ ॥ आतपत्रं करे यस्य दण्डेन सहितं पुनः । चामरद्वितयं चापि चक्रवर्ती स जायते ॥ १०८ ॥ स्वस्तिके जनसौभाग्यं मीने सर्वत्र पृष्यता । श्रीवत्से वाञ्छिता छक्ष्मीर्गवाद्यो दामलाञ्चितः ।। १०९॥ ध्वजवजाङ्कुराच्छत्रं राङ्ख[९२अ]पग्रादयस्तळे । पाणिपादेषु दृश्यन्ते यस्यासौ श्रीपतिः पुमान् ॥ ११० ॥ शक्तितोमरदण्डासिधनुश्वऋगदोपमा । ंयस्य इस्ते भवेद्रेखा तं राजानं विनिर्दिशेत् ॥ १११ ॥ इयं च रेखोर्ध्वरेखा बोध्या । अत्र विशेषः । मणिबन्धात्समुत्थाय या रेखा चोर्घ्वगामिनी। सोम्बरेखा समाख्याता पद्मधासौ शुभोदया ।। ११२ ॥ ' अङ्गुष्ठगामिनी सा चेत्राज्यलाभप्रदायिनी । तर्जनी धाविनी नूनं नृपाध्यीवाहिनी मता ॥ ११३॥ मध्यमां च यदा गण्छेदाचार्यस्वप्रदा मता। अनामाश्रयिणी सार्थवाह्यकत्वप्रबोधिनी ॥ ११४ ॥ कनिष्ठगामिनी चेत्सा श्रेष्ट्यं सर्वत्र कारयेत्। . यदैषाङ्गुलिमाक्षिष्य मध्यामारोहति ध्रुवम् ॥ ११५ ॥ तदासी निष्फला ज्ञेया महाहानिकरी परम् । मणिबन्धात्पित्रेखा करमाद्विभवायुषोः ॥ ११६॥ 🗓 🥯 अखण्डया पीवरया तया शोभनमादिशेत् । द्वे रेखे यान्ति तिक्षोऽपि तर्जन्यङ्गुष्ठकान्नरे ॥ ११७ ॥

⁴ Currupt,

येषां रेखा इमास्तिम्नः संपूर्णा दोषवर्जिताः । तेषां गोत्रधनायूंषि सम्पूर्णान्यन्यथा न तु ॥ ११८ ॥ गत्वा मिळितयोः प्रान्ते द्रव्यपित्रोश्च रेखयोः । गृहबन्धो विनिर्देश्यो गृहे भङ्गोऽथवा भवेत् ॥ ११९ ॥ गृहबन्धो गृह एव स्थितिः ।

> एकया यवपङ्क्या च श्रेष्ठो बहुधनोचितः। द्वाभ्यां च यवमालाभ्यां राजा मन्त्री धनी बुधः ॥ १२०॥ मणिबन्धे यवश्रेण्यास्ति स चेत्सुनृपो भवेत् । 🦠 यदि ताः पाणिपृष्ठेऽपि ततोऽधिकफळं भवेत् ॥ १२१ ॥ स्यागाय शोणगम्भीराः सुखाय मधुपिक्कलाः । सूक्ष्माः श्रिये भवेयुस्ताः सौभाग्याय समूळकाः ॥ १२२ ॥ छिनाः सपछवा रूक्षा विषमाः स्थानविष्यताः । विवर्णाः स्फुटिताः कृष्णा नीलाः सून्याश्च नोत्तमाः ॥ १२३ ॥ क्केशं सपछवा रेखा विन्छिना वित्तसंशयम् । कदनं पुरुषाद्रव्यविनाशं विषमावहेत् ॥ १२८ ॥ मध्यमाप्राप्तरेखा या देशिनी स्याद्यदाधिका । प्रचुरस्तत्पितुः पक्षः[९३ब]श्रियश्च विपदो**ऽन्यथा ॥ १२५ ॥** अनामिकाया रेखायाः कनिष्ठा स्याचदाधिका । धनवृद्धिकरी पुंसां मातृपक्षो बहुस्तथा ॥ १२६ ॥ अध् रेखा कनिष्ठानां रेखाः स्युः गृहिणीप्रदाः। समाभिः शुभशीलास्ता विषमाभिः कुशीलिकाः ॥ १२७॥ अध्रेखावसानाभी रेखाभिर्माणवन्धतः । स्पष्टामिश्रीतरः स्पष्टेतरामिर्जामयः स्मृताः ॥ १२८ ॥ उल्लब्ध्यन्ते च यावन्त्योऽङ्गुल्यो जीवति रेखया। पद्मविश्वतितो क्षेयास्तावन्त्यः शस्दो बुधैः ॥ १२९ ॥

अव विशेषः ।

कनिष्ठाङ्गुळिमूला च रेखा गच्छत्यनामिकाम् । अधिरिक्टमा च वर्षाणि त्रिंसदायुर्विनिर्दिशेत् ॥ १३०॥

मीतिक ल्पत्र र

कानिष्ठाङ्गुष्ठितो रेखा गच्छेचदि प्रवेशिनीम् । ंसप्तितं तस्य वर्षाणि विबुधो निर्दिशेद्ध्रुवम् ॥ १३१ ॥ प्रदेशिनी मध्यगताशीति वर्षाणि जीवति । मध्यां व्यतीत्य च गता नवत्यव्दानि जीवति ॥ १३२ ॥ मर्मान्तरगता रेखा शतं वर्षाणि जीवयेत्। कनिष्ठान्तर्गता रेखा नदीमृत्युख कारयेत् ॥ १३३ ॥ ऊर्घरेखा भवेषस्य शृक्तिभिवी विद्दन्यते । अधूरेखा द्रव्यरेखा कर्मरेखा ततः परम् ॥ १३४ ॥ अङ्गुष्ठम्ळादारभ्य कौमारं यीवनं जरा । रेखात्रिके दर्शनीयं कर्मार्थायुश्च तत्र वै ॥ १३५ ॥ मणिबन्धमुखाचायू रेखाया येऽत्र पछ्नवाः। संपदस्ते बहिर्ये च विपदोऽङ्गुल्सिमुखाः ॥ १३६ ॥ यवैरङ्गुष्ठमध्यस्यैर्विद्याख्यातिविभूतयः । शुक्रपक्षे तथा जन्म दक्षिणाङ्गुष्ठगैश्व तैः ॥ १३७ ॥ कृष्णपक्षे तथा जन्म वामाङ्गुष्ठागतैर्यवैः। ववैरङ्गुष्ठम् लस्यैस्तरसं क्याः सूनवो नृणाम् ॥ १३८॥ अनामिकान्तपर्वस्था प्रीतिरेखा प्रभुत्वकृत्। ऊर्घ्या पुनस्तके तस्य धर्मरेखैवमुच्यते ॥ १३९ ॥ अङ्गुष्ठा पितृरेखान्तस्तिर्यप्रेखापदप्रदा । अपत्यरेखाः सर्वाः स्युर्मत्स्याङ्गुष्ठतलान्तरे ॥ १४० ॥ श्चिष्टान्यङ्गुलिमध्यानि द्रव्यसंचयहेतवे । तानि चेन्छिद्रमुक्तानि दानशीलो भवेनरः ॥ १४१ ॥ एकोऽप्यधिमुखस्तस्य मत्स्यः श्रीबृद्धिकारणम् । संपूर्णी कि पुनदीं स्तः पाणि[९४अ]मूळास्यितौ नुणाम् ॥१४२॥ 🐇 तुला वामकरे वज्रं करमध्ये तु दृश्यते । वाणिज्यं सिध्यते तस्य पुरुषस्य न संशयः ॥ १४३ ॥ जर्ध्वरेखा करा येडप्यरेखाः स्युरङ्गुलित्रये । 🦈 🦪 नानाभोगसुखासीनाः समुद्रयचनं यथा ॥ १४८॥

आवर्ता दक्षिणे शस्ता सावर्ताङ्गुलिपर्वसु ।
ताम्राः स्त्रिग्धाः शिखोतुङ्गाः पर्वाधिश्व नखाः शुमाः ॥१४५॥
नखेषु विदन्वः श्वेताः पाण्योश्वरणयोरिष ।
आगन्तवः प्रशस्ताः स्युरिति मोजनृपोऽम्यधात् ॥ १४६ ॥
त्रिकोणरेखया सीरमुसलोळ्खलादिना ।
वस्तुना हस्तजातेन पुरुषः स्यात्कृषीवलः ॥ १४७ ॥
पाणेस्तलेन शोणेन धनी नीलेन मद्यपः ।
पीतेनागम्यनारीगः कृष्णेन च धनोज्ञितः ॥ १४८ ॥
अरेखं बहुरेखं वा येषां पाणितलं नृणाम् ।
तेस्युरल्पायुषो निस्त्वा दुःखिता नात्र संशयः ॥ १४९ ॥
इति पुरुषलक्षणशाखायां पाणिगुच्छकः ।

अय लिङ्गलक्षणम् —

दक्षिणावर्तिलेङ्गेन पुरुषः पुत्रवान्भवेत् ।
वामावर्तेन लिङ्गेन नरः कन्याप्रजो मतः ॥ १५० ॥
स्यूलदीर्घ यस्य लिङ्गं स नरो दुःखभाग् भवेत् ।
प्रलम्बवक्रलिङ्गाश्च पुरुषाः सुखभोगिनः ॥ १५१ ॥
एक्षैकधारिलेङ्गेन नरो भवित पार्थिवः ।
दिधारा धनवन्तश्च बहुधारे दरिद्रता ॥ १५२ ॥
समपादोपविष्टस्य गुल्फो स्पृशित मेहनम् ।
भोगवान्स तु विज्ञेयो वार्थतुरगमेहनः ॥ १५३ ॥
समपादोपविष्टस्य महीं स्पृशित मेहनम् ।
स भवे दुःखितः प्रोक्तो दारिद्येन च पीडितः ॥ १५४ ॥
दीर्घलिङ्गेन दारिद्यं स्यूलिङ्गेन दुःखिता ।
कुशिलेङ्गेन सौभाग्यं हस्विलेङ्गेन भूपता ॥ १५५ ॥

भय शुऋलक्षणम्--

मीनगन्धेन शुक्रेण धनबान्पुत्रवान् भवेत्। इविर्गन्धेन शुक्रेण गवाह्यो जायते नरः॥ १५६॥ मधुगन्धेन शुक्रेण नरः स्नीजनवछ्नाः ।
पद्मगन्धेन यूपी स्यान्महीगन्धेन पार्थिवः ॥ १५७ ॥
राक्षागन्धेन स्यानिस्त्वो मांसगन्धेन [९४ब]तस्करः ।
ससागन्धेन व्यसनी मद्यगन्धेन दुःखितः ॥ १५८ ॥
कटुगन्धेन शुक्रेण पुरुषो दुर्भगो भवेत् ।
स्नारगन्धेन शुक्रेण नरा दारिद्यभागिनः ॥ १५९ ॥ इति

अथ शुक्रवर्णलक्षम्—

पयोवर्णेन शुक्रेण भवेदाजा न संशयः । श्यामवर्णेन शुक्रेण बद्धभोगी भवेचरः ॥ १६० ॥ इति

भय जङ्घालक्षणम्--

तुरक्रजहा धनिनो राजानो मृगजहाताः । दीर्घजहाः स्थूळजहा जायन्ते पथिगामिनः ॥ १६१ ॥ सिंहजहा व्याव्रजहा धनकीर्तिसमन्विताः । रोमयुक्ता च जहा च दारिद्यं सापि यच्छति ॥ १६२ ॥ शृगाक्रसमजहा ये कक्ष्मीस्तेषां न जायते । मीनजहुश्च यो छक्ष्मी स प्राप्नोति न संशयः । काक्षजहा नरा ये च तेषां राज्यं विनिर्दिशेत् ॥१६३॥ इति

अथ गतिलक्षणम्—

हंसहस्त्यश्वगत्या च पुरुषाः स्युर्नराधिपाः । शृषभा ... कानाम्च गतिर्मोगवतां भवेत् ॥ १६४ ॥ जलोर्मिसदशा येषां काकोल्दकसमागतिः । द्रन्यक्षयकरी ज्ञेया दुःखशोककरी तथा ॥ १६५ ॥ स्रोष्ट्राणां महिषाणां च खरस्करयोस्तथा । गतिर्येषां समाख्याता ते नराः भाग्यवर्जिताः ॥ १६६ ॥ इति

¹ Corrupt.

अय पादाङ्गुलिलक्षणम्—

अङ्गुष्ठौ विपुळौ येषां ते नरा दुःखभागिन:। क्किरयन्ते विकृताङ्गुष्ठा नराश्च पथिगामिनः ॥ १६७॥ उन्नतैश्व समक्रिग्वैरसितैः सुखभागिनः । वृत्ते रक्तैस्तथा जाता नखेर्ये स्युर्नराधिपाः ॥ १६८॥ यस्य प्रदेशिनी दीघी हाङ्गुष्ठं च व्यतिक्रमेत्। स्त्रीभोगं लभते नित्यं पुरुषो नात्र संशयः ॥ १६९ ॥ मध्यमायां तु दीर्घायां दीर्घा हानि विनिर्दिशेत्। अनामिकायां दीर्घायां विद्यामोगी भवेत्ररः ॥ १७० ॥ सा च हस्वा भवेषस्य स स्यात्पारदारिकः । कनिष्ठायां च दीर्घायां सुवर्णस्य च मागिनः ॥ १७१ ॥ यस्य प्रदेशिनी स्थूला भीतिस्तस्य कनिष्ठिका । ह्म्या क्केशाय भोगायाङ्गुष्ठ दीर्घा प्रदेशिनी ॥ १७२ ॥ [९५अ]यस्य पादतले रेखाङ्कशश्वापि विराजते । सेनानां नायकं विद्याद्गजानामधिपं तथा ॥ १७३॥ क्रिटिलाश्च तथा शून्या यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि । तं सर्वदुः खितं नित्यं धनहीनं विनिर्दिशेत् ॥ १७४ ॥ असंहतामिईस्वाभिरङ्गुलीभिश्व मानवाः । दासा वा दासकर्माणः समुद्रवचनं यथा ॥ १७५ ॥ अङ्गुल्योऽपि समा दीघीः संहताश्च समुनताः। येषां प्रदक्षिणावतीः पार्थिवास्ते न संशयः ॥ १७६ ॥ जानुनी मांसले स्निग्धे ऊरू विस्तीर्णवर्तुलै । इष्टिकाभा कटी शस्ता मध्यं तु कुलिशोपमम् ॥ १७७॥ इति दिङ्मात्रमेतस्य कीर्तितं शास्त्रतो मया । महामतिविनोदाय प्रसङ्गे शोभतेऽखिलम् ॥ १७८ ॥ संक्रामितमिदं सर्वं यत्तैरुक्तं महात्माभिः । आक्षेपमात्रमप्येते बिन्दुच्युत्या न मे भरः ॥ १७९ ॥

आक्षेपेति । अयं भावः--

अत्र वैद्यस्क्ष्मनये स्क्ष्ममेव किञ्चिद्वश्यं वर्णनीयमासीत् । तस्वत्र न छम्यते इति यदमियुक्ता आक्षिपन्ति । विन्दुच्युतिति । विन्दुच्युतिन्यायेन यथा विन्दुः च्युतः स्थितश्चार्थान्तरप्रतीतिं करोति तथात्रापि काचित्कणिका चेत् च्युता मषकतिलकादिलक्षणा सर्वमेतत् शिथिलयित । तथा चोक्तनयने सुल-क्षणे कुलक्षणे वा पुरुषे प्रत्यभिज्ञाने तत्रैव स्थानान्तरस्थितस्चकविन्दुसदश तिल्मात्रेणापि चान्तरं[९५व]महदापतित ।

सुरुक्षणे कुरुक्षणं कुरुक्षणं सुरुक्षणमिति तदिषे कथनीयमासीत् । यन कथितं तदाक्षेपमात्रं त एवेति भावः । निदर्शितं च प्राच्येरि विन्दुच्यु-तिस्थितिम्यामर्थान्तरप्रतीतिर्यथा—

' काळे जळधरजाळे सहकारमनोहरे ।

कान्तः सर्वगुणोपेतो बाले दुःखेन लम्यते ' ।। १८० ।। इति अत्रार्थः — हे बाले जलधरजाले काले वर्षाकाले सहकारकुष्धममनोहरे कान्तः सर्वगुणोपेतः स दुःखेन लम्यते । स तावहुरुजनाज्ञया धर्मपितर्द्रे लगः । अधुना च समयोगक्षेमया भवत्या यदि मद्धे प्रयस्यते तथापि कान्तः कमनीयः सर्वगुणोपेतश्च कथं लम्यते । कुलसराणं न्यतीत्य भवदनुरोधेन यद्यपि क्रियते तथापि तादशकान्ताभावाद्धर्महानिः । कुलाङ्गनास्वानुतापश्च शिष्यत इति प्रबोधनायागता सखीं प्रति बालायां लिखन्त्यां तदाश्वासनार्थे तत्र श्वशुरे समायाते तत्रासौ शीर्ण बिन्दुं पातयामास । बालेन्दुः खे न लम्यते इति बिन्दौ च पातिते गुरुदर्शनोचितोऽसौ स्ठोको जातः ।

तथा च एतादशकाळे मेघाच्छादितत्वात् आकारो बाळेन्दुः कोमळन्चन्द्रो न लभ्यते । इति

(९६अ) अथ स्त्रीलक्षणशाखा । तत्राप्यादौ सामान्यलक्षणमुभयानुगतं यथा।

आवर्ता दक्षिणे पुंसां स्त्रीणां वामे शुमप्रदाः ।

स्पन्दनं स्फुरणं छक्ष्म तिलको मषको ब्रणः ॥ १ ॥

अत्र वराहाचार्यो विशेषमाह—

उत्पातगण्डिपिटका दक्षिणतो वामतस्त्वभिवाताः । धन्या भवन्ति पुंसां तद्विपरीताश्च नारीणाम् ॥ २ ॥

अय स्त्रीणां विशेषळक्षणानि

पादौ समाङ्गुळी स्निग्धौ भूम्यां यदि प्रतिष्ठतः। यस्याः सकोमछौ रक्तौ सा कन्या गृहमण्डिनी ॥ ३ ॥ प्रतिष्ठतः इति समुद्रया भूमिं स्पृशतः । तथा च समुद्रः— समन्तात्भूमिसंद्रग्नं यस्याश्वरणयोस्तद्रम् । अष्टौ पुत्रान्प्रसूते सा पत्युः संतानवर्धिनी ॥ ४ ॥ इति चकस्वस्तिकशङ्खाञ्जध्वजमीनातपत्रवत्। यस्याः पादतले रेखा सा भवेत् क्षितिपाङ्गना ॥ ५ ॥ भवेदखण्डभोगायोध्वी मध्याङ्गुलिसंगता । रेखाखुसर्पकाकाभा दुःखदारिद्यसूचिका ॥ ६ ॥ यस्याः पादतछे रेखा तर्जनी याति चोर्ध्वगा । भर्तारं छभते शीघं प्रिया भर्तुश्च जायते ॥ ७॥ पादे प्रदेशिनी यस्या अङ्गुष्ठाग्रं व्यतिक्रमेत् । न सा भर्तृगृहे तिष्ठेत्स्वच्छन्दा कामचारिणी ॥ ८ ॥ पादे मध्यमिका यस्या अङ्गुष्ठं च न्यतिक्रमेत्। कुशीला दुर्भगा चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्। ९ ।। यस्यास्त्वनामिका हस्वा तां विदुः कलहप्रियाम् । भूमि न स्पृशते यस्याः खादते सा पतिद्वयम् ॥ १० ॥ पादे कानिष्ठिका यस्या भूमिं न स्पृशते यदि । भतीरं प्रथमं इत्वा द्वितीये सुप्रतिष्ठिता ।। ११ ।। अनामिका च मध्या च यस्या भूमिं न च स्पृशेत्। पतिद्वयं निहन्त्याचा द्वितीया च पतित्रयम् ॥ १२ ॥ [९६ब]पतिहीनत्वकारिण्यो हीने ते द्वे यदा च वै । उन्नतो मांसलोऽङ्गुष्ठो वर्तुलोऽतुल्मोगदः ॥ १३ ॥ वको हस्वश्च चिपिटः सुखसौभाग्यभञ्जकः । विधवा विपुलेन स्यादीर्घाङ्गुष्ठेन दुर्भगा ।। १४ ॥ दीर्घाङ्गुळीभिः कुळजा कृशाभिरतिनिर्धना । ह्स्वायुष्या च ह्स्वाभिर्भुग्नाभिर्भुग्नवर्तिनी ॥

चिपिटाभिर्भवेदासी विरलाभिर्दरिद्रिणी ॥ १५ ॥
परस्परं समारुद्धा यदाङुग्ल्यो भवन्ति हि ।
हस्ता बहुनिप पतीन्परप्रेष्या तदा भवेत् ॥ १६ ॥
यस्याः पथि समायान्त्या रजो भूमेः समुष्छलेत् ।
सा पांस्वला प्रजायेत कुलत्रयविनाशिनी ॥ १७ ॥
राज्ञीत्वसूचकं लीणां पादपृष्ठं समुनतम् ॥ १८ ॥
दरिद्रा मध्यनम्रेण सिरालेन सदाखगा ।
रोमाद्रोन भवेदासी निर्मोसेन च दुर्भगा ॥ १९ ॥ इति

भय जङ्घालक्षणम्—

समपार्तिणः शुमा नारी पृथुपिष्णिश्च दुर्भगा ।
कुटिलोश्नतपार्तिणः स्यादिधिपार्तिणश्च दुःखमाग् ॥ २० ॥
विषमैरुनतैर्गुन्फैर्नार्यस्तु करुद्दित्रयाः ।
निगूदगुन्फा या नारी सा नित्यं सुखमेश्नते ॥ २१ ॥
रोमद्दीने समे जङ्वे सुक्तिग्वे कमवर्तुले ।
यस्याः सा राजपत्नी स्यादिसिरे सुमनोहरे ॥ २२ ॥
एकरोमा राजपत्नी दिरोमापि सुखास्पदम् ।
त्रिरोमा यापि कृपेषु भवेदैधव्यदुःखमाग् ॥ २३ ॥ इति

अथ जान्लहाणए-

वृत्तं पिशितसमग्रं जानुयुग्मं प्रशस्यते । निर्मोसं स्वैरचारिण्या दरिद्रायाश्च विश्लयम् ॥ २४ ॥ इति

अथोरुलक्षणम्--

विश्वरेः करमाकारेर्ग्रहिमर्मसृणेर्धनैः । सुवृत्ते रोमरिहतैर्भवेयुभूपवल्लभाः ॥ २५ ॥ इति

भय कटिलक्षणम्--

चतुर्भिरङ्गुलैः शस्ता कटिविंशतिसंयुतैः । समुनतनितम्बाद्या चतुरश्रा मृगीदृशाम् ॥ २६ ॥ विनता चिपिटा दीर्घा निर्मासा संकटा[९७अ]किटः । इस्वा रोमयुता नार्या दुःखवैधव्यसूचका ॥ २७ ॥ इति

भय नितम्बलक्षणम्—

नितम्बिबम्बो नारीणामुकतो मांसलः पृथुः । महाभोगाय संप्रोक्तस्तदम्यो शर्मणे मतः ॥ २८॥ इति

अथ स्फिग्लक्षणम्—

कपिस्थफलयदृत्तौ मृदुलौ मांसलौ घनौ । स्फिजौ वलिविनिर्मुक्तौ रतिसौख्यविवर्धनौ ॥२९॥ इति

भय भगलक्षणम्--

द्यागः कमठपृष्टाभो गजस्कन्धोपमो भगः।
वामोन्नतस्तु कन्यादः पुत्रदो दक्षिणोन्नतः ॥ ३० ॥
आखुरोमा गृढमणिः सुश्विष्टः संहतः पृथुः ।
तुङ्गः कमठवर्णाभः शुभोऽखत्यद्वाकृतिः ॥ ३१ ॥
निर्मासं चातिदीर्धञ्च भगं शुष्कं सिरायुतम् ।
दारिद्रघदुःखदं तत्स्याद्दौर्भाग्यं चैव निर्दिशेत् ॥ ३२ ॥
शञ्चावर्तं भगं यस्या सा गर्भमिह नेष्छति ।
आवर्तस्तु भवेषस्वा भगस्योपरि मस्तके ॥
तस्या विवर्धते पुत्रो धनधान्यसमन्वितः ॥ ३३ ॥
गुद्यान्ते तिरुकं यस्या रक्तं कुंकुमसिन्भम् ।
अथवा दक्षिणे भागे प्रशस्ता सा निग्रवते ॥ ३४ ॥ इति

भय जघनलक्षणम्--

भगस्य भारुं जघनं विस्तीण तुङ्गनासिकम् । मृदुछं मृदुरोमाद्यं दक्षिणावर्तमीरितम् ॥ ३५ ॥ वामावर्तं च निर्मासं सुग्नं वैधव्यस्चकम् । संकटं स्यपुटं गूदं जघनं दुःखदं सदा ॥ ३६ ॥ इति

भप बस्तिलक्षणम्---

बस्तिः प्रशस्ता विपुन्न मृद्धी स्तोकसमुनता । रोमशा च सिराला च रेखाङ्गा नैव शोभना ॥ ३७॥ इति

अय गन्धलक्षणम्—

धान्यगन्धा च या नारी निम्बगन्धा च या भवेत् ।
वर्जनीया प्रयत्नेन यदीच्छेचिरजीवितम् ॥ ३८ ॥
क्षारगन्धां स्रजंन्नारीं तथैव कटुगन्धिनिम् ।
रक्तगन्धा च या नारीं सा नारी दुःखदायिनी ॥ ३९ ॥
गोम्ब्रहरितालाम्यां यस्या गन्धः प्रवर्तते ।
दुष्टगन्धा च या नारी[९७व]तां नारीं परिवर्जयेत् ॥ ४० ॥
तुम्बीपुष्पसमागन्धा लक्षागन्धानुकारिणी ।
तस्या नैव भवेद्वर्ता दुःखिता चैव जायते ॥ ४१ ॥
चम्पकादित्यपुष्पाणां यदि गन्धो भवेत्स्वयः ।
सुभगा सा भजेन्तित्यं भर्तारं वश्चवितिनी ॥ ४२ ॥
यावच्छुकुन्दरिगन्धा मत्स्यगन्धा च या भवेत् ।
वप्रगन्धा च या नारी तां नारीं परिवर्जयेत् ॥ ४३ ॥ इति

अय नाभिलक्षणम्—

गम्भीरा दक्षिणावर्ता नामी स्यात्सुखसंपदे । बामावर्तसमुत्याना व्यक्तमन्थिन शोभना ॥ ४४ ॥ नाभेरघो भवेषस्या छक्षणं मषकोपमम् । कुक्कुमोदकसंकाशं प्रशस्तासौ निगषते ॥ ४५ ॥ इति अय पार्श्वलक्षणम्—

मध्यं विश्वित्रयोपेतं क्रशं शुभमरोमशम् ।
स्ते धुतान्बहूनारी पृयुकुाक्षिः धुखास्पदम् ॥ ४६ ॥
स्ति धुतान्बहूनारी पृयुकुाक्षिः धुखास्पदम् ॥ ४६ ॥
स्तितीशं जनयेरपुत्रं मण्डूकामेन कुक्षिणा ॥ ४७ ॥
उन्नतेन वर्णभाजा सावर्तेनापि कुक्षिणा ॥ ४७ ॥
वन्ध्या प्रव्रजिता दासी क्रमाद्योषा मवेदिह ।
समैः समासैः पृथुमिर्योषा या स्यात्समाश्रिता ॥ ४८ ॥
पार्थैः सौभाग्यसुखयोर्निधानं स्यादसंशयम् ।
यस्या दश्यसिरे पार्थे उन्नते रोमसंयुते ॥ ४९ ॥
विरपत्था च दुःशीका सामवेद्दःखशेविषः ॥ ५० ॥ इति

अथोदरलक्षणम्—

उदरेण।तितुच्छेन विसिरेण मृदुत्वचा ।
योषिद्भवति भोगाद्या नित्यं मिष्टान्नसेविनी । ५१ ॥
कुम्भाकारं दिद्धाया जठरं च मृदङ्गवत् ।
कुष्माण्डामं यवामं च दुष्पूरं जायते खियः ॥ ५२ ॥
सुविशालोदरा नारी निरपत्या च दुर्भगा ।
प्रलम्बजठरा हन्ति खग्रुरं देवरं तथा ॥ ५३ ॥
मध्ये क्षामा च सुभगा भोगात्या सवलित्रया ।
ऋडवी तन्वी च रोमाली यस्याः सा शर्मनर्भभूः ॥ ५४ ॥
किपिला कुटिला स्थूला विच्छिना रोमराजिका ।
वैरवैधव्यदौर्भाग्यं विद्ध्यादिह योषिताम् ॥ ५५ ॥ इति

अथ हृद्यलक्षणम्—

निर्लोमह[९८अ]द्यं यस्याः समं निग्नत्ववर्जितम् । ऐस्वर्यं चाप्यवैधःयं प्रियप्रेम च सा छमेत् ॥ ५६ ॥ विस्तीर्णहृदया योषा पुंश्वछी निर्दया तथा । उद्गित्तरोमहृदया पतिं हन्ति विनिश्चितम् ॥ ५७ ॥ अष्टादशाङ्गुलतरमुरः पीवरमुन्नतम् । सुखाय दुःखाय भवेद्रोमशं विषमं पृथु ॥ ५८ ॥ इति

अथ स्तनलक्षणम् --

घनौ वृत्ती दृढी पीनौ समौ शस्तो पयोधरौ ।
स्थूलाग्री विरलौ शुष्को वामोरूणां न शोभनौ ॥ ५९ ॥
दक्षिणोन्नतवक्षोजा पुत्रिणां व्यग्नजा मता ॥
वामोन्नतकुचा सूते कन्यां सौभाग्यसुन्दरीम् ॥ ६० ॥
अरघट्टघटीतुल्यो कुचौ दौःशील्यसूचकौ ।
पीवरास्यौ सान्तरालौ पृथूपान्तौ न शोभनौ ॥ ६१ ॥
मूले स्थूलौ कमकृशावांग्र तीक्षणौ पयोधरौ ।
सुखदौ पूर्वकांले तु पश्चादत्यन्तदुः खदौ ॥ ६२ ॥

सुदृशां चूचुकयुगं शस्तं स्थामं सर्वातुलम् । अन्तर्भग्नं च दौर्वं च कृशं क्रेशाय जायते ॥ ६३ ॥ यस्याः पयोधरे वामे तिल्कं चासितं भवेत् । कर्णे कण्ठे सुगात्राया सा कन्या सुखदायिनी ॥ ६४ ॥ इति

अय जत्रुलक्षणम्--

पीवराम्यां च जतुभ्यां धनधान्यनिधिर्वधूः । श्वथाभ्यां चैव निम्नाभ्यां विषमाभ्यां दरिद्रिणी ॥ ६५ ॥ इति

अय स्कन्धलक्षणम्—

व्यवन्धावनतौ स्कन्धावदीर्घावकृशौ शुभौ । वक्रौ स्थूछौ च रोमाङ्यौ प्रैष्यवैधन्यसूचकौ ॥ ६६ ॥ निगूढसन्धी निम्नाभौ शुभावसौ सुसंहतौ । वैधन्यदौ समुश्वाभौ निर्मोसावतिदुःखदौ ॥ ६७ ॥ इति

अव कक्ष्यलक्षणम्--

कक्ष्ये सुसूक्ष्मरोम्णी च तुङ्गे किग्धे च मांसले । शस्ते न शस्ते गम्भीरे सिराले स्वेदमेण्डले ॥ ६८ ॥ इति

अथ करलक्षणम्—

स्यातां दोषौ सुनिदोषौ गृहास्थिप्रन्थिकोमहा ।
विसिरो च विरोमाणौ सरहा च मृगी[९८व] दशाम् ॥ ६९ ॥
वैधव्यं स्थूकरोमाणौ हस्वौ दोर्भाग्यस्चकौ ।
परिक्वेशाय नारीणां परिदृश्यसिरो मुकौ ॥ ७० ॥
अम्भोजमुकुळाकारं मध्योमतमरन्ध्रकम् ।
प्रशस्तं शस्तरेखाद्यमलपरेखं शुभाषहम् ॥ ७१ ॥
विधवा वस्वरेखेणारेखेणापि दरिदिणी ।
मिक्कुकी सिसराद्येन नारी करतकेन व ॥ ७२ ॥
मस्येन सुभगा नारी स्वस्तिकेन वसुप्रदा ।
पद्मेन स्पतेः पत्नी जनयेद्भ्पति सुतम् ॥ ७३ ॥
चक्कावर्तः खियः पाणौ नन्धावर्तः प्रदक्षिणः ।
शक्कावर्तः खियः पाणौ नन्धावर्तः प्रदक्षिणः ।

तुळामानाकृतीरेखे वणिक्पत्नीत्वसूचिके । गजवाजिवृषाकाराः करे वामे मृगीदशाम् ॥ ७५ ॥ रेखा प्रासादवजामा ब्रूयुस्तीर्थंकरं ग्रुमम् । कृषीवलस्य पत्नी स्याच्छकटेन युगेन वा ॥ चामराङ्कुराकोदण्डै राजपत्नी भवेद्ध्वयम् ॥ ७६ ॥ अड्गुष्ठम्लानिर्गत्य रेखा याति कनिष्ठिकाम्। यदि सा पतिहन्त्री स्याहूर्तस्तां त्यजेत्सुधीः ॥ ७७ ॥ त्रिशुळासिगदाशक्तिदुन्दुभ्याकृतिरेखया । नितम्बनी कीर्तिमती स्थागेन पृथिवीतले ॥ ७८ ॥ अङ्गुल्यश्च सुपर्वाणो दीर्घावृत्ताः क्रमात्कृशाः । शुभा हस्वाः कृशा वक्रा विरला दुःखसूचकाः ॥ ७९ ॥ अरुणाः सशिखास्तुङ्गाः करजाः सुदृशां शुभाः । निम्ना विवर्णाः शुक्छाभाः पीता दारिद्यकारकाः ॥ ८० ॥ नखेषु बिन्दवः श्वेताः प्रायः स्युः स्वैरिणी स्नियाः । अन्तर्निमग्नवंशास्थिः घृष्टिः स्यान्मांसला शुभा ॥ ८१ ॥ पृष्ठेन रोमयुक्तेन वैधव्यं छभते ध्रुवम् । भग्नेन विततेनापि ससिरेणातिदुःखिता ॥ ८२ ॥ इति

अथ ग्रीवालक्षणम् —

(९९ अ) ग्रीवया छम्बया चण्डी दरिद्रा हस्वयातया । कुळस्य नाशिनी नारी दीर्घया च मवेत्पुनः १। ८३ ॥ यस्या ग्रीवा सुवृत्तास्यादेखात्रितयसंयुता । दक्षिणावर्तसंकाशा सा भाग्येनाधिका मवेत् ॥ ८४ ॥ इति

अथ चिबुकलणम्--

चिबुकं ब्राङ्गुळं शस्तं वृत्तं पीनं सुशोभनम् । स्थूळं द्विधा संविभक्तमायतं रोमशं स्यजेत् ॥ ८५ ॥ इनुश्चिबुक्तसंलग्ना निर्लोमा सुधना शुमा। वक्ता हस्या कृशा स्थूळा रोमशा न शुभप्रदा ॥ ८६ ॥ इति

अथ कपोललक्षणम्—

शस्तौ कपोछौ वामाक्ष्याः पीनौ वृत्तौ समुन्नतौ । रोमशौ परुषौ निम्नौ निर्मासौ परिवर्जयेत् ॥ ८७ ॥ यस्यास्तु इसमानाया गण्डे भवति कूपकः । न सा भर्तृगृहे तिष्ठेरस्वच्छन्दा कामचारिणी ॥ ८८ ॥ इति

अथ अथास्यलक्षणम्--

समं समांसं सुस्निग्धं सामोदं वर्तुछं मुखम् । जनितृवदनाच्छाद्यं धन्या नारीइ जायते ॥ ८९ ॥

अथाघरलक्षणम्—

पाटलो वर्तुलः स्निग्धो लेखाभूषितमध्यभूः । सीमन्तिनीनामधरो घराजानिप्रियो भनेत् ॥ ९० ॥ स्यावः स्थूलोऽधरोष्ठः स्याद्धैधन्यकल्हप्रियः । रोमशौ चातिलम्बो च यस्या लोष्ठपुटौ पुनः । विषमौ चातिस्थूलो च पतिष्नी वनिता भनेत् ॥ ९१ ॥ इति

अथ दन्तलक्षणम्--

गोक्षीरसिनभाः स्निग्धा द्वात्रिंशदशनाः शुमाः । अधस्तादुपरिष्टाच समाः स्तोकसमुन्नताः ॥ ९२ ॥ पीनाः श्यावाश्च दशनाः स्थूलदीर्घा द्विपक्क्तयः । शुक्राकाराश्च विरला दुःखदौर्गत्यकारणम् ॥ ९३ ॥ अधस्तादिधिकैर्दन्तैर्मातरं भक्षयेत्स्फुटम् । पतिद्वाना च विकटैः कुटिला विरलेभेवेत् ॥ ९४ ॥ इति

अथ जिह्वालक्षणम्

जिद्धेष्टिमिष्टमे।क्त्री स्याच्छोणा मृद्दी तथा सिता । दुःखाय मध्यसंकीर्णा पुरे।भागे सुविस्तरा ।। ९५ ।। सितया तोयमरणं स्यामया कल्हप्रिया । दरिद्रा स्यान्मांसल्ल[९९ब]या लम्बया मक्ष्यमक्षिणी ।। विशालया रसनया प्रमदार्तिप्रसादमाक् ।। ९६ ।। इति

अय तालुलक्षणम्—-

श्वेतेन तालुना दासी दुःग्विता कृष्णतालुना | हरितेन च रूक्षेण रक्ततालुः सुशोभना ।। ९७ ।। इति

भन्नान्यत्र विस्तारः

सिततास्त्रिनि वैधव्यं पाते प्रविता भवेत् ।
कृष्णे पितवियोगाती रूक्षे भूरिकुटिम्बिनी ।। ९८ ।।
कण्ठे स्थूला सुवृत्ता च ... व लोहिता ।
य....शुभा.... स्थूला कृष्णा च दुःखदा ।। ९९ ।। इति

अय स्मितलक्षणम्—

अलक्षितदिजं किञ्चित किञ्चित्पुलकपोलकम् । स्मितं प्रशस्तं सुदशामनिमीलितलोचनम् ॥ १०० ॥ इति

अय नासालक्षणम्—

दीर्घण नासिकाग्रेण नारी भवति कोपिनी । इस्वेन तु भवेदासी परकर्मकरी तथा ।। १०१ ॥ चिपिटा नासिका यस्या वैधव्यं साथ गच्छिति । मातिदीर्घा न विस्तीर्णा सरङा सौख्यकारिणी ।। १०२ ॥ समवृत्तपुटा नासा छघुच्छिदा ग्रुभावहा । स्थुछाप्रा मध्यनमा च न प्रशस्ता समुन्नता ॥ अकुिष्वतारुणात्रा च वैधव्यक्केशदायिनी ॥ १०२ ॥ इति

अय लोचनलक्षणम्—

दीर्घायुः चक्कुदैर्प्यं युगपत् द्वित्रिपिण्डितम् । उन्नताक्षी न दीर्घायुर्वृत्ताक्षी कुलटा भवेत् ॥ १०४ ॥ मेषाक्षी केकराक्षी च महिषाक्षी न शोभना । पिङ्गनेत्रा भवेनारी अप्रिया चैव भामिनि ॥

¹ Corrupt.

दुःशिला सा च विज्ञेया वैधव्यं लभते पुनः ॥ १०५ ॥ रमणी मधुपिङ्गाक्षी धनधान्यसमृद्धिभाक् ॥ पक्ष्मभिः सुघनैः स्निग्धैः कृष्णैः सूक्ष्मैः सुभाग्यभाक् ॥१०६॥ इति

अथ म्रूलक्षणम्—

भूवौ सुवर्तुले तन्न्यौ स्निग्धे कृष्णे असंहते । प्रशस्ते मृदु भानौ सुभुवः कार्मुकाकृती ॥ १०७ ॥ इति

अथ कर्णलक्षणम्—

कर्णो लम्बी शुभावर्ती सुखदी च शुभावही । शष्कुलीरहितौ निन्धो सिरालो कुठिलो कशो ॥ १०८ ॥ इति

भय ललाटलक्षणम्—

भारूः सिरा १००अ] विरहितो विरोमार्थेन्दुसिन्नमः । अनिम्नस्त्रयङ्गुळोनार्धाः सीभाग्यारोग्यकारणम् ॥ १०९ ॥ व्यक्तस्वस्तिकरेखं च छ्छाटं राज्यसंपदे । प्रलम्बमिक्कं यस्या देवरं हृन्ति सा ध्रुवम् ॥ ११० ॥ रोमशेन सिरालेन प्रांशुना रोगिणी मता । सीमन्तः सरलः शस्तो मौलिः शस्तः समुन्नतः । गजकुम्भिनभो वृत्तः सीभाग्यश्चर्यसूचकः ॥ १११ ॥ स्यूलमूर्धा च विधवा दिविशीर्षा च बन्धकी । विशालेन। पि शिरसा भवेदीर्भाग्यभागिनी ॥ ११२ ॥

समुद्रः ।

यथा मुखं तथा गुहां यथा चक्षुस्तथा मगः ।
यथा हस्तौ तथा पादौ बाहू जहें तथेव च ॥ ११३॥
यस्यास्तु हसमानाया छछाटे तिछको मवेत् ।
वाहनानां समस्तानां साधिपस्यं च गच्छिति ॥ ११४॥
छछाटं त्र्यश्चुछं यस्याः शरीरं रोमवर्जितम् ।
निर्मेष्ठं च समं देहं सायुःसौख्यधनप्रदा ॥ ११५॥

¹ Currapt.

यस्याखाणि प्रलम्बानि छ्छाटमुदरं भगः । सापि संहरते त्रीणि खशुरं देवरं पतिम् ॥ ११६ ॥ इति

अथ केशलक्षणम्—

स्थूलकेशा पतिष्नी स्यादीर्घकेशा धनप्रदा । परुषैः कपिलैः कूरा स्कन्धकेशी च शोमना ।। ११७ ।। इति

अथ स्वरलक्षणम्

हंसस्वरा क्रौञ्चस्वरा कोकिल्भ्रमरस्वरा।
चक्रवाकस्वरा या च धनधान्यविवधिनी।। ११८॥
हंसस्वरा मेघवणी नारी या दीर्घलोचना।
यस्य गेहे तु सा गच्छेत् तदृहं पुण्यमाजनम्॥ ११९॥
तीक्ष्णस्वरातिगम्भीरस्वरातिमधुरस्वरा।
अष्टौ सा जनयेत्पुत्रान्धनधान्यसमन्विता॥ १२०॥ इति

अय लाञ्छनावर्ततिलकलक्षणम्—

कल्यावर्ता वरा नारी नाभ्यावर्ता वृतात्मजा।
पृष्ठावर्ता पतिष्नी सा तसादेतां विवर्जयेत्।। १२१॥
वृत्तः पृष्ठे तथावर्तो यस्या भवित निश्चितम्।
बहून्रमेत षुरुषान्दुःखितान्कुरुते पुनः। १२२॥
वामावर्तो भवेद्यस्या वामे यदि च मस्तके।
निर्ठक्षणतया सा स्याद्विक्षामात्रैकर्जाविनी।। १२३॥
दक्षिणो दक्षिणे भागे यस्थावर्तस्तु मस्तके।
तस्या नित्यं प्रजायेत कमला करवर्तिनी।। १२४॥
यस्यास्तु हृदये नार्या रक्ताभित्तिलको भवेत्।
लाञ्चनन्त्र्व भवेद्रक्तं सा नारी शोभना भवेत्।। १२५॥
लभते वित्तसंपत्ति पति च वशवर्तिनम्।
पुत्रत्रयं प्रसूते सा तथा कन्याचतुष्टयम्।। १२६॥
स्तने वामे च कृष्णाभं लाञ्छनं तिलकोपमम्।
क्षिप्रं वैधन्यमाप्नोति जायते सा च दुःखिता।। १२७॥

भूवोरन्तर्रुछाटे वा मषको राज्यसूचकः। वामे कपोले मणकः शोणो मिष्टानदः स्नियः ॥ १२८॥ तिलकं लाञ्छनं चापि हृदि सीभाग्यकारणम् । यस्या दक्षिणवक्षोजे शोणे तिलक्काञ्छने ॥ कन्याचतुष्टयं सूते सुतानामपि च त्रयम् ॥ १२९ ॥ तिलकं लाञ्छनं शोणं यस्या वामे कचे भवेत् । एकं पुत्रं प्रस्यादौ ततः सा विश्वता भवेत् ॥ १२० ॥ गुह्यस्य दक्षिणे भागे तिलकं यदि योषितः । तदा क्षितिपतेः पत्नी सूते वा क्षितिपं सुतम् ॥ १३१ ॥ नासाप्रे मषकः शोणो महिष्या एव जायते । कृष्णः स एव भर्तृष्ट्याः पुंश्चल्याः परिकीर्तितः ॥ १३२ ॥ नाभेरधस्तात्तिलको मषको लाञ्छनं शुभम् । मणकित्तलकं चिह्नं गृह्यदेशे दरिदकृत् ॥ १३३ ॥ करे कर्णे कपोले वा कण्ठे वामे स्पुरेद्यदि । एषां त्रयाणामेकं तु प्राग्गर्भे पुत्रदं भवेत् ।। १३४ ॥ भालगेन त्रिशूलेन निर्मितेन स्वयम्भवा । नितम्बिनीसहस्राणां स्वामित्वं योषिदाप्नुयात् ॥ १३५ ॥ पाणौ प्रदक्षिणावर्ती धन्यो वामी न शोभनः। नाभी श्रुताबुरास वा दक्षिणावर्त ईरितः ॥ १३६ ॥ सुखाय दक्षिणावर्तः पृष्ठवंशस्य दक्षिणे । अन्तःपृष्ठे नाभिसमो बह्वायुःपुत्रवर्धनः ॥ १३७ ॥ राजपत्न्याः प्रशस्येत भगमोली प्रदक्षिणः । स चेच्छकटभङ्गः स्याद्वह्वपत्यसुखप्रदः ॥ १३८ ॥ कटिगो गुह्यवेधेन पत्यपत्यनिपातनः। [१०१अ]स्यातामुदरवेगेन पृथ्वावर्ती न शोभनी ॥ १३९ ॥ एकेन इन्ति भतीरं भवेदन्येन पुंश्वछी । कण्ठगो दक्षिणावर्तो दुःखत्रैधन्यसूचकः ॥ १४० ॥

सीमन्ते च छछाटे च त्याज्यो दूरात्प्रयत्नतः।
सा पति हन्ति वर्षेण यस्या मध्ये कृकाटिकम्।
प्रदक्षिणो वा वामो वा रोम्णामावर्तकः खियः ॥१४१॥
एको वा मूर्धनि हौ वा वामे वामगती यदि ।
आदशाहं पतिन्नौ तौ त्याज्यौ दूरात्सुबुद्धिना ॥ १४२ ॥
कट्यावर्ता च कुटिछा नाम्यावर्ता पतिव्रता ।
पृष्ठावर्ता च मर्तृष्ट्नी कुछटा वाथ जायते ॥ १४३ ॥ इति

समुद्रः—

छछाटे दृश्यते यस्याः कृष्णं तिलक्षमुत्तमम् । पञ्च सा जनयेत्पुत्रान् धनधान्यसमाकुछा ॥ १४४ ॥ यस्यास्तु हसमानाया छछाटे स्वस्तिको भवेत् । वाहनानां सहस्रस्य साधिपत्यं ध्रुवं छभेत् ॥ १४५ ॥

अथ संक्षेपेण सुरुक्षणपोडग्रकम्--

पीनोरुः पीनगण्डा, समसितदशना, पद्मपत्रायताक्षी ।
विम्बोष्ठी, तुङ्गनासा, गजपतिगमना, दक्षिणावर्तनाभिः ॥
स्विग्धाङ्गी, चारुवेशा, मृदुपृथुजधना, सुस्वरा, चारुकेशा, ।
भर्ता तस्याः क्षितीशो भवति च सुभगा पुत्रयुक्ता च नारी॥१४६॥
ऊरू शुभौ करिकरप्रतिमावरोमावश्वत्य यत्र सदृशं विपुळं च गुह्मम् ।
श्रोणी ळळाटमुरुकूर्मसमुत्रतं च गूढो मणिश्च विपुळां श्रियमातनोति ॥१४७॥

अय कुलक्षणपोडशकम्-

पिङ्गाक्षी, गण्डक्षा, खरपरुषरवा, स्थूळजङ्कोध्वेकेशी, कक्षाक्षी, वक्रनासा प्रविरछदशना कृष्णताल्वाष्ठजिङ्का । शुष्काङ्की संहतभूः कुचयुगविषमा वामना वातिदीर्घा कन्यैषा वर्जनीया धनसुखरहिता दुष्टशीटा च नित्सम् ॥१४८॥इति

अय उपलेख्दाविधाः—

बाल्ये खेळनकैः काळे दत्तापूर्वफलाशनैः । मोदते यौवनस्था तु वस्नाळंकरणादिभिः ॥ १४९ ॥ हृष्टेष्येन्मध्य[१०१ब]वयाः प्रौढा रतक्रीडासु कौराकैः । वृद्धा तु मधुरालापैगीरवेण च रण्यते ॥ १५०॥ अथासां बाल्याद्रिलक्षणम्—

षोडशाब्दा भवेद्वाका त्रिंशताद्भुतयोवना । पश्चपश्चाशता मध्या वृद्धा स्त्री तदनन्तरम् ॥ १५१ ॥ अथ पश्चिन्यादिरुक्षणम्—

> पियानी चित्रिणी चैव शिक्षनी हस्तिनी तथा। तत्र दृष्टविधानेनानुकुल्या स्त्री विचक्षणैः ॥ १५२ ॥ पश्चिनी बहुकेशा च स्वरूपकेशा च हस्तिनी । शक्तिनी दीर्घकेशा च वक्रकेशा च चित्रिणी ।। १५३ ॥ चक्रस्तना पिंगनी स्याद्धस्तिनी कुञ्चितस्तनी। दीर्घस्तनी शक्किनी स्याचित्रिणी च समस्तनी ॥ १५४ ॥ पिंगनी शुश्रदन्ता च हस्तिन्युन्नतदन्तभाक् । शक्तिन्युद्रसदन्ता च समदन्ता च चित्रिणी ॥ १५५ ॥ पश्चिनी पद्मगन्धा च मधुगन्धा च इस्तिनी । शक्तिनी क्षीरगन्धा च मतस्यगन्धा च चित्रिणी ॥ १५६ ॥ इंसस्वर्भ पियान्या गूढशब्दा च इस्तिनी | रूक्षः शब्दश्य शङ्खिन्याः काकशब्दा च चित्रिणी ॥१५७॥ पियन्या मुखसौरभ्यं इस्तिन्यास्तच वक्षासि । राज्ञिन्याः कटिगं तत्स्याचित्रिण्याः पादगं च तत् ॥ १५८ ॥ बाञ्छन्ति प्रेम पश्चिन्यो हस्तिन्यो बहुतस्पराः । चित्रिण्यो मानमिच्छन्ति राष्ट्रिन्यः कीर्तिकामुकाः ॥ १५९॥ बिम्बोष्ठी चारुवक्त्राक्षी सुनसा मंदहासिनी । स्कन्धप्रीवा सुरूपा च सुभगा च सुशोभना ॥ १६० ॥ पीनो स्तनो च कठिनो वर्तुङो कनकयुती । **ईट**रां रुक्षणं यस्याः पिमानिं तां विदुर्बुधाः ॥ १६१ ॥ दीर्घाङ्गुलिदीर्धबाहुदीर्घपादा समाङ्गुलिः। दीर्घनिद्रासमायुक्ता ग्रीष्मे च रमते स्दा ॥ १६२ ॥

कामकीडां समामिन्छेत् पीनौष्ठी च सदा मदा ।
ईदृशं छक्षणं यस्या इस्तिनीं तां विदुर्वृधाः ॥ १६३ ॥
गन्धमाल्यप्रिया नित्यं वस्नामरणसादरा ।
ताम्बूलमृतगृह्या च देवन्नाह्मणतत्परा ॥ १६४ ॥
रमते क्षणमेकं तु बहुपुत्रा प्रजायते ।
[१०२अ]ईदृशं छक्षणं यस्याः शिक्षनीं तां विदुर्बुधाः ॥१६५॥
गन्धमालारता नित्यं वस्नाभरणतत्परा ।
ताम्बूलपानकामा च बालेव चपला सदा ॥ १६६ ॥
स्वस्तिप्रीतिरता नित्यं क्षिप्रनिद्रा च या मवेत् ।
एभिस्तु छक्षणैर्युक्ता चित्रिणी संप्रकीर्तिता ॥ १६७ ॥
इति नीतिकल्पे स्त्रीलक्ष्मणञ्चास्या समाप्ता ॥

[११२ ब]

ॐ अयात्र प्रसङ्गात् सीभाग्यकुसुमम् ।

जास्यं मनोभवसुखं सुभगस्य सर्वमाभासमात्रमितरस्य मनोवियोगात् । चित्रे हि भावयति दूरगतापि यं स्त्री गर्भे विभर्ति सदृशं पुरुषस्य तस्य ।।१॥ जात्यमनाद्वार्ये । सुभगस्य स्त्रीवद्धभस्य । उपलक्षणिमदं स्त्रिया अपि पतिप्रियायाः ।

> दाक्षिण्यमेकं सुगभत्वहेतुर्विद्वेषणं तद्विपरीतचेष्टा । मन्त्रीषधाद्यैः कुहकप्रयोगैर्भवन्ति दोषा बहवो न शर्म ॥ २ ॥

दाक्षिण्यमानुक्र्यं स्नीणामनुक्र्छाचरणात्पुरुषः प्रियो भवति । एवं पुंसा-मपि स्नी । एतद्विपरीतचेष्टाननुक्र्छाचरणम् । विद्वेषणं द्वौभीग्यकारणम् । मन्त्रेति । मन्त्रा वशीकारमन्त्राः । औषधानि द्रव्यविशेषाः आदिप्रह्णाद्वोजन-पानिक्क्रिकेपादिग्रहणम् । अन्ये च कृष्टकप्रयोगा विस्मयोत्पादकाश्चतुरविहिता-उपायाः । एते चोपतापकराः शरीरोपद्रवकरा भवन्ति न शर्मकरा इति ॥

वाक्कभ्यमायाति विहाय मानं दौर्भाग्यमासादयतेऽभिमानः । कृष्कृण संसाधयतेऽभिमानी कार्याण्ययःनेन वदन्त्रियाणि ॥ ३ । तेजो न तचत् प्रियसाइसत्वं वाक्यं न चानिष्टमसत्प्रणीतम् ।
कार्यस्य गत्वान्तमनुद्धता ये तेजिस्तिनस्ते न विकत्यना ये ॥ ४ ॥
सर्वोपकारानुगतस्य छोकः सर्वोपकारानुगतो नरस्य ।
कृत्वोपकारं द्विषतां विपत्सु या कीर्तिरल्पेन न सा शुभेन ॥५॥
[१०२व]यः सार्वजन्यं सुभगत्विमिष्छेत् गुणान्स सर्वस्य वदेत् परोक्षम् ।
प्राप्नोति दोषानसतोप्यनेकान् परस्य यो दोषकथां करोति ॥ ६ ॥
तृणैरिवाग्निः सुतरां विवृद्धिमाण्छाद्यमानोऽपि गुणोऽभ्युपैति ।
साक्षेत्वछं दुर्जनतात्वमेति इर्तुं गुणान् वाञ्छति यः परस्य ॥७॥

इति सौभाग्यकारणाख्यं द्वादशं कुसुमम्।

[११३]

अथ सहायसुह् श्वणाख्यम् । तत्र पुष्करः परशुरामं प्रति——

'सहायवरणं कार्यं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ।

यदप्यल्पतरं कार्यं तदप्येकेन दुष्करम् ॥ १ ॥

पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महत्परम् ।

तस्मात्सहायाम्बर्यत् कुळीनाम्नूपतिः स्वयम् ॥ २ ॥

श्र्रामुत्तमजातीयान् बळयुक्ताष्ट्रश्रतान्वितान् ।

ह्रपसत्वगुणौदार्यसंयुक्तान्क्षमयान्वितान् ॥ ३ ॥

हेशक्षमान्महोत्साहान्धर्महांश्व प्रियंवदान् ।

हितोपदेशकान् राह्यां स्वामिभक्तान्यशोर्थिनः '॥ ४ ॥

विदुर:---

' जास्या समीक्य मेधावी बुद्धया संपाद्य चासकत् । श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैमैंत्री समाचरेत् ' । ५ ॥

अयं मन्त्र्यादिजातिर्नवेति जातिसमीक्षणम् । बुद्धया प्रस्यक्षेण फर्णाधु-पर्कमेन संपा प्रेट्राट्टिट मिथ्येति निश्चित्य श्रुत्वाप्तेम्यस्तन्त्रापि बलादि रङ्गा संबादनासद्वा विधारणात् ततोऽपि विद्वाय कार्यस्वेन विनिश्चित्येति ।

```
' अवृत्तिं विनयो इन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
              हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्स्यलक्षणम् '॥ ६॥
      तस्माद्रिनयपराक्रमक्षमाचारवानेव सहायो वरणीयः । इति ।
              ' परिच्छेदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया।
             परीक्षेत कुरूं राजन्भोजनाच्छादनेन च ॥ ७ ॥
      परिच्छेदः परिच्छदः ज्ञानं वा । परितश्चर्या चरणं परिचर्या । क्षेत्रादिना-
स्यन्तनिर्धनतानिरासः । तादशस्य मेदसंभवात् ।
             प्राज्ञोपसेवितं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
             मित्रवन्तं सुवासं च सुहदं परिपालयेत् ॥ ८॥
     वैद्यं विद्यावन्तम् ।
             [१०३अ] ही कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लक्क्ष्येत्।
             धर्मापेक्षी मृदुद्दिन्तः स कुळीनो मतेश्वरः ॥ ९ ॥
     मतेश्वरः खामिभक्तः ।
             ययोश्चित्तेन वै चित्तं नैमृतं नैमृतेन वा ।
             समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मेत्री न जीर्यति ॥ १०॥
     नैमृता गुढेङ्गितादि, प्रज्ञा परिक्ष्यकारिणी बुद्धिः ।
             दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छनं कूपं तृणैरिव।
             विवर्जयेत मेधावी तस्मिन्मैत्री विनश्यति ॥ ११ ॥
      अकृतप्रजं कृतग्रम् ।
             अवलितेषु मूर्खेषु रौदसाहसिकेषु च।
             तथैवापेतधर्भेषु न मैत्रीमाचरेद्भुधः ॥ १२॥
      रौद्रेष्ठ कोपनेष । साहसिकेष्ठ अविमृष्यकारिष्ठ ।
              कृतज्ञं धार्मिकं सम्यमक्षदं दृढमक्तिकम् ।
              जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्या मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ १३॥
              मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा घृतिः ।
              आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चापि पाळनम् ।। १४ ।।
              अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषति ।
              मतिमास्थाय सुदृढां तदाकापुरुषत्रतम् ॥ १५॥
```

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दढनिश्वयः । अतीते कार्यशेषज्ञो नरो हन्त न हीयते ॥ १६ ॥

आयत्यां काळान्तरसंभावितापदि, तदात्वे प्राप्तायां सत्यां तस्यां घेरेण सहनम् । अतीतायां शेषसंभावनेन प्रतीकारज्ञः ।

प्रियो भवति दानेन प्रियो वादेन चापरः ।
मन्त्रमूलवलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ।। १७ ॥
अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बृद्धयवज्ञानमवमानं च भारत ॥ १८ ॥
देख्या न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रियो श्रमानि कर्माणि द्वेष्योपायानि भारत ॥ १९ ॥

प्रियोऽपि सन्नशुभानि कर्माणि चेत्करोति तदा द्वेष्यो भवति । द्वेष्योऽपि सन्नपापानि चेत् कुरुते प्रियो भवतीति भावः ।

न स क्षयो महाराज यं रुब्ब्बा वृद्धिमाषहेत्। क्षयस्तिवह स मन्तन्यो यं रुब्बा बहु नाशयेत्।। २०॥ तस्मारक्षयं दृष्टा न मित्रमवमानयेत्। अन्पवृद्धि वा दृष्टा[१०३ब] सहायेन कथंचित् नाशितेऽपि द्रन्यादौ पाकं पर्यालोध्य प्रतीक्षयेदिति।

समृद्ध्या गुणतः कोचिद्भवन्ति धनतो परे ।
धनवृद्धानगुणैहींनान्दूरतः परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासात्सुमहृद्भयम् ॥ २२ ॥
अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने सुमहृद्भयम् ॥ २२ ॥
ये पापा इति विख्याताः संवासैः परिगर्हिताः ।
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नराम्तान्विवर्जयेत् ॥ २३ ॥
न तन्मित्रं यस्य कोपाद्विभेति यद्वा मित्रं शङ्कते नोपचर्य ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्चसेत तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ २४ ॥
यस्य चेतसि संबन्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं स गतिस्तत्परायणम् ॥ २५ ॥
अल्पचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेविनः ।
परिष्ठवमतेर्नित्यमध्रवो मित्रसंग्रहः ॥ २६ ॥

चळचित्तमनात्मानिमिन्द्रयाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समितवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ २७ ॥
अकरमादथ कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यमिमित्ततः ।
शिळमेतदसाधूनां मन्त्रं पारिप्लवं तथा ॥ २८ ॥
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतध्नान्तोपमुञ्जते ॥ २९ ॥
अर्थयेदेव मित्राणि सित वासित वा धने ।
योऽनर्थः सन्विजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ३० ॥

अनर्थो घनप्रयोजनः, मित्राणां सारफल्गुतां विजानाति स सन्साधुरित्यर्थः। राजन्यवहारस्यातिविषमत्वान केवळं शुभैव । सुहृत्सहायसद्राज्ञामवश्यविधेया यावत्यपि सम्पद्दि विधेयेति सामान्येन सहायसुहृद् इत्युदिष्टम् । तथा च पुष्करः

एवं विधानसहायांस्तु शुभकर्माण योजयेत् । गुणहीनानपि तथा विज्ञाय नृपतिः स्वयम् ॥ कर्मस्वेव नियुक्षीत यथा योग्येषु चोदितान् ॥ ३१ ॥

सहायसम्पत्तिनिरूपणाभिधं कुसुमम्।

[888]

अथ यामिकलक्षणम् ।

पुरुषान्तरतत्त्वज्ञा[१०४अ]जितनिद्रा जितक्कमाः । काळे च समसर्गा ये काळे निर्दयमानसाः ॥ १ ॥ शङ्कमानाश्च परितः प्रांशवश्चातिळाळुपाः । राजाध्यक्ष्येष्वपि सदा भयद्दीनाः शुचित्रताः ॥ एवंविधास्तथा कार्या राज्ञा प्राहरिका भटाः ॥ २ ॥

इति यामिककथनाभिधं कुसुमम्।

[११५]

भथ द्वाःस्थलक्षणम् ।

प्रांशुः सुरूपो दक्षश्च प्रियवादी न चोद्धतः । चित्तप्राहश्च सर्वेषां प्रतीहारो विश्वीयते ।। १ ॥ तथा प्रांशवोध्यायताः शूरा दृढभक्ता निराकुलाः । राज्ञा त रक्षिणः कार्याः स्वे परे च सदाहिताः ॥ २ ॥

स्वे स्वकीयाः परे तद्विपरीताः ।

इति द्वाःस्थलक्षणाभिधं कुसुमम्।

[११६]

अथ द्तलक्षणम् ।

यथोक्तवादी दूतः स्यादेशभाषाविशारदः । शाब्दः क्रेशसहो वाग्मी देशकाळविभाषकः ॥ १ ॥ विज्ञाय देशं काळं च हितं यत्स्यान्महीक्षितः । वक्ताऽपि तस्य यः काळे स दूतो नृपतेभीवेत् ॥ २ ॥

संजयः।

अस्तब्धमङ्कीबमदीर्घसूत्रं सातुकोशं श्रक्षणमहार्घमन्यैः । अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ ३ ॥

अत्रैव सन्धिकारकलक्षणम् ।

षाड्गुण्यविधितत्त्वज्ञो देशभाषाविशारदः । सन्धिविप्रहक्त्त्कार्यो राज्ञा नीतिविचक्षणः ॥ ४ ॥ इति द्तसन्धिकारकलक्षणाभिषं कुसुमम् ।

[११७]

भय चरलक्षणम्---

कथिताः सततं धीरै राजानश्वरचक्षुषः । कियत्परयन्ति चक्षुभ्यौ राजानो वितताक्षिणः ॥ १ ॥ वितताक्षिणः विस्तृतब्यवहाराः।

स्वदेशे परदेशे च जातशीलान्विचक्षणान् । अनाहार्यान् क्रेशसहानियुक्तीत सदाधरान् ॥ २ ॥ जनस्याविदितान्सौम्यानाविज्ञातान्परस्परम् । वणिजो मन्त्रकुरालान्सांवत्सरपुरोहितान् ॥ ३ ॥ तथा प्रवाजकाकारांश्वरान् राजा नियोजयेत्। नैकस्य राजा सन्दध्याचरस्यापि च भाषणे ॥ ४ ॥ द्वयोः संवादमाज्ञाय सन्दध्यान्नपतिस्ततः । परस्पर[१०४ब]स्याविदितौ यदि स्यातां तताबुभौ ॥ ५ ॥ तस्माद्राजा प्रयत्नेन गृढांश्वारांश्व योजयेत्। राज्यस्य मूळमेतावद्यनुपाश्चारदृष्टयः ॥ ६ ॥ चाराणामपि यत्नेन राज्ञा कार्य परीक्षणम् । रागोपरागौ भृत्यानां जनस्य च गुणागुणान् ॥ ७ ॥ शुभानामशुभानां च विज्ञानं चैव कर्मणाम् । राज्ञां सर्वे चरायत्तं तेषु यत्नः सदा भवेत् ॥ ८ ॥ कर्मणा केन मे लोके जनः सर्वोऽन्रज्यते । विरज्यते तथा केन ज्ञेयमेतन्महीक्षिता ॥ ९ ॥ इति चरकथनाभिधं कुसुमम्।

[288]

अथ पुररक्षकलक्षणम् ।

आयन्ययज्ञो छोकानां देशोत्पत्तिविशारदः । कृताकृतज्ञो भृत्यानां कार्योऽयमक्षरक्षिता ॥

अक्षं व्यवहारः देशव्यवहाररक्षक इत्यर्थः ।

इति पुररक्षककथनाभिधं कुसुमम् ॥ ११८ ॥

[११९]

अथ इस्तिरक्षकलक्षणम्।

हस्तिशिक्षाविधानज्ञो वन्यजातिविशारदः । केशक्षमस्तथा राज्ञो गजाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

अत्रैव प्रसङ्गात् गजारोहिलक्षणम् ।

एतैरेव गुणैर्युक्तः स्वाधीनश्च विशेषतः ।

काळे मन्त्रविधानज्ञः रास्त्रास्त्रक्षपणक्षमः ॥ २ ॥

शुरश्च बलवांश्चेव कोपादीहाविचक्षणः।

गजारोहो नरेन्द्रस्य सर्वकर्मसु शस्यते ।। ३ ॥ इति ।

इति करिपालकथनाभिधं कुसुमम्।

[१२०]

अथाश्वपाललक्षणम्--

हयशिक्षाविधानज्ञोऽश्वचिकित्सितपारगः ।

अश्वाध्यक्षो महीमर्तुः स्वासनश्च प्रशस्यते ॥ १ ॥

स्वासनः स्थिरकटिः ।

इति अश्वपालकथनाख्यं कुमुमम्।

[१२१]

अय सार्थिलक्षणम्।

शूरश्च बहुयुक्तश्च गजाश्वरथकोविदः ।

क्रेशधारी भवेदाज्ञः सदा क्रेशसदश्च यः ॥ १ ॥

निमित्तराकुनश्चानद्दयशिक्षाविशारदः।

इयायुर्वेदतस्वज्ञो भूमिभागविशेषवित् ॥ २ ॥

बलाबलज्ञो रथिनः स्थिरदृष्टिर्विशारदः।

श्रुरश्च कृतविद्यश्च सार्यिः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥

इति सारथिकुसुमम् ॥

[१२२]

धर्मायन्ययदुर्गवस्वधिकृत इति द्वन्द्वान्तिस्थितस्याधि[१०५अ]कृतशन्दस्य धर्मीदिचतुर्भिः संबन्ध इति धर्माध्यक्षः, आयन्ययाध्यक्षः, दुर्गाध्यक्षो, वस्वध्यक्ष इति सिद्धम् । तत्रादौ धर्माध्यक्षलक्षणम् ।

समः रात्रौ च मित्रे च धर्मशास्त्रविशारदः।

विप्रमुख्यः कुळीन् ध धर्माधिकरणी भवेत् ॥ १ ॥

इति धर्माधिकारिकुसुमम् ॥ [१२३]

अथायव्ययाधिकारिलक्षणम् ।

आयद्वारेषु सर्वेषु धनाध्यक्षसमा नराः ।

व्ययद्वारेषु सर्वेषु कर्तव्याः पृथिवीक्षिता ॥ १ ॥

इत्यायव्ययाधिकारिलक्षणम्

[१२४]

अथ दुर्गाधिकारिलक्षणम् ।

अनाहार्थश्च सूरश्च तथा प्राज्ञः कुळोद्गतः।

दुर्गाध्यक्षो बलीयांश्व सततं चोद्यतोऽस्त्रवित् ॥

इति दुर्गाधिकारिकुसुमम्।

[१२५]

अथ वस्वध्यक्षत्रक्षणम् ।

छोहवस्नाचन्तरविद्रानां च विभागवित्।

विज्ञाता फल्गुसाराणमनाहार्यः शुचित्रतः ।

निपुणश्चाप्रमत्तश्च धनाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

इति वस्वधिकारिकुसुमम्।

[१२६]

अथ सुद्रुक्षणम्।

सूदशास्त्रविधानज्ञाः पराभेद्याः कुलोद्गताः ।

सूदा महानसे धार्या नीचरमश्रुनखा जनाः ॥ १ ॥

अत्रैव प्रसङ्गाद्भोज्यादिकलपना ।

भोज्यं भक्ष्यं तथा छेह्यं चोष्यं पेयं तथैव च ।

कल्पना पश्चधा धीरै भोज्यस्यैषा प्रकीर्तिता ॥ २ ॥

कट्तोयोदककाथं शोधितानामसंशयम् । पराणं धान्यजातीनां गन्धमाशु व्यपोहति ॥३॥ श्रेष्ठं सार्षपकं तैलं शाकानां परिशोधने । मांसं कठिनमायाति कौमल्यं चाईकाम्बना ॥ ४ ॥ वारणक्षारसंयोगात मत्स्यस्यास्य विलीयते । गण्डिकाभिः पळाशस्य क्षीरमावर्तते द्वतम् ॥ ५ ॥ घृतं सुगन्धी भवति दग्धिक्षितेस्तथा यवैः । प्राचारिणि वोगेन कांचिकस्थाम्लिका भवेत् ।। ६ ॥ गुडाच्यं शुद्धिमायाति क्षीरेण च तथा द्रुतम् । क्षारयोगेन चाइवस्य तथाम्छत्वं विनश्यति ॥ ७॥ [१०५ब] छवणाधिकविक्षेपसंजातविरसं ध्रवम् । सिकतापिण्डिकाक्षेपैः सुरसत्वमवाष्तुयात् ॥ ८ ॥ तृणकक्षारयोगेन पुष्पाणि च फलानि च। सर्वाणि द्वतमायान्ति द्वतानां कल्पनात्त्रियम् ॥ ९ ॥ नातिदीप्तेन नातीवमन्देनोदर्चिषा बुधः । अनं धमेनातिरसं न वाल्परसं तथा ॥ १० ॥

इत्थं तदध्यक्षलक्षणम् ।

अनाद्दार्यः शुचिर्दक्षश्चिकित्सकवचारतः । सूदशास्त्रविधानज्ञः सूदाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

हति सदाकियापौरोगवलक्षणाभिधं कुसुमम्। [१२७]

अथास्त्राचार्यलक्षणम् ।

असमुक्ते, पाणिमुक्ते, अमुक्ते, मुक्तधारिते । अस्राचार्यो नियुद्धे च कुशळक्ष तथेष्यते ॥ १ ॥

इति अस्ताचार्यकुसुमम्।

¹ Corrupt.

[१२८]

अथ स्थपतिलक्षणम् ।

वास्तुविद्याविधानज्ञो छघुहस्तो जितक्रमः । दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

इति स्थपतिलक्षणम्। [१२९]

अथ लेखकलक्षणम्।

सर्वदेशाक्षराभिज्ञाः सर्वशास्त्रविशारदाः । केखकाः कथिता धीरैः सर्वाधिकरणे बुषैः ॥ १ ॥ शीर्षोपेतान्सुसंपूर्णान् समश्रेणिगतान्समान् । अक्षरान्विक्षित्वेद्यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ॥ २ ॥ सोपायवाक्यकुशलः सर्वलेख्यविशारदः । बहुर्थवक्ता चाल्पेन लेखकोऽयं सुदुर्कभः ॥ ३ ॥

इति लेखककुसुमम्।

[१३0]

अय सभ्यलक्षणम् ।

रात्रुमित्रसमा ये स्युर्धर्मन्यायविचक्षणाः ।
श्रेणिमुख्या कुळीनाश्च द्विजमुख्याः सभासदः ॥ १ ॥
सक्त्वेन कृतं पापं तस्य राजा न विश्वसेत् ।
पापं तस्युकरं तस्य सक्तवेन कृतं भवेत् ॥ २ ॥
यथा हि मिळिनैर्वरत्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ।
तथा चिळतकृतस्य कृतरोषं न रक्षति ॥ ३ ॥
तम संवेशयेरकार्ये जनो यो नास्तिको भवेत् ।
आस्तिका अपि तस्सङ्गाद्माप्नुयुः संशयं यतः॥ १ ॥

अनाहार्यप्रभस्यापि त्रेलोक्योद्धासितात्मनः ।
कृष्णता[१०६अ]राहुसंसर्गात् किं न सूर्यस्य जायते ॥ ५ ॥
अकार्यमित्यकार्याणि कुर्यात्कार्यवरोन यः ।
विचिकित्सुर्धुत्रं सोऽपि पश्चाकैत्र निवर्तते ॥ ६ ॥
कार्यबुद्ध्या त्वकार्याणि यः करोति नराधमः ।
अकार्यकरणश्रद्धा तस्य भूयो विवर्तते ॥ ७ ॥
लोकाः सर्वेऽपि ये केचित्परलोकनिवन्धनाः ।
निरपेक्षस्य तत्रान्या किया का स्यान्निबन्धनी ॥ ८ ॥
महापातिकनो येऽपि तेभ्योऽपि हि मतं मम ।
पापकृतास्तिको लोके तस्मानं परिवर्जयेत् ॥ ९ ॥
न पण्डितो मतो नाम बहुपुस्तकधारणात् ।
परलोकभयं यस्य तमाद्धः पण्डितं बुधाः ॥ १० ॥
अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रितपुत्रफला दाराः शोल्वृत्तफलं श्रुतम् ॥ ११ ॥

इति सभ्यकुसुमम्।

[१३१]

अथ वैद्यलक्षणम्।

परस्य रागतो यः स्यादधाङ्गे च चिकित्सिते ।
विभागज्ञः शुचिः साधुः स्वभावमधुराख्यः ॥ १ ॥
अनाहार्थः स वैद्यः स्याद्धमीत्मा च कुळे।द्रतः ।
प्राणाचार्थः स विज्ञेयो मान्यं तदुदितं सदा ॥ २ ॥ इति
सद्धपस्तरुणः प्रांशुर्धढभक्तिः कुळोग्नवः ।
श्रूरः क्षेशसहश्चेव खङ्गधारी प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥
एतादग्गुणसंपन्नो दक्षः कर्मसु चोद्यतः ।
शखाखाविनियोगज्ञः स्थाप्योऽखागाररक्षकः ॥ ४ ॥
इति वैद्यखङ्गचारिळक्षणाख्यं कुमुमम् ।

[१३२]

अय शुद्धान्ताधिकारिलक्षणम्।

पन्नाशदाधिका नार्यः पुरुषाः सप्ततेः परम् । अन्तःपुरचरा कार्या राज्ञा सर्वेषु कर्मसु । स्थिवरा जातितस्वज्ञाः सततं प्रतिजाप्रता ॥ १ ॥

इति शुद्धान्ताधिकारिकुसुमम्।

[१३३]

प्रसादमृगयाविज्ञा इति प्रसादः प्रसन्नता केशादि निर्मलकरणम् । तेम गन्धयुक्तिवाजीकरणादिकमपि राजापयुक्तं गृह्यते इति प्रसादविज्ञाः प्रसादकाः प्रसादिकाश्च गृह्यन्ते । तल्लक्षणं यथा

अतीवमधुराकार इङ्गितज्ञानकोविदः । हसन्मुखः शुचिर्दक्षो राज्ञा कार्यः[१०६अ]प्रसादकः ॥ १ ॥ प्रसादकरणं प्राम्यविस्तरभयादिङ्मात्रेण प्रदर्शते । शौचनं वमनं चैव तथा चैव विरोचनम् ॥ भावना चैव पाकश्च बोधनं धूपनं तथा। वसनं चैव निर्दिष्टं कर्माष्टकमिदं शुभम् ॥ २ ॥ ' कपित्थबिल्वजम्ब्वाम्रबीजपूरकपछ्वैः । कृत्वोदकं तु यद्द्रव्यं शोधितं शौचनं तु तत् ॥ ३ ॥ तेषामभावे शौचं तु मृतकाम्राम्भसा भवेत् । तदमावे तु कर्तव्यं तथा मुस्ताम्भसा बुधैः ॥ ४ ॥ शुष्कं शुष्कं पुनईव्यं पञ्चपञ्चवनारिणा। प्रक्षालितं चाप्यसकृद्दमितं तत्प्रकीर्तितम् ॥ ५ ॥ पश्चपञ्चवतो येन काथयित्वा पुनः पुनः। द्रव्यं संशोषितं कृत्वा चूर्णं तस्य तु कारयेत् ॥ ६ ॥ हरीतकी ततः पिष्टा पञ्चपञ्चववारिणा । तेन पथ्याकवायेण तब्चूणं भावयेत्सकृत् ।

शौचितं शोधयेदेष विरेकः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

ततस्तु गन्धद्रव्येण यथेष्टं कुङ्कुमादिना। भावयेधेन तद्द्रव्यं भावना सा प्रकीर्तिता ॥ ८ ॥ तेनैव भावितं द्रव्यं पश्चपछववारिणा । मृदाच्छनमुखे पात्रे भये 'तत्स्याद्विधाधितम्' ॥ ९ ॥ अध्रमाग्नौ शनैर्मध्यरुद्धबाष्पं यथा भवेत् । तथा पाकोऽयमुदिष्टः पश्चमः पाककोविदैः ॥ १० ॥ ततस्तु भावनाद्रव्यं कल्कपिष्टे नियोजयेत् । तथाकृते च तसैतद्बोधनं परिकीर्तितम् ।। ११ ॥ ततस्तु योजयेद्द्रव्यं प्राग्वदेव तु पध्यया । ततश्च गुडशुक्तिभ्यां चन्दनागुरुभिस्ततः ॥ १२ ॥ क्पूरमृगदर्भभ्यां ततश्चेनं प्रधूमयेत् । इत्येतद्भूपनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः ॥ १३ ॥ ततस्तु गुलिकां कृत्वा यथाकाममतन्द्रतः। पुष्पैर्वकुळजातीनां तथान्येषां सुगन्धिमिः ॥ १४ ॥ छायास शोष्यमाणस्य वासना क्रियते तु या । वासना सा विनिर्दिष्टा कर्मैतचाष्टमं शुभम् ॥ १५ ॥ शोधयेद्गान्धिको विद्वान् यथान्यन्मनसेच्छति । निर्यासानां च पुष्पाणां कर्माष्टकिमदं स्मृतम् ॥ १६ ॥ केशा[१०७अ]दिनिर्मलीकरणे वराष्ट्राचार्यः । तत्रादौ तत्प्रयोजनमाह । ' सग्गन्धभूपाम्बरभूषणाखं न शोभते शुक्कशिरोरुहस्य । यस्मादतो मूर्धजरागसेवां कुर्याद्ययेवाञ्चनभूषणानाम् ॥ १७॥

शुक्ते काञ्चिकादावस्वद्रव्ये पक्तान्स्वेदितान् शुक्केनाम्छेन काञ्चि-कादिनाम्छीकृताः केशा यत्र तादाशे शिरसि दःवार्द्रपत्रैर्वेष्टयिःवासीतेति ।

छोहे पात्रे तण्डुलान् कोदवाणां शुक्के पकाल्लोह चूर्णेन साक्षम्। पिष्टानसूक्ष्मं मूर्त्रि शुक्काम्लकेशे दत्त्वा तिष्ठेदेष्टियित्वार्दपत्रै: ॥१८॥

¹ Corrupt.

याते द्वितीये प्रहरे विहाय दद्याच्छिरस्यामळकप्रलेपम् ।
संछाद्यपत्रैः प्रहरद्वयेन प्रक्षाालिते कार्ण्यमुपैति शीर्षम् ॥१९॥
पश्चाच्छिरःस्नानसुगन्धतैलैलोहाम्लगन्धं शिरसोऽपनीय ।
हृदैश्च गन्धैविविधेश्च धूपैरन्तःपुरे राज्यसुखं निषेवेत् ॥२०॥
सप्ताहं गोम्त्रे हरीतकीचूर्णसंयुते क्षिप्त्वा ।
गन्धोदके च भूयो विनिक्षिपेदन्तकाष्ठानि ॥ २१ ॥
एलात्वक्पत्राञ्जनमधुमरिचैर्नागपुष्पकुष्ठश्च ।
गन्धाम्भः कर्तव्यं किचित्रकालं स्थितान्यस्मिन् ॥ २२ ॥
जातीफलपत्रलाकपूरैः कृतयमैकशिखिभागैः ।
अवचूर्णितानि भानोर्मरीचिभिः शोषणीयानि ॥ २३ ॥

वर्णप्रसादं वद्नस्य कान्ति वैश्वमास्यस्य सुगन्धितां च। संसेवितुः श्रोत्रसुखां च वाचं कुर्वन्ति काष्ठान्यसकृद्भवानाम् ॥ २४ ॥ कामं प्रदीपयति रूपमभिन्यनक्ति सौभाग्यमावहति वक्त्रसुगन्धितां च। ऊर्जे करोति कफ्जांश्च निहन्ति रोगांस्ताम्बूटमेवमपरांश्च गुणान् करोति ॥२५॥ अथ प्रसङ्गाद्वाजीकरणमपि किञ्चिन्मात्रेण टिखते।

> माक्षीकधातुमधुपारदलोहचूर्ण-पथ्याशिलाजतुविसुंगफलानि योऽद्यात् । सैकानि विंशतिरहानि जरान्वितोऽपि सोऽशीतिकोऽपि रमयत्मवलां रसेन ।। २६ ।।

माक्षीकधातुः पाषाणमाक्षिकम् । मधु क्षौद्रम् । पथ्या हरीतकी । १०७व) अल च घृतयोजना शिष्यते । तथा च एतानि घृतमात्राणि गृहीत्वा अममात्राभ्यां भावियत्वा गुळिका कार्या इति ।

क्षीरं शृतं यः किपकिच्छुमूलैः पिबेत्क्षयं स्त्रीष्ठ न सोडम्युपैति । मापान्पयः सिपेषि वा विपकान् पङ्ग्रासमात्रांश्च पयोडनुपानात् ॥२७॥ श्लीरमेव निर्मर्थ्यं यत् वृतमुत्पद्येत तत्पयोवृतम् । पयोडनुपानादिति । अनु पश्चाद् पयसः पानं कर्तन्यमिति ।

> विदारिकायाः स्वरसेन चूणं मुहुर्मुहुर्मावितशोषितं च । शृतेन दुग्धेन सशर्करेण पिबेत् स यस्य प्रमदाः प्रभूताः॥२८॥

स्वरसेन तस्या एव विदारिकाया रसेन । मुहुर्मुहुः सप्तकृत्वः । भावितं मार्दितम् । तथा ।

धात्रीफलानां स्वरसेन चूर्णं सुभावितं क्षौद्रसिताज्ययुक्तम् । लीद्वानुपीत्वा च पयोऽग्निशक्या कामं निकामं पुरुषोऽनुसेवेत् ॥२९॥ धात्रीफलान्यामलकानि ।

क्षीरेण बस्ताण्डयुजा शृतेन संघ्रान्य कामी बहुशीतलान्यः । संशोषितानत्ति पयः पिबेश्व तस्याप्रतः किं चटकः करोति॥३०॥ बहुशं इति सप्तवारम् ।

माषसूपसिहतेन सिर्पिषा पष्टिकौदनमदिन ये नराः । क्षीरमप्यनुपिनिन्ति तासु ते शर्वरीषु मदनेन शेरते ॥ ३१ ॥ तिलाखगन्धाकपिकच्छुमूलैर्विदारिकाषष्टिकपिष्टयोगः । आज्येन पिष्टः पयसा घृतेन पक भवेच्छण्कुलिकातिबुष्पा ॥३२॥ आज्यमत्र लागीयम

क्षीरेण वा गोक्षुरकोपयोगं विदारिकाकन्दकमक्षणं वा ।
कुर्वन्न सीदेचदि जीर्यंतेऽस्य मन्दामिता चेदिदमन्न चूर्णम् ॥३३॥
गोक्षुरकैः सह क्षीरं क्वाथित्वा पिवेदिरयेको योगः, विदारिकामूळं क्षीरेण
काथियत्वा पिवेदिति द्वितीयः । [१०८अ]यगस्य कामुकत्वं जीर्यतेऽपगच्छिति
तथा मन्दामिता वा तदेदमत्र चूर्णम् ।

साजमोदछवणा हरीतकी शृंगवेरसहिता च पिप्पछी । मद्यतक्रतरछोष्णवारिभिश्चूर्णपानमुद्राग्निदीपनम् ॥ ३४॥

मधेलादि । एषामन्यतमेन तरलमत्र काञ्चिकम् । अस्यम्बुतिक्तलवणानि कटूनि वात्ति यः क्षारशाकबहुलानि च भोजनानि । दक्शुक्रवीर्यरद्दितः स करोत्यनेकान् व्याजान् जरितव युवाप्यवलामवाप्य ॥३५ द्रव्यसंयोगं कृत्वा दण्वा च क्षारो रच्यते इति ।

> इति वाजीकरणम् । इति प्रसादकलक्षणाभिधं कुसुमम् ॥ ३३ ॥

[१३४]

अथ मृगयाभिज्ञनिरूपणम्।

तत्र मार्कण्डेयः।

यस्मिन्कर्मणि यस्य स्याद्विशेषेण च कौशलम् ।
तस्मिन् कर्मणि तं राजा परीक्ष्य विनियोजयेत् ॥ १ ॥
समतीतोपधानपाशान् कुर्याद्वस्तिवनेचरान् ।
उत्पातान्वेषणे यत्तानध्यक्षांस्तत्र कारयेत् ॥ २ ॥
एवमादीनि कार्याणि पाशैः साध्यानि सर्वथा ।
हिंसायां यत्र चातुर्ये काऽत्र शान्तजनाक्रिया ॥ ३ ॥
सर्वथा नेष्यते राज्ञस्तीक्ष्णोपकरणः क्षयः ।
पापसाध्यानि कार्याणि यानि तस्य भवन्ति हि ॥ १ ॥
सन्तस्तानि न कुर्वन्ति तस्मात्तानिमृतानृपः ।
सर्वथा निर्घृणा दूरलक्ष्यपातिवशारदः ॥ ५ ॥
कानने जाल्यन्त्रज्ञा तथाश्वचारिणश्च ये ।
प्रांशवो बलवन्तश्च खजलारण्यचारिणाम् ।
पश्चनां पातने दक्षाः कार्यास्ते तत्र कर्मणि ॥ ६ ॥

इति व्याधकुसुमम्।

[१३५]

मृगयाप्रसङ्गेन राज्ञामवश्यं खाने।ऽपि पाल्यः इति तल्लक्षणं लिख्यते।
पादाः पश्चनखास्त्रयोऽप्रचरणः षड्भिनेखैदिक्षिणस्ताम्रोष्टाप्रनसो मृगेश्वरगतिर्जिघन्भवं याति च।
लाङ्गूलं ससटं दगृक्षसदशी कर्णौ च लम्बौ मृद्
यस्य स्यात्स करोति पौष्टुराचिरात् पृष्टां श्रियं श्वागृहे ॥ १ ॥

अथ शुनीम् ।

पादे पादे पञ्चपञ्चाप्रपादे वामे यस्याः षण्णखाः मिळ्ळिकाक्ष्याः । वक्तं पुच्छं पिङ्गलालम्बकर्णा या सा राष्ट्रं कुक्कुरी पाति पुष्टा।।२॥ अश्वरक्षायां तत्प्रसङ्गेन च लक्षणम्। श्वचकस्यापि वक्ष्येऽहं नृपाणां कौतुकावहम्॥ ३॥

[१०८अ] चृतुरगकरिकुम्भपर्याणसक्षीरवृक्षेष्ठकासश्चयच्छत्रशय्यासनाळ्ख-लानि ध्वजं चामरं शाद्दलं पुष्पितं वा देशं यदा श्वावमूलाप्रतो याति यातु-स्तदा कार्यसिद्धिभवेदाईके गोमये मिष्टभोज्यागमः शुष्कसंमूत्रणे शुष्कमन्त्रं गुडो मोदकावाप्तिरेवाथवा।

अथ विषतरुकण्टकीकाष्ठपाषाणशुष्कद्वमास्थिश्मशानान्यवमुज्यावहःया-थवा यायिनोऽप्रेसरे।ऽनिष्टमाख्याति शय्याकुलालादिभाण्डान्यभुक्तान्यभि-न्नानि वा मूत्रयन्कन्यकादोषकुद्भुज्यमानानि चेदुष्टतां तद्गृहिण्यास्तथा स्यादुपा-नत्फलं गोस्तु संमूत्रणेऽवर्णजः सङ्करः।

गमनमुखमुपानहं संप्रगृद्योपितिष्ठेधदा स्यात्तदासिद्धये मांसपूर्णाननेऽर्था-तिरार्द्रेण चारथ्ना शुभं साग्न्यलातेन शुष्केण चारथ्ना गृहीतेन मृत्युः प्रशा-न्तोलमुकेनाभिघातोऽथ पुंसः शिरोहस्तपादादिवक्त्रे मुवोऽभ्यागमे। च वक्ष-चीरादिभिन्यीपदः केचिदाहुः सबस्ने शुभम् ।

प्रविशति गृहे शुष्कास्थिवक्त्रे प्रधानस्य तिस्मन् वधः शृक्कछाशीर्ण-विश्वावस्त्रादि वा बन्धनं चोपगृद्योपितिष्ठेषदास्यात्तदा बन्धनं छेढि पादौ विधुन्वंश्च श्रोत्रे पर्यायक्रमंश्चापि विद्याय यातुर्विरोधे विरोधस्तथा स्वाक्ककण्ड्यने स्यात्स्वपंश्चोर्ध्वपादः सदा दोषकृत् ।

स्योदयेऽकाभिमुखो विरोति प्रामस्य मध्ये यदि सारमेयः ।
एको यदा वा बहवः समेताः शंसन्ति देशाधिपमन्यमाशु ॥ ४ ॥
स्योन्मुखः श्वानळदिक्रिथतश्च चौरानळत्रासकरोऽचिरेण ।
मध्याह्कालेऽनळमृत्युशंसी संशोणितः स्यात् कळहोऽपराहे ॥५॥
रुवन्दिनेशाभिमुखोऽस्तकाले कृषीवलानां भयमाशु दत्ते ।
प्रदोषकालेऽनिलदिङ्मुखश्च दत्ते भयं गारुततस्करोत्यम् ॥६॥
उ[१०९अ]दङ्मुखश्चापि निशार्धकाले विप्रव्यथां गोहरणं च शास्ति ।
निशावसाने शिवदिङ्मुखश्च कन्याभिद्रूषानळगर्भपातान् ॥ ७ ॥

¹ Corrupt.

उचैः स्वराः स्युस्तृणकूटसंस्थाः प्रासादवेश्मोत्तमसंस्थिता वा । वर्षास वृष्टिं कथयन्ति तीवां परत्र मृत्युं दहनं रुजश्व ॥ ८ ॥ पावृट्काळेऽवग्रहेऽम्मोऽवगाह्य प्रत्यावर्ते रेचकैश्वाप्यमीक्णम्। आधुन्वन्तो वा पिबन्तोऽपि तोयं वृष्टिं कुर्वन्त्यन्तरे द्वादशाहात्॥९॥ द्वारे शिरो न्यस्य बहिः शरीरं रोरूयते श्वा गृहीणीं विलोक्य। रोगप्रदः स्यादथ मन्दिरान्तर्बिर्मुखो विक्त च बन्धकी ताम् ॥१० कु ड्यमुक्तिरति वेश्मनो यदा तत्र खानकभयं भवे तदा। गोष्ठमुत्किरति गोप्रहं दिशेद्धान्यलब्धिमपि धान्यभूमिषु ॥११॥ एकेनाक्ष्णा साश्रणा दीनसत्त्वो मन्दाहारो दुःखकुत्तद्गहस्य । गोभिः सार्धे ऋडिमाणः सुभिक्षं क्षेनारोग्यं चाभिधत्ते सुखं च॥१२॥ वामं जिन्नेत जान वित्तागमाय स्नीभिः साकं विग्रहो दक्षिणं चेत्। ऊरुं वामं चेन्द्रियोथींपभागः सन्यं जिव्रेदिष्टमित्रैर्विरोधः ॥१३॥ पादै। जिन्नेद्यायिनश्चेदयात्रां प्राहार्थापि वाञ्छितां निश्चलस्य । ्थानस्थस्योपानहो चेद्विजिव्नेत्क्षिप्रं यात्रां सारमेयः करोति ॥१४॥ उभयोरिप जिन्नणे च बाह्वोर्विज्ञेयो रिप्चौरसंप्रयोगः । अय भस्मिन गोपयीत भक्ष्यं मांसास्थानि च शीव्रमिक्रोपः॥१५॥ प्रामे भिषत्वा च बहिः समशाने भषन्ति चेदुत्तमपुंविनाशः। यियासतश्चाभिमुखो विरौति यदा तदा श्वा निरुणाद्धि यात्राम् ।।१६॥ उकारवर्णे विरुतेऽर्थसिद्धिरोकारवर्णेन च वामपार्थे । व्याक्षेपमौकाररुतेन विद्यानिषेधकृत्सर्वरुतेश्च पश्चात् ॥ १७ ॥ खंखेति चोश्रेश्च मुहुर्मुहुर्ये रुवन्ति दण्डैरिव ताडयमानाः। श्वानोऽभिधावन्ति च मण्डलेन ते शून्यतां मृत्युभयं च कुर्युः॥१८॥ प्रकाश्य दन्ता १०९ ब निभिन्नेढि सुकिणी तदाशनं मिष्टमुशन्ति तदिदः। यदाननं छेढि पुनर्न सुकिणी प्रावृत्तभोज्येऽपि तदानविष्ठकृत् ॥१९॥ प्रामस्य मध्ये यदि वा पुरस्य भवन्ति संहत्य मुहुर्मुहुर्ये । ते क्केशमाख्यान्ति तदीश्वरस्य श्वारण्यसंस्थो मृगवदिचिन्त्यः ॥ २०॥ वृक्षोपगे क्रोराति तोयपातः स्यादिन्द्रकीं सिचवस्य पीडा। वायोर्गृहे सस्यभयं गृहान्तः पीडा पुरस्येव च गोपुरस्ये ॥ २१ ॥

भयं च राय्यासु तदीश्वराणां याने भवन्तो भयदाश्व पश्चाद् । अथापसन्या जनसानिवेरो भयं भवन्तः कथयन्त्यरीणाम् ॥ २२ ॥

इति श्वरवलक्षणाभिधं कुसुमम्।

[१३६]

तथेतीत्थमेव कार्यानुसारेण परेऽपि सुधीभिः संप्राह्या इति । तथा च पुष्करः ।

'कार्याण्यपिरमेयानि तथा चित्राणि भूमुजाम् । उत्तमाधममध्यानि बुध्द्वा तानि च पार्थिवः ॥ १ ॥ उत्तमाधममध्यांस्तु पुरुषान्विनियोजयेत् । धार्मिष्ठान्धर्मकार्येषु शूरान्संग्रामकर्मस् ॥ २ ॥ निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्र च तथा शुचीन् । स्त्रीषु षण्डा नियुद्धीत तीक्ष्णान्दारुणकर्मस् ॥ ३ ॥ धर्मे चार्थे च कामे च भये चैव तथा नृपः । औचित्याधिकृतान्कुर्यादुपाधिसुपर्राक्षितान् '॥ ४ ॥ इति

इति कर्मोचितपुरुषकथनं नाम कुसुमम्।

[१३७]

अथ च परे संग्राह्या इति अन्योऽपि भावोऽत्राभिप्रेतः । ये केचनापरे स्वकीयाः परम्परागतास्ते सर्वेऽपि निमित्तवशादितस्ततो गता अवाप्तराज्येन ततस्ततोपसार्य स्ववशे सम्यक् स्थाप्या इति ।

तथा च[११०अ]मार्कण्डेयः---

पितृपैतामहानमृत्यान् सर्वकर्मस्य योजयेत् । विना दायादकृत्यानि तत्र ते हि समा मताः ॥ १ ॥ राजा दायादकृत्येषु परीक्ष्य स्वपरान्तरान् । नियुक्षीत महाबुद्धिः तस्य ते हितकारिणः ॥ २ ॥ इति । तेषां दायादेषु समन्वात्तद्योजनेऽवश्यमनर्थोदयः स्यादिति सम्यक् स्थाप्या इति संशब्देन सूचितम् ।

इति परंपरागतभृत्यनिरूपणं नाम कुसुमम्। [१३८]

अय ये परे च संग्राह्या इति । ये केचित्परे परकीयाः सेवार्थं परदेशादाग-तास्ते सर्वे संग्रहार्थे अवश्यं स्वस्वौचित्या सेवका विधेयाः । तत्रापि ये तेषु परे परकीयत्वेनैव संभावितास्ते न संग्राह्या इत्यकारप्रश्लेषेणावृत्या योज्यम् न ते सम्यक्रीत्या स्वकीयत्वेन ग्राह्या इति । भृत्या विधेया एव परन्तु विश्वासा-स्पदं न नेतन्या इति । तथा च स एव ।

परराजगृहात्प्राप्ताञ्चनान्संग्रहकाम्यया ।
दुष्टान् वाप्यथवादुष्टान् संश्रयेत प्रयत्नतः ॥ १ ॥
दुष्टं विज्ञाय विश्वासं न कुर्यात् तत्र भूमिपः ।
वृत्तिं तस्यापि वर्तेत जनसंग्रहकाम्यया ॥ २ ॥
राजा देशान्तरात्प्राप्तं पुरुषं पूजयेद्भृशम् ।
सहायं देशसंप्राप्तं बहुमानेन चिन्तयेत् ॥ ३ ॥
यथा कामं तथा राजा नैव कुर्याद् परीक्षकः ।
नत्वेवासंविभक्तं तु भृत्यं कुर्यात्कदाचन ॥ ४ ॥
असंविभक्तं परस्मात्तार्वयेनाभिन्नम् ।
शत्रवोऽग्निर्विषं सर्पा निश्चिशमपि चैकतः ।
आगताः परतश्चापि कुभृत्याश्च तथैकतः ॥ ५ ॥
तेषां चारेण विज्ञानं राजा विज्ञाय नित्यदा ।
गुणिनां पूजनं कुर्यान्तिगुणानां च शासनम् ॥ ६ ॥

इति जनसंग्रहणं नाम कुसुमम् ॥ ॥ समाप्तश्रायं नीतिकल्पारूयों ग्रन्थः॥

NOTES

The work starts with the description of the subject matter i.e. 'Nīti' following the tradition as laid down in Kāvyādarśa of Daṇḍin 'आइतिनेमास्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् '। (1. 1.4). The work is styled as Nītikalpataru and in the fitness of things it starts with the word 'Nīti'.

- P. 2 l. 14- प्रामाणिकः referred to are probably those that lay great stress upon reason in general and not a particular sect of logicians.
- P. 1 l. 21- ह्यज्ञील जैली:- This appears to be a work on Rajaniti known through quotations in this work only. Aufrecht does not record any such work in his Catalogus Catalogorum.
- P. 3 l. 13 स्वीकटाइन्यायः :— The maxim of the needle and the boiler. It is explained as follows in Molesworth's Marathi Dictionary "A phrase used as an illustration upon the occasion of two matters of which the one is superlatively simple and easy, or altogether insignificant and the other indefinitely greater, more difficult, or more important arising at once to be done; and of which it is intended to intimate that the trifling one should be dispatched first." It occurs in the opening part of chapter IV of Kāvyapradīpa and also in the commentary on Sāhityakaumudī IV. I.

(Laukikanyāyāñjalih, Part I Page 40.)

P. 3 l. 24— सगरभगीरथ मर्नुता याताः। There is little difficulty in understanding this line.

सगरश्र्व मगीरथश्र्व सगरभगीरथो । सगरभगीरथाविष सगरभगीरथाः (सादृद्यादि कप्पत्ययो छप्तः by सूत्र 'देवपथादिभ्यः'।) सगरभगीरथा जनका येषां ते सगरभगीरथा इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नाः सर्वे राजान इत्यर्थः ।।

P. 4 l. 23- ज्ञाबिन्दु The story of Sasabindu is told many times in MBh. It appears in पोडपज्ञाजीय and also in ज्ञानितपर्व 29. 208. He is also referred to in Rāmāyaṇa-Uttarakāṇḍa. 89 and 90 Adhyāyas. He is supposed to have reigned in the Bālhika. He is the son of Kārdameya Ila as a man, whereas Pururavā is the son of the same as a woman.

कर्म->इल- (as a man) > श्राबिंदु कर्म->इला (as a woman) merried to ब्रुध -> पुरुरवा.

- 5.7 सम्राह is defined by अमर as येनेष्टं राजसूयेन मण्डलेश्वरश्च यः। शास्ति यथ्वाज्ञा राजः स सम्राह । इति
- 6.23-- तीर्थ The word तीर्थ is variously interpretated to mean सोपान, विवरण and उपाय.

(2)

Verses 1 to 5 are quotations from M.Bh.

V. I=5.31.1

2=5.31.2

3=5.31.13

4=5.31.14 ab

5=5.31.15

The corresponding numbers are from the critical edition published by B. O. R I. Poona 4

2.6 This verse is a later addition. It is 9.200 from Rājataranginī of Kalhaņa.

['NK.' follows generally D1, K2, Mss. of B. O. R. I. Edition]

'NK.' refers to Bṛhaspati and others as writers on 'Rājanīti' but does not give any detailed history or tradițion of Nītiśāśtra. 'Śukranīti' records the same as follows:--

' प्रणम्य जगदाधारं सर्गास्थित्यन्तकारणम् । संपूज्य भागवः पृष्टो वन्दितः पूजितस्तुतः ॥ पूर्वदेवैर्यथान्यायं नीतिसारमुवाच तान् । शतलक्षश्लोकमितं नीतिशास्त्रमथोक्तवान् ॥ स्वयंसूर्भगवाँहोकहितार्थे संग्रहेण वै । तत्सारं तु वशिष्टावैरस्मामिर्दाद्विहेतवे ॥ अल्पायुर्स्भृदायर्थे संक्षिप्तं तर्कविस्तुतम् । क्रियेकदेशबोधीनि शास्त्राण्यन्यानि सन्ति हि '॥ Bhoja's 'Yuktikalpataru ' (page 2) writes:--'नीतिर्वृहस्पतिघोक्ता तथैवोशनसी परा । उभयोरविरुद्धाव निरूपा नीतिरुत्तमा '॥

Vātsyāyana Kāmasūtra states:--

'वजापतिर्हि बजाः सृद्धा तासां स्थितिनिबन्धनं विवर्गस्य शासनमध्यान्तं शतसहस्रे-णाग्ने प्रोवाच तस्यैकदेशं स्वायम्भ्रवो मनुर्धर्माधिकारिकं पृथक्चकार, गृहस्पतिरर्थाधिका-रिकामिति ।

Kautilīya Arthaśāśtra records four schools of writers on Rājanīti. They are (1) Brhaspati (2) Uśanas, (3) Manu and (4) Kautilya.

Kāmandakīya Nītiśāra records the same tradition.

| $V_{\bullet} 2 = 5.27 \cdot 2$ | 13=5.27.14 |
|--------------------------------|------------|
| 3 = 5.27.3 | 14=5.27.21 |
| 4=5.27.5 | 15=5.27.25 |
| 5=5.27.6 | 16=5.27.26 |
| 6 = 5.27.7 | 17=5.27.27 |
| 7=5.27.8 | 18=5.27.28 |
| 8 = 5.27.9 | 19=5.28.1 |
| 9=5.27.10 | 20=5.28.2 |
| 10=5.27.11 | 21=5.28.4 |
| 11 = 5.27.12 | 22=5.28.5 |
| 12=5.27.13 | 23=5.28.8 |
| | (5) |

V. 2: A quotation from Yājñavalkya

V. 3:— This verse is to be found with a slight variation in Pañcatantra Mitrabheda story (V. 108, page 21. Nirnaya-Sagara edition).

V. 4 = Mannusmrti 7.147

(6)

P. 17 line 13:— Sūtrakāra referred to here is Brahmasutrakāra; and the sūtra quoted is 3.1.1.

(7)

The various stories common to NK. and BK. are listed seperately.

STORIES FROM BRHATKATHĀ

| No. Name of the story | Serial No. in NK. | Serial No. in KSS. |
|----------------------------------|-------------------|--|
| I मकराख्यानम् | 7 | शक्तियशोलम्बके |
| | ' { | आदितः षष्टितमे तरङ्गे |
| 2 भेरी-गोमायु-कथा | 10 | ,, |
| 3 वकमकरयोः कथा | 11 | " 17 |
| 4 सिंहशशकयोः कथा | 12 | " |
| ९ यूका-दंश-कथा | 13 | • |
| 6 सिंहोष्ट्रयोः कथा | 14 | " |
| 7 इंसयोः कूर्मस्य च कथा | 15 | ,, |
| ⁸ वानरसूचीम्रखयोः कथा | 16 | ,, |
| ९ धर्मबुद्धेदृष्टबुद्धेश्च कथा | 17 | ,, |
| 10 बकसर्पयोः कथा | 18 | • |
| II विजयस्ताले हित्लायाश्च कथा | 19 | ,, |
| 12 राजबुद्धिवर्णनम् | 20 | >> . |
| 13 राजबुद्धिसङ्मताकथनम् | 21 | > 1 |
| 14 राजबुद्धिबलकथनम् | 22 | > |
| 15 स्त्रीरक्षा प्रकारकथनम् | 24 | एकषाष्टितमे तरङ्गे |
| 16 स्त्रीदुश्चरित्रकथनम् | 25 | ,, |
| 17 गृहदासी दुश्वरित्रकथनम् | 26 | " |
| 18 सदाचारपालनास्यम् | 27 | 27 |
| 19 घटकर्परयोः कथा | 28 | चतुःषष्टितमे तरङ्गे |
| 20 मित्रविशेषम् | 29 | एकषाष्टितमे तरङ्गे |
| 21 अगुरुदाहकाख्यमूर्खकथनाभिध | | · • • • • • • • • • • • • • • • • • • • |
| 22 तिलकार्षिकाख्यम्रर्खकुसम् | 43 | ,, |
| 23 नासारोपकारूपमूर्वकुसमम् | 44 | " |
| 24 त्लिकाल्यमूर्खाभिधम् | 45 | , |
| 25 मन्त्रिमूर्खाभिधानम् | 46 |) , |
| 26 लवणाशिमूर्वाभिधम् | 47 | > 1 |
| 27 गोदोहिमुर्खाभिधम् | 48 | ,, |
| 28 ग्राम्यमुर्वाभिधम् | 49 | , , , , , , , , , , , , , , , , , , , |
| 29 धनमूर्वकुग्रमम् | So | " |

| No. Name of the story | Serial No. in NK. | Serial No. in KSS. |
|---|-------------------|--------------------|
| 30 अर्थमूर्जाभिधम् | 51 | 1+ |
| 31 दायभागिनामसूर्वाभिधम् | 52 | ;; . |
| ३२ व्याघातिसूर्खाभिधम् | 53 | ,, |
| 33 धनलोभमुर्खाभिधम् | 54 | " |
| 34 साहसीमूर्खाभिधुम् | 55 | 19 |
| 35 राजसूर्वाभिधम् | 56 | ,, |
| ३६ धनम्रुर्वाभिधम | 57 | 23 |
| 37 मूर्खजनमसाफल्याभिधम् | 58 | ,, |
| 38 म्हप्रभुकथनाभिषम् | 59 | 11 |
| 39 संख्याविश्रमराजमूर्खाभिधम् | 60 | ,, |
| 40 स्ववश्वक्रमुखाभिधम् | 61 | 12 |
| 41 उच्छिष्टक्षन्युर्वाभिषम् | 62 | 11 |
| 42 विलासिम्दर्शाभिधम् | 63 | ,. |
| 43 हृदयस्फोटिमुर्खाभिधम् | 64 | दिपादितमे तरके |
| 44 मूर्वशेखराभिधम् | 65 | 1) |
| 45 कदर्यमुखाभिधम् | 66 | पश्चपटितमे तरके |
| 46 जलरोधकम्र्साभिधम् | 67 | 71 |
| 47 सामिकारिम्र्याभिधम् | 68 | दिषष्टितमे तरके |
| 48 असंतोषिसुर्खाभिधम् | 69 | . 97 |
| 49 अपूरमूर्वाभिधम् | 70 | . >> |
| 50 पतियन्त्ररक्षकम्यांभिधम् | 71 | , ,, |
| ८ चकाह्ममुखाभिषम् | 72 |) ; |
| 52 पणपूर्वक्रनम्स्याभिधम् | 73 | ,,, |
| 53 कीनाशम्याभिधम् | 74 | त्रिवधितमे तरक्ने |
| 54 अन्योन्यविद्वेषिम्र्याभिधम् | 75 | , , |
| 55 अवशेषज्ञम् खीभिधम् | 76 | , , |
| 56 तण्डुलमक्षकम्याभिधम् | 77 | >) |
| 57 केवलोपमिसर्खाभिधम् | 78 | ,, |
| 58 केवलतर्कि म् खाभिषम् | 79 | " |
| 59 साहसिकमूर्साभिषम् | 80 | 40 |
| 60 स्वस्वीयपातककारिम्र्खनिस्वण | | ** |
| (-) (1 - - - - - - - - | 174 04 | 17 |

V. 1 to 18 are 5.33.85 to 102 and V. 19 to 55 and = 5.34.6 to 42 in order. V. 55 to 85=5.34.45 to 74

Vs. 102 and 103 are not included in C.E. but are given in notes.

Vs. 104 to
$$118 = 5.35.49$$
 to 65
119 to $122 = 5.36.5$ to 8
123 to $128 = 5.36.11$ to 16
129 & $130 = 5.36.20$ & 21
131 to $139 = 5.36.22$ to 32
140 to $152 = 5.36.34$ to 46
153 to $159 = 5.36.50$ to 56
160 to $163 = 5.36.58$ to 61
164 & $165 = 5.36.64$ & 65
166 to $169 = 5.37.14$ to 17

NK. and KSS. have hundreds of lines in common. Here is a short specimen pointing out such common lines.

V. 2 ab =
$$\frac{9 \text{ cd}}{\text{Page 309}}$$
 (from KSS. Nirnayasāgara new edition).

(17)

The names of the persons in the KSS. & BKM. versions differ. They are दुष्टबुद्धिः and धर्मबुद्धिः in KSS. and अबुद्धिः and धर्मबुद्धिः in BKM. whereas in NK. only one is named as च्छित्रमतिः or च्छित्रधीः; But the caption of the section suggests that these names might have been दुष्टबुद्धिः and सुबुद्धिः।

(25)

This and other stories from Vetāla section of Brhatkathā have been tabulated here.

STORIES FROM VETALAPANCAVIMSATIH

| No. Name of the story | Serial No. in NK. | Serial No. in KSS. |
|-----------------------------------|-------------------|-------------------------------|
| I स्त्रीदृश्वरित्रकथनं कुसुमम् | 25 | ह तीयो वे ता लः |
| 2 खामिभृत्यानुद्धल्यप्राज्ञधीकथनम | 3 t | चतुर्थो वेतालः |
| 3 म्यायधीपरीक्षाभिधानम् | 32 | पश्चमी वेतालः |
| 4 सूक्ष्मघीवर्णनाभिधम् | 33 | पष्टो वेतालः |
| 5 सत्यप्रतिज्ञाफलकथनम् | 34 | दशमो वेतालः |
| 6 म(न्त्रनेषुण्यकथनाभिधानम् | 35 | त्रयोदशी वेतालः |
| 7 प्रजासर्गराजसर्गकथनामिषम् | 35A | सप्तदशो वेतालः |
| 8 अस्थानोपदेशकथनाभिषम् | 36 | अष्टादशो वेतालः |
| 9 धर्मविचाराभिधर्म | 37 | एकोनविज्ञो बेतालः |
| 10 विधिवक्रतायां गुणार्जनवैकल्यकः | प्र नम् 38 | द्राधिशो वेतालः |
| II सुक्षमधर्मिश्वारणा्ख्यम् | 39 | प्रथमो वेतालः |
| | (41) | |

The author has freely quoted from Mahabharata to illustrate who is a fool and how he behaves.

| $V_{\bullet} r = 5.36.18$ | 8=5.38.39 |
|---------------------------|---------------------------|
| 2 = 5.56.19 | 9=5.38.40 |
| 3=5.37.43 | 10=5.38.42 |
| 4=5.38.3t | 11=5.39.2 |
| 5 = 5.38.32 | Vs. 12 to 17=5.39.9 to 14 |
| 6=5.38.36 | V. 18 = 5.35.39 |
| 7=5.38.37 | V. 19=5.35.40 |

(82)

तथा च गीतं stands for भगवद्गीता XVI 21.

Vs. 2 to 10 are quotations from Manusmrti Adhyāya 7, ślokas 45 to 53.

Vs. 11 and 12 = Manu 6.91 and 92.

(83)

V. 1 = Yājñavalkya 1.3.

भारतीन्दुरझांकार appears to be a digest of philosophies which has not as yet been found.

(84)

— The eighteen Dosas according to Jain philosophy are (1) जन्म (2) जरा (3) पिपासा (4) श्चत् (5) विस्मय (6) अरति (7) सेद (8) राग (9) द्वेष (10) शोक (11) मद (12) मोह (13) भय (14) निद्रा (15) चिन्ता (16) स्वेद (17) आतङ्क (18) अन्तक.

There are in all five verses from Prabodhacandrodaya of Kṛṣṇa-miśra. Vs. 21 to 25 = Act II verses 1, 3, 4, 19 & 21. resp.

(85)

The famous 'Sanatsujātīya' is reproduced here to expound the Adhyātma-Śāśtra.

Vs. 1 to 5 = 5.42.2, 3, 5 and 6.

Vs. 6 to 9=5.42.10 to 13.

V. 11 = a verse from Hastāmalaka-stotra.

(86)

V. 3 = भगवद्गीता VIII 6.

The portion attributed to Patañjali is not found in Patañjala yoga-sutras. This seems to be a metrical work on Patañjala-yoga.

V. 9 = 5.43.1 from C. E.

(87)

V. 2=5.33.48

3=5.33.47

5=5.33.45

Vs. 6 to 10=5.33. 50 to 54

11=5.33.49

12= not included in C. E.

(88)

V. 1=5.33.43

(89)

V. 1=5.33.42

V. 2=5.33.44

(90)

V. 1 = Raghuvamsa IV. 12. V. 2 = Manusmrti 7.54. V. 9 & 10 = 5.37. 20 and 21.

(95)

The author has quoted from Brhatsamhita extensively. He has, many a time, not even mentioned the source though he has incorporated the material adverbatim from Brhatsamhita of Varahamihira.

Vs. 3 10 13=78. 1 to 11 (Pandita V. Subrahmanya-Sastri and M. Ramakrishna Bhat—edition).

Parāśara, Mārkaņdeya and Bhārgava are cited as writers on Hastilakşaņa and Hastisikṣā.

The word stor is used throughout in Ms in place of suz.

V. I = अद्धा = तत्त्वतः; स्यायः 4.2. 49.

V. 2 = Bs. 66.1

In this section NK. follows Asvacikitsita of Nakula and Salihotra.

Please add the following two lines before verse No. 8 on page 189.

' असुपातहत्त्रगण्डहृद्गलयोथशङ्खकटिवस्तुनातुः । सुष्तु नाभिककुद्दे तथा सदे सम्यकुक्षिचरणे तथासुमाः ॥

V. 29=Bs. 67.10 V. 30=Bs. 94.1

Vs. 31 to 38 = Bs. 94.7 to 14.

V. 17 = Yuktikalpataru.

V. 18= ,,

V. 19 = Salihotra. 1; Aśvacikitsita 3.2

V. 20 = This verse is not found in Śālihotra and Aśvacikitsita as well.

V. 21 = Sali 2; follows Asva rather than Salihotra 3.5.

V. 22= Śāli 3; Aśva 3.6 same as above.

V. 23 = Not found in these works.

V. 24 = Śāli 5; Aśva 3.9 same as above.

V. 25 = Śali 6; Aśva 3.10 same as above.

V. 26 = Not found in these two works.

V. 27 = ,,

V. 28 = Śāli 7; Aśva 3.13 it reads differently; Śāli has सर्वेकल्याण-कारक: whereas Aśva has सर्वेकल्याणस्त्र सः।

V. 29 = Yuktikalpataru;

278

Notes

V. 30= Yuktikalpataru has a similar verse :-
यस्योग्रहण्टतरा वर्णा दृद्धि यान्त्रि शनैः शनैः ।

नाश्यन्ति तथा नीचान्करोति स बहुन्हयान् ॥

V. 32 = Śāli 11, Aśva 4.9.

The fourth pada reads differently as वाजिन्निकसः परम । altogether different and opposite in meaning.

V. 33 = Śali 12, Aśva 4.10.

Follows Asva. rather then Sali. But the word अयावते in c. is replaced by बदाबर्त ; Sali has ज्यावते.

V. 34 = Not found in these two works.

V. 35 = Sali 14; Asva 4.15 having महा and मण्डा for रोमा in a;

V. $36^{ab} = \text{Śāli. } 15^{ab}$; Aśva 4.16**.

V. 37 = Śali 16; Aśva 4.17; follows Aśva.

V. 38 = Sali 17; Asva 4.18 d differs in NK.

V. 39 = Sali 18; Asva 4.19. b differs in NK.

Sali, reads यस्याश्वस्य प्रजायते and Asva has एकोऽश्वस्य प्रजायते ; similarly d is also different. Sali and Asva have चिनिततार्थविवृद्धिः।

V. 40 = Not found in these two works.

V. 41 = Šāli 20; Aśva 4.23 follows Aśva.

V. 42 = Yuktikalpataru.

V.43 = ,,

 $V_{-44} = ,,$

 $V_{.45} = ,$

V. 46 = Though specifically attributed to Varahācārya it is not found in BS.

V. 47 = Vararuci is quoted as an authority on Aśvaśāstra. No such work, attributed to Vararuci, has come to light so far.

V. 48 to 51 = These verses are attributed to Varahacarya but they are not found in the printed edition.

V. 52 = Sukranīti 4.7.133
53 = ,, 4.7.134 & 4.7.135

The lines inter-change their positions in Sukranīti.

54= ,, 4.7.129

55= ,, 4.7.130 & 131

These verses are attributed to Bhārgava. The lines sometimes change their places in Śukranīti.

$$V. 62 = Bs. 66.5$$
.

V. 8 = Bs, 72.5 V. 9 = Bs. 72.6

The staff of Camara is described in Bs. by these verses, whereas NK quotes them to describe the staff of royal parasole.

(100)

V. 1 = Bs. 72.1

4=72.3 d is different, it reads:—
ररनेस्तथा नाज मतश्र्व वेणुः। for
ररनेश्र्व सर्वेश्र्व हिताय राजाम्। in Bs.

As NK. further comments on its variant reading at Hasa de: I we have to admit this as one of the genuine readings though it differs from the printed edition.

म्रानिमतम् referred to in this section refers to the opinion of Varāhācārya.

V. 5 = Bs. 72.4 : A slight variation in d.

It reads भवन्ति दण्डाः। for हिताय दण्डाः। as in original.

(101)

(102)

The title of this section is rather misleading. It should be

(105)

The sage Parāśara is quoted as an authority over precious stones. King Bhoja also admits Parāśara as an authority in his Yuktikalpataru.

(106)

(107)

V. 3 = BS. 83.1 The word कदली replaces सहशम in a.

(108)

Garga is cited as an authority over swords and some verses are quoted from Gargasamhitā.

V.
$$3 = Bs$$
. 50.8
 $19 = ...$ 50.9
 $20 = ...$ 50.16
 $21 = ...$ 50.17
 $22 = ...$ 50.18
 $23 = ...$ 50.19
24 = Bs. 50.20
 $25 = ...$ 50.5
 $26 = ...$ 50.6
 $28 = ...$ 50.23
 $29 = ...$ 50.24
 $30 = ...$ 50.25
(111)

The topic of this section has been already discussed in the second section. It has been included here, it seems, to emphasize the point that the king should employ such persons as are capable of surmounting the obstacles created by fate by having recourse to their own valour.

(112)

The inclusion of a complete section on marks or signs on the body of a person shows the anxiety of the author to include every branch of knowledge which would enable the king to behave properly with every type of person. The king is not likely to be deluded by outword or put up appearances (which unfortunately is the age-old practice of the court-people) if he has an insight into the science of interpretation of marks on body:

282 Notes

In this section NK. relies chiefly on Bs. and Samudra.

V. 21 = Bs. 68.5

34=,, 68.76 only one pada.

48= Though attributed to Varaha this verse is not found in Bs.

V. 133 = Refers to king Bhoja as an authority on this science also,

(112 A)

V. 3 = Bs, 52.9

(112 B)

(113)

Selection of the right type of men as friends, guide and counsel has been already discussed in the second section wherein it is told that the king should realise that co-operation is the only way of achieving the objectives. Not only the subject matter but many verses also, are repeated without serving any useful purpose.

(116)

द्त is expected to be an expert in the language of the country in which he has to work (देशमानाविज्ञानदः।)

(126)

The information about cooking is supplied here perhaps with an intention to enable the king to protect himself against any tricks which might be played by the cook when he is bribed by the enemies of the king.

V.
$$17 = Bs. 77.1$$
 V. $26 = Bs. 76.3$
 $18 = ..., 77.2$
 $27 = ..., 76.4$
 $19 = ..., 77.3$
 $28 = ..., 76.5$
 $20 = ..., 77.4$
 $29 = ..., 76.1$
 $21 = ..., 77.31$
 $30 = ..., 76.7$
 $22 = ..., 77.32$
 $31 = ..., 76.8$
 $23 = ..., 77.33$
 $32 = ..., 76.9$
 $24 = ..., 77.35$
 $33 = ..., 76.10$
 $34 = ..., 76.11$

V. I = Bs. 62.I

$$V. 2 = Bs. 62$$

The description of 空電電話 is entirely taken from Bs. section 89. (138)

The employment of the foreigners in the state-service is always a vexing problem. NK sounds a note of caution by saying.

' शृत्या विधेया एव परन्तु विश्वासास्पदं न नेतन्या इति '। Rulers of all times should bear in mind this sane advice.

IMPORTANTS WORDS

अभिज्ञवाक्यम् 23, 175.

आचार्याः 194.

उज्ञना 193.

उक्तम् 17, 22.

कापालिकमतम् 159.

गर्गः 210.

गीतम् 154, 167.

चार्वाकमतम् 158.

जैनमतम् 158,

निवर्शितम् 71.

निर्तिशास्त्रम् 15.

पतस्त्रान्तिः 167.

परद्यरामः 214, 248.

पराज्ञार: 184, 189, 202,

प्रामाणिकाः 1.

SEET: 214, 248, 266.

बोद्धमतम् 158.

मनस्यतिः 15, 159, 161, 175, 176.

महाभारतम् 122

(1) द्वर्योधनः 1.

(2) धतराष्ट्रः 7, 8, 161, 168, 169.

(3) सुधिष्टिरः 9, 13.

(4) बिदुर: 22, 41, 46, 124, 176, 248. | इस्तामलकस्तोत्रम् 163.

(5) बैद्यास्पायनः 91.

(6) ज्यास: 31, 32, 161, 169.

(7) ज्ञालय: 176, 9.

(8) संजयः 7, 10.

(9) सनत्स्रजातः 162, 168.

(10) सभन्या 176.

मार्कण्डेयः 173, 184, 205, 206, 280,

263.

मार्गवः 185, 194.

मारतीनुपुरझांकारे, 157, 158, 163, 165,

याज्ञबल्क्यः 15, 156.

राजतराङ्गणी 8.

लौकिकाः 32.

बरकाचिः 192.

बराह: or बराहान्वार्य: 181, 182, 186,

192, 197, 199, 202, 203, 205,

208, 209, 210, 211, 217, 219,

220, 260.

ਦਸਤ: 220 222, 226, 233.

स्रालिशैली 1, 10, 16.

स्विकटाहास्यन्यायः ३,

सञकारः 17. ज्ञालिहोम: 189.

ABBREVIATIONS

Aśva = Aśvacikitsita of Nakula published as an appendix to Salihotra of Bhoja by Deccan College, Poona 6.

Bs. = Brhatsamhita of Varahamihira.

Bkm. = Brhatkathāmañjarī of Kşemendra.

C. E. = Critical Edition of Mahabharata published by B.O.R.I. Poona 4.

Kss. = Kathāsaritsāgara of Somadeva.

Nk. = Nitikalpataru.

Śāli. = Śālihotra ef Bhoja. Deccan College edition.

Yk. = Yuktikalpataru of Bhoja.

SUGGESTED READINGS

| Pag | ge Line | Corrupt Reading | Suggested Reading |
|-----|---------|-------------------------|---|
| 1 | | *'*सार्य | J |
| 2 | 14 | चिद्धान्तां (2) | |
| 2 | 15 | अद्दे। ••• | |
| 3 | 15 | अंशाशिकातो " (a) | जुटोस्नदततु " सक्तोऽमवत्संयमी। |
| 4 | 4 | 934 (a) | * * |
| 4 | . 9 | मतिभि " श | Rlank one |
| 4 | 20 | नार्चीका " रामवत् " | Blank space |
| 5 | 9 | र्बाल्या '' यो '' | र्वाट्याको —— १० |
| 5 | 19 | छत्वे च्छयौ ऽ ' | र्वास्याचो व्रतचार्यहो । कृत्वेच्छयोज्झत्ततुम् । |
| 6 | 15 | इयेप्याद्वता '' (2) | कर्ष च्छ्याज्झत्ततुम् । |
| 7 | 2 | हृष्टपुष्टाजनैः ··· (a) | |
| 18 | 20 | विधेयार्द्रवर्तना " | वियेत प्रवर्तना। |
| 19 | 22 | मयका विचारो " | व्यस्य अवतन् । |
| 19 | 23 | क्रुर्य ''' जीविनः | ·· रेतेरमद्वधनीविनः। |
| 20 | 15 | जलस्यान्तिकमप्सरः | १८ व्यापनातिकाः । |
| 20 | 16 | वा हा कि " | हा हा कि । |
| 32 | 12 | मध्येवासाव " | 4. 4. (4) |
| 42 | I | भमादो ना मिललम् " | Blank space in the words |
| 45 | 18 | बल्यहमित्येक ··· (a) | ar the words |
| 48 | 15 | साधुकारमवाप | |
| 49 | 11 | तोद्धी मां … | Blank space |
| 50 | 9 | वेनस्य | |
| 51 | 18 | भक्षणायास्य " द " | Blank space |
| 52 | 12 | यशुरकेः | 4 ······· |
| 53 | 22 | संताह्यकुधियम् ··· (a) | |
| 54 | 17 | कारुकथेयं (2) | |

Suggested Readings

| | | Corrupt Reading | Suggested Reading |
|------|------|-----------------------------|------------------------|
| Page | Line | - | 1 |
| 55 | 18 | बहुपुत्रकम् *** | |
| 56 | 15 | तक्षातं ः . | तद्वातं। |
| 56 | 19 | निवृत्तोतो ग्रह ात् | निरुतोऽम्रतो ग्रहात । |
| 56 | 21 | यस्यान्तिक्रमाययौ … (2) | |
| 59 | 23 | किंचितक " र्थं " | Blank space |
| 60 | 9 | महर्द्धिवाक्य ··· (a) | |
| 60 | 22 | व्यञ्जयेनु '' | व्यक्तयेऽनुमति तव |
| 6 I | 01 | स्तिर्विनष्टेत्यस्याः " (2) | |
| 63 | 9 | बहासनेनेव · · · (a) | |
| 64 | 21 | कान्तेर्पालुम्पतिका (a) | ė |
| 74 | 7 | समुद्ररत्नसंचया " | ससद्रत्नसंचया |
| 78 | 18 | सम्प्राप्ययेपेणसो " | संप्राप्त्यै वेणेऽसौ । |
| 79 | 21 | परासुंशोकविल्लवाः '' (८) | परासं शोकिबक्कबाः। |
| 8 r | 3 | मठिकापास्यतामेषा '' (2) | |
| 86 | 8 | अम्भोवहेलया •·· (a) | |
| 88 | 13 | प्रेषिपहिग्रहायात " (a) | |
| 91 | 15 | गत्वाभर्यं चर्ये *** | |
| 92 | 16 | भीर्वतु | |
| 95 | 22 | " सत्यं " | Blank space |
| 116 | 13 | तय त्तें | - |
| 126 | 10 | क्षाडयम् ''' | शा ढ पन् |
| 131 | 27 | जीवासि … (2) | |
| 136 | 2 | नदीस्तांततत्र '' | |
| 136 | 4 | हाससापेत " | |
| 136 | 10 | देतेदः | |
| 137 | 4 | दौरिबन्याप्रणयो ··· | |
| 137 | 12 | समदोषाविमोहिनी | |
| 138 | 2 | अभ्यगात | |
| 138 | 3 | ताबन्मोचय— (a) | 7 6 |

| | | Corrupt Reading | Suggested f | Reading |
|-------|------|----------------------------|-------------------------|---|
| Page | Line | | 30 | |
| 138 | II | शान्तरज्ञा | *** | |
| . 138 | 16 | हटा न्येश्र *'' | | |
| 153 | 6 | मवा '' नि | Blank space | |
| 154 | 9 | बारिरोध्यर्थको '' (a) | | |
| 154 | 14 | मयका '' | | 18.3 |
| 157 | 25 | नेहायस्तमिति '' | | |
| 159 | 11 | रक्तांद्यक ते ''' | Blank space | 4 · · · · · · · · · · · · · · · · · · · |
| 159 | 13 | यम्मलं *** | | * |
| 163 | 6 | स्त्यु ''' ष्टमान | Blank space | 4.0 |
| 162 | 18 | समाधेयम् ''' (a) | | 1 |
| 166 | ı | ''' बीक्षतेऽपि | Blank space | |
| 171 | 13 | हतेः ''' पादादिवोदकम् (व | i) | · |
| 175 | 16 | देयते ''' | है या/ये | \$ 4 |
| 183 | 23 | कूटोऽथ शण्डकः (a) | | |
| 185 | 20 | g | Blank space | 1 |
| 187 | I | मृ त्युर्जनः | Blank space | ************************************** |
| 195 | 5 | विरूपासाद्वायुः (a) | | |
| 197 | 5 | स्वान्दो ··· तु ·· (a) | | 1 |
| 197 | 14 | विष्रमान्त्रिणाम् '' (a) | • | • 3.4 |
| 197 | 16 | स्त्रणंक्त्वमोस्भितोमनः | | |
| 198 | 16 | अथवारत्निसमो ''' | रत्निसमोऽथवान्यः। | |
| 199 | 5 | नाष्टाश्रिजा · · · (a) | | |
| 201 | 2 | राजहंतच्छरोत्तरः *** | a. | |
| 201 | 3 | ''' प्ययाफलसुसूषितः '' | | |
| 210 | 18 | त्रणास्यहेष्यवास्थिताः ''' | त्रणा खद्गेष्ट्रवस्थिता | r: I |
| 214 | 2 | पर " व्वेन " | Blank space | |
| 216 | 18 | र्रिसा | | |
| 216 | 2 T | यश्र्वातुष्रुद्धः | | |
| 218 | 3 | दीर्घालिक 1820 | Blank space | |

| | | Corrupt Reading | Suggested Reading |
|------|------|--------------------------|---|
| Page | Line | • | |
| 218 | 7 | स्वामं *** | Blank space |
| 218 | 11 | चादुर्यांय ''' (a) | |
| 218 | | सोचवानमवेत् (६) | |
| 218 | 20 | परागस्य | Blank space |
| 221 | 1 | तिस्रकाः (2) | |
| 221 | 2 | दर्भवाली | |
| 222 | 7 | काठोघी ''' | |
| 222 | 19 | बद्धसुक्तवारि ''' | बहु श्रमस्यापि |
| 222 | 20 | प्रलम्बकपठी ''' | प्रक्रम्बक् एठी बहुश्वस्तिःस्वक्रिपिष्टकम्परः । |
| 230 | 20 | इपमा ''' | Blank space |
| 241 | 6 | स्ट्रताच''' | Blank space |
| 241 | 7 | ''' शुभा ''' | Blank space |
| 241 | 20 | चश्चरेश्ये ''' (८) | |
| 242 | 10 | विरोमार्पेन्दुसंनिभः (2) | |
| 242 | II | अनिश्च ''' घीः | |
| 256 | 8 | योगेन "" | |
| 260 | 5 | मये '' | |
| 260 | 6 | रुज्याच्य ''' | |
| 264 | I | ''' अश्वरक्षायां '' | Blank space |

The sign (a) standing at the end of the corrupt reading indicates that we have adopted that reading after proper consideration though the Ms. reading is not clear. In other places the letters in corrupt readings are quite legible but meaning is not clear and therefore we have suggested new readings. In many cases there is blank space between words and even letters.